ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : प्राकृत ग्रन्थांक–८

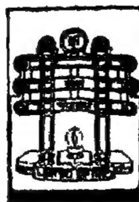
हरिभद्रसूरिविरचितवृत्तिसमन्वित

श्रावकप्रज्ञप्ति (सावयपन्नत्ती)

हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना तथा अनुक्रमणिका सहित

सम्पादन-अनुवाद

पं. बालचन्द्र शास्त्री



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० संवत् २५०७ : वि० संवत् २०३८ : सन् १९८१

प्रथम संस्करण : मूल्य पैंतीस रुपये

स्व. पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें
स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य-ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।



ग्रन्थमाला सम्पादक
सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री
डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन



प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय : बी/४५–४७, कॅनॉट प्लेस, नयी दिल्ली–११०००१
मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–२२१०१०



स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७०, विक्रम सं० २०००, १८ फरवरी १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ : संस्थापना १९४४



मूल प्रेरणा
दिवंगता श्रीमती मूर्तिदेवी जी
मातुश्री श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन



अधिष्ठात्री
दिवंगता श्रीमती रमा जैन
धर्मपत्नी श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ GRANTHAMĀLĀ : Prakrit Grantha No. 18

HARIBHADRASŪRI'S

ŚRĀVAKA PRAJÑAPTI

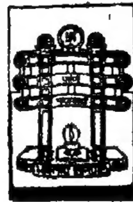
(SĀVAYA PANNATI)

With

Introduction, Hindi Translation and Index of the verses etc.

Edited by

Pt. BAL CHANDRA SHASTRI



BHARATIYA JNANPITH PUBLICATION

VĪRA NIRVĀNA SAṂVAT 2507 : V. SAṂVAT 2038 : A. D. 1981

First Edition : Price Rs. 35/–

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA
MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ
FOUNDED BY

LATE SAHU SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SHRIMATI MURTIDEVI

AND

PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE

LATE SHRIMATI RAMA JAIN

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PURĀṆIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRAṂŚA, HINDI, KANNAḌA, TAMIL, ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES.
ALSO
BEING PUBLISHED ARE
CATALOGUES OF JAINA-BHAṆḌĀRAS, INSCRIPTIONS, STUDIES ON ART AND ARCHITECTURE BY COMPETENT SCHOLARS AND ALSO POPULAR JAINA LITERATURE.

●

General Editors

Siddhantacharya Pt. Kailash Chandra Shastri
Dr. Jyoti Prasad Jain

●

Published by

Bharatiya Jnanpith

Head Office : B/45-47, Connaught Place, New Delhi-110001

●

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000, 18th Feb., 1944

प्रधान सम्पादकीय

सावयपण्णत्ति या श्रावकप्रज्ञप्ति अपने नामके अनुसार श्रावकाचारविषयक प्राचीन रचना है। यह प्राकृत गाथाबद्ध है और उसपर संस्कृत टीका है। न तो मूल ग्रन्थ में और न उसकी टीकामें ग्रन्थकारका तथा टीकाकारका नाम दिया है। फिर भी कुछ उल्लेखोंके आधारपर, जिनका निर्देश प्रस्तावनामें किया गया है, श्रावकप्रज्ञप्तिको आचार्य उमास्वातिको कृति माना जाता है। यह उमास्वाति वही माने जाते हैं जिनकी कृति तत्त्वार्थसूत्र पाठभेदोंके साथ दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंमें मान्य है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें वर्णित श्रावकाचार ही विस्तारसे इस ग्रन्थमें भी वर्णित है फिर भी दोनों कृतियोंका एककर्तृक होना सन्दिग्ध है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि श्रावकप्रज्ञप्तिका आधार तत्त्वार्थसूत्रका सातवाँ अध्याय होना चाहिए। सम्यग्दर्शन, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत तथा अन्तमें समाधिमरण यह पूर्ण श्रावकाचार समस्त जैन परम्पराको मान्य है। तत्त्वार्थसूत्रमें तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंको गुणव्रत और शिक्षाव्रतके रूपमें विभाजित न करके सातोंका निर्देश व्रतरूपमें किया है। किन्तु श्रावकप्रज्ञप्तिमे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके रूपमें उनका कथन किया है। तथा प्रथम दिग्व्रतके पश्चात् भोगोपभोगपरिमाण व्रतका कथन गुणव्रतोंमें और देशव्रतका कथन भोगोपभोगपरिमाण व्रतके स्थानमें शिक्षाव्रतोंमें किया है। यह दोनोंमें अन्तर है। स्व. पं. सुखलालजीने अपने तत्त्वार्थसूत्रके विवेचनके पाद टिप्पण में लिखा है—

'सामान्यतः भगवान् महावीरकी समग्र परम्परामें अणुव्रतोंकी पाँच संख्या, उनके नाम तथा क्रममें कुछ भी अन्तर नहीं है। परन्तु उत्तरगुणरूपमें माने हुए श्रावकके व्रतोंके बारेमें प्राचीन तथा नवीन अनेक परम्पराएँ हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ऐसी दो परम्पराएँ देखी जाती हैं—पहली तत्त्वार्थसूत्रकी और दूसरी जैनागमादि अन्य ग्रन्थोंकी। पहलीमें दिग्विरमणके बाद उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतको न गिनाकर देशविरमणव्रतको गिनाया है। दूसरीमें दिग्विरमणके बाद उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत गिनाया है तथा देशविरमणव्रत सामायिकके बाद गिनाया है।'

पण्डितजीके उक्त कथनके प्रकाशमें यह स्पष्ट है कि श्रावकप्रज्ञप्तिकी रचना श्वेताम्बरमान्य आगमोंके अनुसार की गयी है अतः उसके रचयिता तत्त्वार्थसूत्रकारसे भिन्न होना चाहिए। दोनों कृतियोंमें भाषाभेद तो है ही। तत्त्वार्थसूत्रके श्वेताम्बरमान्य पाठपर जो भाष्य है—जिसे सूत्रकारकृत माना जाता है उसके अन्तमे कर्ताकी विस्तृत प्रशस्ति पायी जाती है किन्तु श्रावक प्रज्ञप्तिमें कर्ताका नाम तक नहीं है।

श्रावकप्रज्ञप्ति (गा. १०७) में स्थूल प्राणिवधके दो भेद किये हैं—संकल्पसे और आरम्भसे। उनमेंसे प्रथम अणुव्रतका धारक श्रावक संकल्पसे ही त्याग करता है, आरम्भसे नहीं। इस प्रकारका भेद तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओंमें उपलब्ध नहीं होता। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें प्रथम अणुव्रतीको संकल्पी हिंसाका त्यागी अवश्य कहा है। अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें हिंसाके दो भेद किये हैं—आरम्भी और अनारम्भी। तथा लिखा है, जो घरवाससे निवृत्त है वह दोनों प्रकारकी हिंसाका त्याग करता है किन्तु जो गृहवासी है वह आरम्भी हिंसा नहीं छोड़ सकता।

अतः श्रावक प्रज्ञप्ति उत्तरकाल की रचना होनी चाहिए।

श्रावक प्रज्ञप्तिकी कई चर्चाएँ पं. आशाधरके सागारधर्मामृतमें मिलती हैं और ये चर्चाएँ हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रमें भी हैं। योगशास्त्र पं. आशाधरके सामने था यह तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है, अतः आशाधरने श्रावकप्रज्ञप्तिको भी देखा हो यह असम्भव नहीं है।

श्रावकप्रज्ञप्तिकी चर्चाएँ मननीय हैं। वह श्रावकाचारका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और उसमें ऐसी भी अनेक चर्चाएँ हैं जो दिगम्बर श्रावकाचारोंमें नहीं पायी जाती। प्रस्तावनामें पं. बालचन्द्रजीने उनका कथन किया है।

१. गा. ७२ में जिनका संसार अर्धपुद्गलपरावर्त मात्र शेष रहा है उन्हें शुक्लपाक्षिक और शेषको कृष्णपाक्षिक कहा है।

२. गाथा ७७ की टीकामें तीर्थंकरोंको भी स्त्रीलिंगसे सिद्ध हुआ कहा है किन्तु प्रत्येकबुद्धोंको पुल्लिंगी ही कहा है। अनुवादमें यह अंश छूट गया है।

३. कर्म और जीवमें कौन बलवान् है इसका निरूपण करते हुए कहा है—

कत्थइ जीवो बलियो कत्थइ कम्माइ हुंति बलियाइं।
जम्हा णंता सिद्धा चिट्ठंति भवम्मि वि अणंता ॥१०१॥

यदि कहीं जीव बलवान् है तो कहींपर कर्म बलवान् है। क्योंकि अनन्त जीव सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं और अनन्त जीव संसारमें वर्तमान हैं।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके कथनसे जिसमें केवल कर्मकी बलवत्ता बतलायी है, उक्त कथन अधिक संगत प्रतीत होता है।

४. अहिंसाणुव्रतके सम्बन्धमें शंका-समाधानपूर्वक जो विवेचन किया गया है वह महत्त्वपूर्ण है। उसी की कुछ झलक पुरुषार्थसिद्ध्युपायके अहिंसावर्णनमें पायी जाती है। वह वर्णन गाथा १०७ से २५९ तक है। इसमें एक शंका यह की गयी है कि आत्मा तो नित्य है उसका विनाश होता नहीं तब अहिंसाव्रत निरर्थक क्यों नहीं है। इसके उत्तर में कहा है—

तप्पज्जायविणासो दुक्खुप्पाओ अ संकिलेसो य।
एस वहो जिण भणिओ वज्जेयव्वो पयत्तेण ॥१९१॥

इसी गाथाकी छाया सागारधर्मामृतके नीचे लिखे श्लोकमें है—

दुःखमुत्पद्यते जन्तोर्मनः संक्लिश्यतेऽस्यते।
तत्पर्यायश्च यस्यां सा हिंसा हेया प्रयत्नतः ॥४-१३॥

जिसमें जीवको दुःख होता है, उसके मनमें संक्लेश होता है और उसकी वह पर्याय नष्ट हो जाती है, उस हिंसा को प्रयत्न करके छोड़ना चाहिए।

अहिंसा पालन के लिए—

पडिसुद्धजलग्गहणं दारुय धन्नाइयाण तह चेव।
गहियाण वि परिभोगो विहीइ तसरक्खणट्ठाए ॥२५९॥

त्रस जीवोंकी रक्षाके लिए वस्त्रसे छाना त्रस रहित शुद्ध जल ग्रहण करना चाहिए। उसी प्रकार ईंधन और धान्य आदि भी जन्तुरहित लेना चाहिए। तथा गृहीत जलादिका भी उपभोग विधिपूर्वक करना चाहिए। इसमें पाँचवें अणुव्रतका नाम इच्छापरिमाण दिया है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भी यह नाम आता है। गुणव्रतों से लाभ बतलाते हुए रत्नकरण्डमें भी श्रावकको 'तप्तायोगोलकल्प' कहा है। इसमें भी 'तत्तायणोलकप्पो' पद दिया है।

५. उपभोगपरिभोगपरिमाणका कथन करते हुए इसमें उनके दो भेद किये हैं—भोजन और कर्म। तथा उन दोनोंके अतिचार अलग-अलग कहे हैं। भोजन सम्बन्धी उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत के तो वही अतिचार हैं जो तत्वार्थसूत्रमें सचित्तआहार आदि कहे हैं और कर्मविषयक भोगोपभोगपरिमाणके अतिचार वे ही हैं जिनका कथन सागारधर्मामृतके पाँचवें अध्यायमें खरकर्मके अतिचाररूपसे करके उसका निराकरण किया है, अस्तु, ग्रन्थ बहुत उपयोगी है और पं. बालचन्द्रजी सिद्धहस्त अनुवादक हैं। स्वाध्यायप्रेमियोंको इसका स्वाध्याय करना चाहिए।

—कैलाशचन्द्र शास्त्री
—ज्योतिप्रसाद जैन
ग्रन्थमाला सम्पादक

प्रस्तावना

१. प्रति-परिचय

१. अ—यह प्रति श्री ला. द. भा. संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबादकी है। वह हमें श्री पं. दलसुख भाई मालवणियाकी कृपासे प्राप्त हुई थी। उसकी लम्बाई-चौड़ाई १०½ × ४ इंच है। पत्रसंख्या उसकी ५१ है। अन्तिम ५२वाँ पत्र नष्ट हो गया है, जिसके स्थानपर मुद्रित प्रतिके आधारसे लिखकर दूसरा पत्र जोड़ दिया गया दिखता है। इसके प्रत्येक पत्रमें दोनों ओर १५-१५ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्तिमें लगभग ४५-५५ अक्षर हैं। प्रत्येक पत्रके ठीक मध्यमें कुछ स्थान रिक्त रखा गया है। प्रति देखनेमें सुन्दर दिखती है, पर है वह अत्यधिक अशुद्ध। इसके लेखकने उ, ओ, तु और नु; ए, प और य; त्त और न्त, त और न; च्छ, त्थ; च, द और व; भ और स; सु और स्त तथा ट्ट और द्ध इन अक्षरोंको लिखावटमें प्रायः भेद नहीं किया है। इ के स्थानमें बहुधा ए लिखा गया है। आ (ा) और ए (े) मात्राके लिए बहुधा 'ा' इसी मात्राका उपयोग किया गया है। पूर्व समयमें ए की मात्राके लिए विवक्षित वर्णके पीछे 'ा' इसका उपयोग किया जाता रहा है। प्रस्तुत प्रतिमें यह पद्धति आ और ए के लिए अतिशय भ्रान्तिजनक रही है। जैसे—'वाहा' इसे 'वहो' के साथ 'वाहा' भी पढ़ा जा सकता है। यदि इसे 'व ाहा' ऐसा इस रूपमें लिखा जाता तो प्रायः भ्रान्तिके लिए स्थान नहीं रहता। प्रतिमें बीच-बीचमें स्वेच्छापूर्वक लाल स्याहीसे दण्ड (।) दिये गये हैं। बहुधा गाथाके अन्तमें उसके पृथक्करणके लिए न कोई चिह्न दिया गया है और न संख्यांक भी दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश पत्रोंमें बीच-बीचमें प्रायः १-२ पंक्तियाँ लिखनेसे रह गयी हैं। कहीं-कहींपर तो कुछ आगेका और तत्पश्चात् उसके अनन्तर पीछेका पाठ अतिशय अव्यवस्थाके साथ लिखा गया है। (उदाहरणार्थ देखिए गाथा ३२५ के पाठभेद)।

प्रतिका प्रारम्भ '॥६०॥ नमः सिद्धेभ्यः ॥' इस वाक्यके अनन्तर हुआ है। अन्तिम पत्रके नष्ट हो जानेसे उसमें लेखनकाल और लेखकके नाम आदिका निर्देश रहा या नहीं, यह ज्ञात नहीं होता।

२. प—यह प्रति भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनाकी है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई ११ × ४½ इंच है। पत्रसंख्या उसकी २४ (२४वाँ पत्र दूसरी ओर कोरा है) है। इसके पत्रोंमें पंक्तियोंकी संख्या अनियमित है—प्रायः २१-२८ पंक्तियाँ पायी जाती हैं। प्रत्येक पंक्तिमें लगभग ६०-७० अक्षर पाये जाते हैं। कागज पतला होनेसे स्याही कुछ फूट गयी है, इसलिए पढ़नेमें भी कहीं-कहीं कठिनाई होती है। यह भी अशुद्ध है तथा पाठ भी जहाँ-तहाँ कुछ लिखनेसे रह गये हैं, फिर भी पूर्व प्रतिकी अपेक्षा यह कुछ कम अशुद्ध है और पाठ भी कम ही छूटे हैं। गाथाओंके अन्तमें गाथांक प्रायः २४५ (पत्र १५) तक पाये जाते हैं, तत्पश्चात् वे उपलब्ध नहीं होते। जहाँ गाथांक नहीं दिये गये हैं वहाँ गाथाके अन्तमें दो दण्ड (॥) कहींपर दिये गये हैं और कहीं वे नहीं भी दिये गये हैं। इस प्रतिमें एकारकी मात्रा (े) इसी रूपमें दी गयी है, पर कहीं-कहीं उसके लिए अक्षरके पीछे दण्ड (ा) का भी उपयोग किया गया है। 'ओ' को वहाँ 'उे' इस रूपमें लिखा गया है, जबकि पूर्व प्रतिमें उ और ओ दोनोंके लिए 'उ' ही लिखा गया है।

प्रतिका प्रारम्भ '॥ ८० ॥ श्री गुरुभ्यो नमः' इस वाक्यके अनन्तर किया गया है। अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है—॥ इति दिक्प्रदा नाम श्रावकप्रज्ञप्तिटीका ॥ समाप्ता ॥ कृतिः सितपटाचार्य जिनभद्रपादसेवक-

स्याचार्य हरिभद्रस्येति ॥छ॥ ॥ संवत् १५९३ वर्षे लिखितमिदं पुनं वाच्यमानं मुनिवरैश्चिरं जीयात् ॥ ॥छ॥ श्री स्तात् ॥ ॥ श्रीः ॥ ॥

विशेष—हमे खेद है कि इस प्रतिसे पाठभेद ले लेनेपर भी वे प्रस्तुत संस्करणमें दिये नहीं जा सके। कारण यह कि उनकी पाण्डुलिपि स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्येजीके पास कोल्हापुर भेजी गयी थी, पर वह वहाँसे वापस नही मिल सकी।

२. ग्रन्थ-परिचय

जैसा कि मंगलगाथाके पूर्व उसकी उत्थानिकामें टीकाकारके द्वारा सूचित किया गया है, प्रस्तुत ग्रन्थका नाम श्रावकप्रज्ञप्ति (सावयपन्नत्ति) है। यह गाथाबद्ध ग्रन्थ प्राकृत भाषामें रचा गया है। गाथाओंकी समस्त संख्या ४०१ है। इनमें कुछ गाथाएँ प्राचीन ग्रन्थान्तरोंसे लेकर उसी रूपमें यहाँ आत्मसात् की गयी भी दिखती हैं (जैसे—३५-३७, ६८, ११६-१८, २२३, २९९, ३२९ और ३९०-९१ आदि)। जैसा कि ग्रन्थका नाम है, तदनुसार उसमें श्रावकधर्मके परिज्ञापनार्थ बारह प्रकारके श्रावकधर्मकी प्ररूपणा की गयी है। मंगलस्वरूप प्रथम गाथामें ही ग्रन्थकारने यह निर्देश कर दिया है कि मैं प्रकृत ग्रन्थमें गुरुके उपदेशानुसार बारह प्रकारके श्रावकधर्मको कहूँगा। इस बारह प्रकारके धर्मका मूल चूँकि सम्यक्त्व है और उसका सम्बन्ध कर्मसे है, इसीलिए यहाँ सर्वप्रथम संक्षेपमें कर्मका विवेचन करते हुए प्रसंगवश उस सम्यक्त्व और उसके विषयभूत जीवादि तत्त्वोंकी भी प्ररूपणा की गयी है। पश्चात् अणुव्रतादिस्वरूप उस श्रावकधर्मका यथाक्रमसे निरूपण किया गया है। स्थूलप्राणिवधविरतिके प्रसंगमें वहाँ हिंसा-अहिंसाके विषयमें अनेक शंका-समाधानके साथ विस्तारसे विचार किया गया है (१०७-२५९)। सामायिक शिक्षापदके प्रसंगमें एक शंकाके समाधानस्वरूप शिक्षा, गाथा, उपपात, स्थिति, गति, कषाय, बन्धक, वेदक, प्रतिपत्ति और अतिक्रम इन द्वारोंके आश्रयसे साधु और श्रावकके मध्यगत भेदको दिखलाया गया है (२९५-३११)। साथ ही आगे यहाँ श्रावकके निवास, दिनचर्या, यात्रा और संलेखना आदिके विषयमें भी प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ इसके पूर्व संस्कृत टीकाके साथ ज्ञानप्रसारक मण्डल बम्बईसे संवत् १९६१ मे प्रकाशित हो चुका है। उसका केवल संक्षिप्त गुजराती भाषान्तर भी ज्ञानप्रसारक मण्डल बम्बईसे संवत् १९६७ में प्रकाशित हुआ है।

३. ग्रन्थकार

ग्रन्थमें कहीं ग्रन्थकारसे सम्बन्धित कुछ प्रशस्ति आदि नही है, इससे प्रस्तुत ग्रन्थका कर्ता कौन है, यह निर्णय करना कुछ कठिन प्रतीत होता है। जैसा कि ज्ञानप्रसारक मण्डल द्वारा प्रकाशित प्रकृत ग्रन्थके आमुखमें निर्देश किया गया है, ग्रन्थकी कुछ हस्तलिखित प्रतियोंके अन्तमें 'उमास्वाति विरचिता सावयपन्नत्ती संमत्ता' यह वाक्य पाया जाता है[1]। इसके अतिरिक्त पंचाशकके टीकाकार अभयदेव सूरिने 'वाचकतिलकेन श्रीमतोमास्वातिवाचकेन श्रावकप्रज्ञप्तौ सम्यक्त्वादि श्रावकधर्मो विस्तरेणाभिहितः' इस वाक्यके द्वारा वाचक उमास्वातिविरचित श्रावकप्रज्ञप्तिकी सूचना की है। इसी प्रकार धर्मबिन्दु के टीकाकार मुनिचन्द्रने भी वहाँ यह कहा है—**तथा च उमास्वातिवाचकविरचितश्रावकप्रज्ञप्तिसूत्रम्। यथा—अतिथिसंविभागो नाम अतिथयः साधवः, साध्व्यः श्रावकाः श्राविकाश्च, एतेषु गृहमुपागतेषु भक्त्याऽभ्युत्थानासनदान-पाद-प्रमार्जन-नमस्कारादिभिरर्चयित्वा यथाविभव-शक्ति-अन्न-पान-वस्त्रौषधालयादिप्रदानेन संविभागः कार्य इति** (ध. वि टीका ३-१८, पृ. ३५)। इस सबसे वाचक उमास्वातिके द्वारा श्रावकप्रज्ञप्तिके रचे जानेका संकेत मिलता है। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्ति ही वाचक उमास्वातिके

१. देखिए, 'अनेकान्त' वर्ष १८, किरण—१ में पृ. १०—१४ पर 'श्रावकप्रज्ञप्तिका कर्ता कौन?' शीर्षक लेख।

द्वारा रची गयी है। सम्भव है उनके द्वारा संस्कृतमें कोई श्रावकप्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ रचा गया हो और वह वर्तमानमें उपलब्ध न हो। अथवा तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके सातवें अध्यायमें जो श्रावकधर्मकी प्ररूपणा की गयी है उसे ही श्रावकप्रज्ञप्ति समझ लिया गया हो।

प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्तिके उमास्वाति द्वारा रचे जानेमें अनेक बाधक कारण हैं जो इस प्रकार हैं—

१. जैसा कि पाठक पीछे प्रतिपरिचयमें देख चुके हैं, प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्तिकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे पास रही हैं—एक ला. द. भाई भारतीय विद्यासंस्कृति मन्दिर अहमदाबादकी और दूसरी, जिसका लेखनकाल संवत् १५९३ है, भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीटयूट पूनाकी। इन दोनों ही प्रतियोंके आदि-अन्त में कहीं भी मूल ग्रन्थकारके नामका निर्देश नहीं किया गया है (पहली प्रतिका अन्तिम पत्र नष्ट हो गया दिखता है)।

२. धर्मबिन्दुकी टीकामें जिस श्रावकप्रज्ञप्तिके सूत्रको उद्धृत किया गया है वह प्राकृत गाथाबद्ध इस श्रावकप्रज्ञप्तिमें नहीं है। इतना ही नहीं, उस सूत्रमें जो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाको अतिथि कहा गया है वह मूल श्रावकप्रज्ञप्तिमें तो सम्भव ही नहीं है; साथ ही वह उसकी हरिभद्रसूरि विरचित टीकामें भी नहीं है। उसकी टीकामें हरिभद्र सूरिके द्वारा ग्रन्थान्तरसे उद्धृत एक श्लोक के द्वारा जो अतिथिका लक्षण प्रकट किया गया है उसके अनुसार तो श्रावक और श्राविकाको अतिथि ही नहीं कहा जा सकता। हाँ, तदनुसार उन्हें अभ्यागत कहा जा सकता है। इस प्रकार धर्मबिन्दुकी टीकागत उक्त उल्लेखसे प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्ति उमास्वातिके द्वारा रची गयी सिद्ध नहीं होती।

३. वाचक उमास्वाति प्रायः सूत्रकार ही रहे दिखते हैं और वह भी संस्कृतमें, न कि प्राकृतमें। प्राकृतमें न उनका कोई अन्य ग्रन्थ उपलब्ध है और न कहीं अन्यत्र वैसा कोई संकेत भी मिलता है।

४. उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके ७वें अध्यायमें जिस श्रावकाचारकी प्ररूपणा की गयी है, उससे इस श्रावकप्रज्ञप्तिमें अनेक मतभेद पाये जाते हैं जो एक ही ग्रन्थकारके द्वारा सम्भव नहीं है। इन मतभेदोंको आगे तुलनात्मक विवेचनमें 'श्रावकप्रज्ञप्ति और तत्त्वार्थाधिगम' शीर्षकके अन्तर्गत देखा जा सकता है। वहाँ उनकी विस्तारसे चर्चा की गयी है।

इस प्रकारका कोई मतभेद उमास्वाति विरचित प्रशमरतिप्रकरणमें देखनेमें नहीं आता। उदाहरणार्थ तत्त्वार्थ सूत्रमें गुणव्रत और शिक्षापदका विभाजन किये बिना जिस प्रकार और जिस क्रमसे दिग्व्रत आदि सात व्रतोंका निर्देश किया गया है उसी प्रकार और उसी क्रमसे उनका निर्देश प्रशमरतिमें भी किया गया है,[1] जब कि प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्तिमें उनका निर्देश गुणव्रत और शिक्षापदके रूपमें भिन्न क्रमसे किया गया है। यथा—

पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च हुंति तिन्नेव।
सिक्खावयाइं चउरो सावगधम्मो दुवालसहा[2] ॥६॥

५. गाथा ३३४ में 'ता कह निज्जुत्तीए' इस प्रकारसे आचार्य भद्रबाहु द्वितीय (५-६ठी शती) विरचित निर्युक्तिका उल्लेख किया गया है जो कि वाचक उमास्वातिके बादकी रचना है।

६. उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थ सूत्रके सातवें अध्यायमें, जहाँ कि श्रावकाचारकी प्ररूपणा की गयी

---

१. स्थूलवधानृत-चौर्य-परस्त्रीरत्यरतिवर्जितः मतक्षम्।
दिग्व्रतमिह देशावकाशिकमनर्थदण्डविरतिं च॥
सामायिकं च कृत्वा पौषधमुपभोगपारिमाण्यं च।
न्यायागतं च कल्प्यं विधिना पात्रेषु विनियोज्यम्॥ प्रशमर. ३०३–४।

२. गुणव्रत और शिक्षापदके विभाजनके लिए देखिए टीकामें गा. २८० और २६२ की उत्थानिका तथा गाथा २८०, २८४, २८६, २९२, ३१८-३१९, ३२१-३२२ और ३२५।

है, श्रावक प्रतिमाओंका कोई निर्देश नहीं किया, जब कि श्रावकप्रज्ञप्ति (३७६) में उनका विशेष करणीयके रूपमें उल्लेख किया गया है।

७. उमास्वातिके समक्ष संलेखनाके विषयमें कुछ मतभेद रहा नहीं दिखता—वहाँ (७-१७) उसे श्रावकके द्वारा ही अनुष्ठेय सूचित किया गया है, जब कि श्रावकप्रज्ञप्ति (३८२-३८४) में तद्विषयक मतभेद देखा जाता है। इस मतभेदस्वरूप वहाँ उस संलेखनामें साधु अधिकृत है यह भाव प्रकट किया गया है।

इन बाधक कारणोंको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्ति वाचक उमास्वातिके द्वारा रची गयी है। इसके विपरीत कुछ ऐसे कारण हैं, जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्वोपज्ञ टीकाके साथ स्वयं हरिभद्र सूरिके द्वारा रची गयी है। वे कारण निम्न प्रकार हैं—

१—हरिभद्र सूरिकी प्रायः यह पद्धति रही है कि वे अभीष्ट ग्रन्थकी रचनाके पूर्वमें यह अभिप्राय व्यक्त करते हैं कि मैं अमुक ग्रन्थको गुरुके उपदेशानुसार रचता हूँ[1]।

तदनुसार प्रकृत श्रावकप्रज्ञप्तिके प्रारम्भमें (गाथा १) भी यही अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि मैं यहाँ बारह प्रकारके श्रावकधर्मको गुरुके उपदेशानुसार कहूँगा।

इसके अतिरिक्त हिंसाजनक होनेसे जिनपूजाका निषेध करनेवालोंके अभिमत, जो उन्होंने निराकरण किया है, वह गुरुके आश्रयसे किया है। यथा—

आह गुरू पूयाए कायवहो होइ जइ वि जिणाणं।
तह वि तई कायव्वा परिणामविसुद्धि हेऊओ ॥३४६॥

पूर्व गाथा ३४५ के साथ यह गाथा समन्तभद्र विरचित स्वयम्भूस्तोत्रके इस पद्यसे कितनी प्रभावित है, यह भी ध्यान देने योग्य है। उससे इसका मिलान कीजिए—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥स्व. स्तो. ५८

हरिभद्र सूरि समन्तभद्रके बाद हुए हैं। वा. उमास्वातिके ऊपर समन्तभद्रका कुछ प्रभाव रहा हो, यह कहना शक्य नहीं दिखता। पर हरिभद्र सूरिके ऊपर उनका प्रभाव अवश्य रहा है—उनके शास्त्रवार्तासमुच्चयके ७वें स्तवमें जो २ और ३ संख्याके अन्तर्गत दो कारिकाएं हैं वे स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा (५९-६०) से वहाँ आत्मसात् की गयी हैं।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्तिकी गाथा १२२ का उत्तरार्ध[2] भी आप्तमीमांसाकी उक्त कारिका[3] ६० से प्रभावित है।

२—कहीं वे प्रकारान्तरसे यह भी कहते हैं कि अमुक विषयको मैं सूत्रनीति—श्रुत या परमागम—के अनुसार कहूँगा[4]।

---

१. सपरुवगारट्ठाए जिणवयणं गुरूवदेसतो णाउं।
बोच्छामि समासेणं पयडत्थं धम्मसंगहणिं ॥ ध. सं. २।
णमिऊण महावीरं जिणपूजाए विहिं पवक्खामि।
संखेवओ महत्थं गुरूवएसाणुसारेणं ॥ पंचाशक १४१।
पंचाशकमें आगे २६५, ५९१ और ६४५ गाथाओं द्वारा भी यही भाव प्रकट किया गया है।

२. खीरविगइपच्चक्खाणे दहियपरिभोगकिरियव्व ॥

३. पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥

४. देखिए पंचाशक गाथा १, ४४५, ६९५, ८४७ और ८९७ तथा षोडशक १६-१६।

३—कहीं वे अपनी प्रामाणिकता व निरभिमानताको व्यक्त करते हुए यह कहते हैं कि यदि यहाँ मेरे द्वारा अज्ञानताके वश कुछ आगमविरुद्ध व्याख्यान किया गया हो तो बहुश्रुत विद्वान् क्षमा करें[1]।

ये दोनों (२-३) विशेषताएँ भी प्रकृत श्रावकप्रज्ञप्तिकी अन्तिम (४०१) गाथामें प्रकट हैं।

४—प्रकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें ऐसी बीसों गाथाएँ हैं जो हरिभद्र सूरि द्वारा विरचित अन्य ग्रन्थोंमें प्रायः उसी क्रमसे उपलब्ध होती हैं। जैसे—धर्मसंग्रहणि, पंचाशकप्रकरण, समराइच्चकहा और श्रावकधर्मप्रकरण आदि। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे उन-उन ग्रन्थोंके साथ श्रावकप्रज्ञप्तिकी तुलना करते हुए किया जानेवाला है, अतः जिज्ञासुजन वहींपर उसे देख लें।

५—हरिभद्र सूरि विरचित पंचाशक प्रकरणकी टीकामें अभयदेव सूरि (१२वीं शती) ने 'पूज्यैरेवोक्तम्' ऐसा निर्देश करते हुए प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्तिकी 'संपत्तदंसणाई' इत्यादि गाथा (२) को उद्धृत किया है। इससे यही प्रतीत होता है कि अभयदेव सूरि इसे हरिभद्रसूरि विरचित मानते रहे हैं।

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि हरिभद्र सूरिके द्वारा रचे गये ग्रन्थोंके अन्तमें किसी न किसी रूपमें 'विरह' शब्दका उपयोग किया गया है जो इस श्रावकप्रज्ञप्तिमें नहीं देखा जाता है। इसके समाधानमें यह कहा जा सकता है कि यद्यपि हरिभद्र सूरिके अधिकांश ग्रन्थोंमें उक्त 'विरह' शब्द अवश्य पाया जाता है, फिर भी उनके 'योगविंशिका' आदि ऐसे भी ग्रन्थ हैं जहाँ उस 'विरह' शब्दका उपयोग नहीं भी हुआ है।

इन कारणोंसे यही प्रतीत होता है कि प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्ति स्वयं हरिभद्रसूरिके द्वारा स्वोपज्ञ टीकाके साथ रची गयी है। उसके ऊपर जो संस्कृत टीका की गयी है वह हरिभद्र सूरिके द्वारा की गयी है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

इसमें यदि कुछ शंकास्पद है तो वह यह है कि प्रकृत श्रावकप्रज्ञप्तिकी टीकामें हरिभद्र सूरिने ग्रन्थकर्ताके लिए कहीं-कहीं 'तत्र चादावेवाचार्यः' (गाथा १ की उत्थानिका) 'इत्ययमप्याचार्यो न हि न शिष्टः' (गाथा १ की टीका), 'अवयवार्थं तु महता प्रपञ्चेन ग्रन्थकार एव वक्ष्यति' (गाथा ६ की टीका), 'भावार्थं तु स्वयमेव वक्ष्यति' (गाथा ६५ की टीका) तथा 'एतत् सर्वमेव प्रतिद्वारं स्वयमेव वक्ष्यति ग्रन्थकारः' (२९५ की टीका) जैसे प्रथम पुरुषके सूचक पदोंका प्रयोग क्यों किया, जब कि वे स्वयं मूल ग्रन्थके भी निर्माता थे। इनके स्थानमें कहींपर वे ऐसे शब्दोंका भी उपयोग कर सकते थे कि जिससे ऐसा प्रतीत होता कि वे स्वयं अपने द्वारा निर्मित ग्रन्थपर टीका कर रहे हैं। पर इसमें कोई विशेष विरोध नहीं दिखता, क्योंकि टीकाकार ग्रन्थकार के रूपमें अन्य पुरुषके सूचक 'आह ग्रन्थकारः' अथवा 'वक्ष्यति' जैसे पदोंका प्रयोग कर सकता है।

४. विषय-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ अपने सावयपन्नत्ती (श्रावकप्रज्ञप्ति) इस नामके अनुसार श्रावकके कर्तव्य-कार्योंका विवेचन करनेवाला है। इसमें समस्त गाथा संख्या ४०१ है। यहाँ ग्रन्थकारने सर्वप्रथम मंगलके रूपमें अर्हन्त परमेष्ठियोंको नमस्कार करते हुए गुरुके उपदेशानुसार बारह प्रकारके श्रावकधर्मके प्ररूपणकी प्रतिज्ञा की है तथा उस धर्मके अधिकारी श्रावकका निरुक्तिके अनुसार यह स्वरूप बतलाया है—संप्राप्तदर्शनादिर्यो यतिजनात् प्रतिदिवसं सामाचारीं शृणोति तं श्रावकं ब्रुवते।' अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि जीव प्रतिदिन मुनिजनके पास सामाचारीको—शिष्ट जनोंके आचारको—सुनता है वह श्रावक कहलाता है। 'संप्राप्तदर्शनादि' पदसे यह

१. यदिहोत्सूत्रमज्ञानाद्‌ व्याख्यातं तद्‌ बहुश्रुतैः।
क्षन्तव्यं कस्य संमोहश्छद्मस्थस्य न जायते॥ नन्दीसूत्रवृत्ति (समाप्ति १)

भाव प्रदर्शित किया गया है कि जिसने सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं किया है ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव श्रावक कहलानेका अधिकारी नहीं है (२)। उक्त सामाचारीके सुननेसे जीवको जिन अपूर्व गुणोंकी प्राप्ति होती है उन गुणोंका भी यहाँ निर्देश कर दिया गया है (३-५)।

वह श्रावकधर्म बारह प्रकारका है—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, और ४ शिक्षापद (या शिक्षाव्रत)। इस श्रावकधर्मका मूल कारण चूँकि क्षायोपशमिकादि तीन भेदरूप सम्यग्दर्शन है, अतः ग्रन्थकारने प्रस्तुत श्रावक-धर्मके निरूपणके पूर्व यहाँ उस सम्यग्दर्शनके निरूपणकी आवश्यकताका अनुभव करते हुए प्रथमतः उससे सम्बद्ध जीव व कर्मके सम्बन्धके निरूपणकी प्रतिज्ञा की है (७-८) व तत्पश्चात् कर्मकी मूल और उत्तर प्रकृतियोंका नामोल्लेख करते हुए उनकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिकी प्ररूपणा की गयी है (९-३०)।

ज्ञानावरणादि आठ कर्म प्रकृतियोंमें मोहनीय कर्म प्रमुख है। उसकी उत्कृष्ट स्थिति—जीवके साथ सम्बद्ध रहनेकी कालमर्यादा—सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण निर्दिष्ट की गयी है। इस उत्कृष्ट कर्मस्थितिमेंसे जब घर्षण-घूर्णनके निमित्तसे—अनेक प्रकारके सुख-दुःखका अनुभवन करनेसे—एक कोड़ाकोड़ी मात्र स्थितिको छोड़कर शेष सब क्षयको प्राप्त हो जाती है तथा अवशिष्ट रही उस एक कोड़ाकोड़ीमें भी जब पल्यके असंख्यातवें भाग मात्र स्थिति और भी क्षयको प्राप्त हो तब इस बीच ग्रन्थि अभिन्नपूर्व रहती है (३१-३२)। जिस प्रकार वृक्षकी ग्रन्थि (गाँठ) अतिशय दुर्भेद्य होती है—कुल्हाड़ी आदिके द्वारा बहुत कष्टके साथ काटी जाती है—उसी प्रकार कर्मोदयवश जीवका जो तीव्र राग-द्वेषस्वरूप परिणाम होता है वह भी उक्त ग्रन्थिके समान ही चूँकि अतिशय दुर्भेद्य होता है इसी कारण उसको 'ग्रन्थि' इस नामसे निर्दिष्ट किया गया है।

भव्य और अभव्यके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। उनमें भव्य जीवोंके यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीनों ही करण सम्भव हैं; पर अभव्यके एक यथाप्रवृत्तकरण ही होता है। करणका अर्थ परिणाम है। जीवका जो परिणाम यथाप्रवृत्त है—अनादिकालसे कर्मक्षपणके लिए प्रवृत्त है—उसका नाम यथाप्रवृत्तकरण है। जिस प्रकार पर्वतीय नदीमें पड़े हुए पाषाणखण्ड उपयोगसे रहित होते हुए भी परस्परके संघर्षण (रगड़) से अनेक प्रकारके आकारमें परिणत हो जाते हैं उसी प्रकार इस यथाप्रवृत्त-करणके द्वारा जीव उक्त प्रकारकी विचित्र कर्म स्थितिवाले हुआ करते हैं। प्रकृत करणके आश्रयसे उत्कृष्ट कर्मस्थितिको क्षीण करते हुए जब वह एक कोड़ाकोड़ी सागरोपममें भी पल्योपमके असंख्यातवें भागसे हीन हो जाती है इस बीच अभिन्नपूर्व ग्रन्थि होती है।

दूसरा अपूर्वकरण परिणाम स्थितिघात व अनुभागघात आदि रूप अपूर्व कार्यको—जो पूर्वमें कभी नहीं हुआ था—किया करता है। वह चूँकि अनादि कालसे अब तक जीवको कभी पूर्वमें नहीं प्राप्त हुआ था, इसीलिए इसे अपूर्वकरण कहा गया है। इस अपूर्वकरण परिणामके द्वारा पूर्वोक्त कर्मग्रन्थिका भेदन होता है। जिसकी निवृत्ति सम्यग्दर्शनके प्राप्त होने तक नहीं होती है उसका नाम अनिवृत्तिकरण है। यह तीसरा करण सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके अभिमुख हुए जीवके ही होता है। ये तीनों ही आत्मपरिणाम उत्तरोत्तर अधिकाधिक विशुद्धिको प्राप्त होते गये हैं। इनमेंसे अभव्य जीवोंके केवल एक यथाप्रवृत्तकरण ही हुआ करता है, शेष दो करण उनके सम्भव नहीं है। इस प्रकार अपूर्वकरणके द्वारा उस कर्मग्रन्थिके विदीर्ण हो जानेपर प्राणीको मोक्षके हेतुभूत उस सम्यग्दर्शनका लाभ होता है और तब वह उत्कृष्ट स्थितियुक्त कर्मको फिर कभी नहीं बाँधता है (३३)।

यहाँ प्रसंगवश यह शंका उपस्थित की गयी है कि जबतक जीवके उस सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं हो जाता है तबतक चूँकि उसके बहुतर बन्ध होनेवाला है, अतएव उसके उस ग्रन्थिस्थान तक कर्मस्थितिकी हीनता आदिका जो निर्देश किया गया है वह सम्भव नहीं है। इस शंकाका तथा इसके ऊपरसे उद्भूत कुछ दूसरी शंकाओंका भी यहाँ अनेक दृष्टान्तोंके आश्रयसे समाधान किया गया है (३४-४२)।

इस प्रकार प्रसंगप्राप्त कर्मके भेद, उनकी उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके साधनोंकी प्ररूपणा करके आगे उस सम्यग्दर्शनके विविध भेदों और उसके अनुमापक उपशम-संवेगादिरूप कुछ बाह्य चिह्नोंकी भी प्ररूपणा की गयी है (४३-५९)। तत्पश्चात् इस सबका उपसंहार करते हुए तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप उस सम्यग्दर्शनके विषयभूत जीवाजीवादि तत्त्वार्थों व उनके भेद-प्रभेदोंका विशदतापूर्वक विवेचन किया गया है (६०-८३)।

प्रकृत सम्यग्दर्शनका परिपालन करते हुए जिन पाँच अतिचारोंका परित्याग करना चाहिए वे ये हैं—१ शंका, २ कांक्षा, ३ विचिकित्सा, ४ परपाषण्डप्रशंसा और ५ परपाषण्डसंस्तव। यहाँ प्रसंगप्राप्त इन अतिचारोंके स्वरूप, उनकी अतिचारता और उनसे आविर्भूत होनेवाले पारलौकिक व ऐहिक दोषोंका भी दिग्दर्शन कराया गया है। ऐहिक दोषोंका कथन करते हुए यहाँ क्रमसे ये उदाहरण भी दिये गये हैं—१ पेयापेय (दो श्रेष्ठिपुत्र), २ राजामात्य, ३ विद्यासाधक श्रावक व श्रावक-पुत्री, ४ चाणक्य और सौराष्ट्र श्रावक (८६-९३)। गाथा ८६ में प्रयुक्त 'आदि' शब्दसे यहाँ इनके अतिरिक्त अन्य अतिचारोंकी भी सम्भावना प्रकट की गयी है। यथा—साधर्मिकानुपबृंहण और साधर्मिक-अस्थितीकरण आदि (९४-९५)।

सातिचार सम्यग्दर्शन चूँकि मुक्तिका साधक नहीं हो सकता है, अतएव प्रकृत अतिचारोंके परित्याग-की प्रेरणा करते हुए यहाँ उन अतिचारोंकी असम्भावनाविषयक शंकाको उपस्थित करके उसका सयुक्तिक समाधान किया गया है (९६-१०५)।

इस प्रकार इस प्रासंगिक कथनको समाप्त करके प्रस्तुत बारह प्रकारके श्रावकधर्मके निरूपणका उपक्रम करते हुए यहाँ सर्वप्रथम स्थूलप्राणिवधविरमण आदि पाँच अणुव्रतोंका निर्देश किया गया है व उनमें प्रथम स्थूलप्राणिघातविरमणरूप अणुव्रतका विवेचन करते हुए उस स्थूलप्राणिघातकी सम्भावना संकल्प व आरम्भके द्वारा दो प्रकारसे बतलायी गयी है। गृहस्थ चूँकि आरम्भमें रत रहा करता है, अतएव वह उक्त स्थूलप्राणिवध-का परित्याग केवल संकल्पपूर्वक कर सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि आरम्भकार्यको भी वह इतनी सावधानीसे करता है कि उसमें निरर्थक प्राणिवध नहीं होता। प्रकृत अणुव्रतको वह मोक्षाभिलाषी होकर गुरुके पादमूलमें चातुर्मास आदि रूप कुछ नियत काल तक अथवा जीवन पर्यन्तके लिए भी स्वीकार करता है (१०६–१०८)। प्रसंग पाकर यहाँ यह शंका की गयी है कि जब श्रावकके परिणाम स्वयं देशविरतरूप होते हैं तब गुरुके समक्ष उस व्रतका ग्रहण करना निरर्थक एवं गुरु व शिष्य दोनोंके लिए दोषकारक है। इस शंकाका युक्तिपूर्वक सुन्दर समाधान किया गया है (१०९-११३)।

तत्पश्चात् दूसरी शंका यह उठायी गयी है कि जो गुरु मन, वचन और काय तीनों प्रकारसे प्राणिघात-का परित्यागी होकर पूर्णतया महाव्रती होता है वह यदि श्रावकको स्थूलप्राणातिपातका ही परित्याग कराता है तो इससे उसकी सूक्ष्मप्राणातिपातमें अनुमति समझनी चाहिए और तब इस प्रकारसे उसका अहिंसामहाव्रत कैसे सुरक्षित रह सकता है। इस शंकाका समाधान यहाँ सूत्रकृतांगका अनुसरण करके एक सेठके छह पुत्रोंका दृष्टान्त देकर किया गया है (११४-११८)। इसी प्रकारकी और भी अनेकों शंकाओंको उपस्थित करके उनका युक्ति और आगमके आश्रयसे समाधान करते हुए प्रस्तुत स्थूलप्राणातिपातविरमण अणुव्रतका विशदतापूर्वक विस्तारके साथ विवेचन किया गया है (११९-२५६)। तत्पश्चात् उसका निर्दोष परिपालन करानेके उद्देश्यसे उसके पाँच अतिचारोंका निर्देश करके उनके परित्यागके साथ त्रसरक्षणके लिए अन्यान्य प्रयत्न करनेकी ओर भी सावधान किया गया है (२५७-२५९)।

इस प्रकार प्रथम अणुव्रतका विस्तारसे निरूपण करके तत्पश्चात् यथाक्रमसे स्थूलमृषावादविरति, स्थूलअदत्तादानविरति, परदारपरित्याग व स्वदारसन्तोष और सचित्ताचित्त वस्तुविषयक इच्छापरिमाण इन शेष चार अणुव्रतोंका (२६०-२७९); दिग्व्रत, उपभोग-परिभोगपरिमाण और अनर्थदण्डविरति रूप तीन

गुणव्रतोंका (२८०-२९१); तथा सामायिक, देशावकाशिक, पौषधव्रत और अन्नादिदान (अतिथिसंविभाग) इन चार शिक्षापदोंका (२९२-३२७) अतिचारोंके उल्लेखपूर्वक वर्णन किया गया है। इस प्रकरणमें संस्कृत टीकाकारने कहीं पूर्वोक्ताचार्यविधि, कहीं वृद्धसम्प्रदाय और कहीं सामाचारी आदिका निर्देश करके आगमिक परम्पराके अनुसार यथास्थान इन व्रतों व उनके अतिचारोंका प्रायः विस्तारके साथ स्पष्टीकरण किया है। सामायिकके प्रकरणमें यहाँ यह शंका उठायी गयी है कि सामायिकको स्वीकार करनेवाला गृहस्थ जब कुछ समयके लिए समस्त सावद्य योगका परित्याग कर देता है तब उसे साधु ही समझना चाहिए। इसके उत्तरमें उस समय उसके इसकी असम्भावना प्रकट करके साधु और श्रावकके मध्यमें दो प्रकारकी शिक्षा, 'सामाइयंमि उ कए' इत्यादि गाथा, उपपात, स्थिति, गति, कषाय, बन्ध, वेदना, प्रतिपत्ति और अतिक्रम; इन द्वारोंके द्वारा भेद बतलाया गया है (२९३-३११)। इस बारह प्रकारके श्रावकधर्ममें पाँच अणुव्रतों व तीन गुणव्रतोंको यावत्कथिक—एक बार स्वीकार करके जीवनपर्यन्त परिपालनीय—और चार शिक्षापदोंको इत्वर—अल्पकालिक – निर्दिष्ट किया गया है (३२८)।

गृहस्थ जो प्रत्याख्यान करता है उसके मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमोदना इनके पारस्परिक संयोगसे समस्त भंग १४७ होते हैं। यहाँ यह आशंका उठायी गयी है कि गृहस्थ चूँकि देशव्रती है अतः उसके जब अनुमतिका निषेध सम्भव नहीं है तब प्रकृत प्रत्याख्यानके वे १४७ भंग कैसे हो सकते हैं। इस शंकाका भगवतीसूत्रके अनुसार समाधान करनेपर जो प्रत्याख्याननिर्युक्तिके आश्रयसे दूसरी शंका उपस्थित हुई उसका तथा इसी प्रकारकी अन्य शंकाओंका भी समुचित समाधान किया गया है (३२९-३३८)।

श्रावकको ऐसे स्थानपर रहना चाहिए जहाँपर साधुओंका आगमन होता रहता हो, चैत्यालय हों और अन्य साधर्मिक बन्धुजन भी रहते हों (३३९-३४२)। वहाँ रहते हुए उसे विधिपूर्वक ही रहना चाहिए। यथा—प्रातःकालमें उठनेके साथ नमस्कार मन्त्रका उच्चारण करते हुए शय्याको छोड़ना, व्रतादिकका अनुस्मरण करना व उसमें उपयुक्त होना, चैत्यवन्दना व गुरु आदिकी वन्दना करते हुए विधिपूर्वक प्रत्याख्यानको ग्रहण करना, तत्पश्चात् चैत्यालयमें जाकर जिनपूजादि करना व ग्रहण किये हुए प्रत्याख्यानको साधुके समक्ष ग्रहण करना आदि। प्रसंगवश यहाँ पूजाके विषयमें उठनेवाली शंकाओंका समाधान करके उसे अवश्य करणीय सिद्ध किया गया है (३४३-३५०)। तत्पश्चात् यहाँ गुरुकी साक्षीमें प्रत्याख्यानके ग्रहणमें क्या लाभ है, इसे प्रकट करते हुए श्रावकको दैनिक चर्याका तथा सोतेसे उठकर क्या विचार करना चाहिए, इसका वर्णन किया गया है (३५१-३६४)।

अन्तमें साधु व श्रावककी विहारविषयक सामाचारी (३६४-३७६), अन्य अनुपालन करने योग्य प्रतिमा आदि (३७६), मारणान्तिकी संल्लेखनाकी आराधना (३७७-३८५) और जिनोपदिष्ट क्षान्ति आदि गुणोंकी भावना; इत्यादि विशेष करणीय क्रियाओंका विवेचन (३८६-४००) करके अन्तमें ग्रन्थकारने यह भी निर्देश कर दिया है कि मैंने सूत्र, सूत्रकार एवं आचार्यपरम्परासे प्राप्त तत्त्वका उद्धार मात्र किया है। यदि इसमें कदाचित् कुछ विरुद्ध हुआ हो तो परमागमके ज्ञाता क्षमा करें (४०१)।

५. दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें श्रावकाचार-विषयक समानता

जैसा कि पाठक पीछे विषयपरिचय व तुलनात्मक विवेचनमें देख चुके हैं श्रावकाचारके विषयमें दि. और श्वे. सम्प्रदायोंमें कोई विशेष मतभेद नहीं रहा, तद्विषयक समानता ही उनमें अधिक दिखती है। यथा—

१. श्रावकधर्मका अनुष्ठान सम्यक्त्वके ऊपर निर्भर है, इसे दोनों ही सम्प्रदायोंमें समान रूपसे स्वीकार किया गया है। उस सम्यक्त्व-विषयक विवेचन भी प्रायः दोनों सम्प्रदायोंमें समान रूपमें उपलब्ध होता है।

२. पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतोंके स्वरूप आदिका विवेचन उक्त दोनों सम्प्रदायोंमें समान रूपमें किया गया है। गुणव्रत और शिक्षाव्रत इनके विषयमें जो कुछ मतभेद रहा है वह उन दोनों सम्प्रदायोंमें-से प्रत्येकमें भी पाया जाता है। जैसे—दि. तत्त्वार्थसूत्र (७-२१) में जहाँ गुणव्रत और शिक्षाव्रतका भेद न करके सामान्यसे दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभागव्रत इनका उल्लेख शीलव्रतों (७-२४) के रूपमें किया गया है, वहाँ रत्नकरण्डकमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण इन तीनको गुणव्रत (६७) तथा देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्त्य (अतिथिसंविभागव्रत) इन चारको शिक्षाव्रत (९१) कहा गया है। चारित्रप्राभृतमें शिक्षाव्रतोंके मध्यमें देशावकाशिकव्रतको ग्रहण न करके उसके स्थानमें सल्लेखनाको ग्रहण कर उन चारको शिक्षाव्रत कहा गया है (२६)। इस प्रकार चारित्रप्राभृतमें सल्लेखनाको बारह व्रतोंके ही अन्तर्गत कर लिया गया है। यह रत्नकरण्डककी अपेक्षा यहाँ इतनी विशेषता है।

दि. सम्प्रदायके अनुसार श्वे. सम्प्रदायसम्मत त. सूत्र (७-१६ व १९) में भी उक्त दिग्व्रतादि सात व्रतोंका उल्लेख शीलव्रतोंके रूपसे ही किया गया है, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका विभाग नहीं किया गया। उवासगदसाओमें (१-१२, पृ. ६ व १-५८, पृ. १२-१३) गुणव्रतका निर्देश न करके उक्त दिग्व्रतादि सातका उल्लेख 'शिक्षापद' के नामसे किया गया है। परन्तु प्रस्तुत श्रा. प्र. (गा. ६ तथा गा. २८० व २९२ की उत्थानिका) आदिमें दिग्व्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अनर्थदण्डव्रत इन तीनको गुणव्रत तथा सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग इन चारको शिक्षाव्रत कहा गया है। उक्त सातों व्रतोंका क्रमविन्यास उवासगदसाओ और श्रा. प्र. आदिमें समान व त. सू. से कुछ भिन्न है। इस प्रकार देशावकाशिक या देशव्रतके विषयमें उक्त दोनों सम्प्रदायोंमें तथा प्रत्येकमें भी मतभेद रहा है।

३. किसी-किसी व्रतके अतिचारोंके विषयमें जैसे एक ही सम्प्रदायमें कुछ मतभेद उपलब्ध होता है वैसे ही वह उभय सम्प्रदायोंके मध्यमें भी देखा जाता है। यथा—दि. सम्प्रदायमें उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके पाँच अतिचारोंके विषयमें त. सूत्र (७-३५) और रत्नकरण्डक (९०) के मध्यमें जैसा मतभेद रहा है वैसा ही मतभेद श्वे. सम्प्रदायमें भी उक्त उपभोगपरिभोगपरिमाणके अतिचारोंके विषयमें त. सूत्र (७-३०) और उवा. द. (१-५१) एवं श्रा. प्र. (२८७-२८८) के अनुसार भी कुछ अन्य प्रकारका रहा है। पौषधोपवास-विषयक अतिचारोंके विषयमें भी त. सू. (७-२९) और उवा. द. (५५) तथा श्रा. प्र. (३२३-३२४) के अनुसार कुछ मतभेद देखा जाता है।

विशेषता—१. श्रावकधर्मके अन्तर्गत मूल और उत्तर गुणोंका विभाग जैसा दि. सम्प्रदायमें देखा जाता है वैसा वह श्वे. सम्प्रदायमें दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरणार्थ दि. सम्प्रदायके रत्नकरण्डक (६६) में पाँच अणुव्रतोंके साथ मद्य, मांस और मधुके त्यागको आठ मूल गुण कहा गया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (६१)में मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको आठ मूल गुण बतलाकर अहिंसाणुव्रतके संरक्षणार्थ प्रयत्नपूर्वक इनके परिपालनकी प्रेरणा की गयी है। आगे वहाँ (६२-७४) उक्त मद्यादि आठोंके दोषोंको कुछ विस्तारसे दिखलाते हुए उनका परित्याग कर देनेपर प्राणी जिनधर्मदेशनाके पात्र होते हैं, ऐसा भी स्पष्ट निर्देश किया गया है। सा. ध. (२-३) में प्रथम पाक्षिक श्रावकके लिए ही जिनवाणीके श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) पूर्वक उक्त पु. सि. में निर्दिष्ट उन मद्यादि आठके परित्यागको अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिए आवश्यक बतलाया गया है। वहाँ (२-३ व २-१८) इन मूल गुणोंके विषयमें जो कुछ थोड़ा मतभेद रहा है उसका भी उल्लेख कर दिया गया है। उपासकाध्ययन (३१४) और सा. ध. (४-४) में पाँच अणुव्रतों,[1]

---

१. सा. ध. की इस स्वो. टीकामें मतान्तरसे रात्रिभोजन व्रतका भी उल्लेख अणुव्रतके रूपमें किया गया है। यथा—अस्य पञ्चधात्वं बहुमतत्वादिष्यते। क्वचित्त रात्र्यभोजनमप्यणुव्रतमुच्यते। सा. ध. स्वो. टीका ४-४।

तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों इन बारह व्रतोंको श्रावकके उत्तरगुण कहा गया है। ये चूँकि मूल गुणोंके अनन्तर सेवनीय हैं तथा उनसे उत्कृष्ट भी हैं, इसीलिए उन्हें उक्त श्लोककी स्वो. टीकामें उत्तर गुण कहा गया है।

त. भाष्यमें दिग्व्रतादि सातको जो उत्तरव्रत कहा गया है, सम्भव है उससे भाष्यकारको अहिंसादि पाँच अणुव्रत मूलव्रतके रूपमें अभीष्ट रहे हों।[1]

२. पद्मनन्दिपंचविंशति (६-७, ४०३) आदि कुछ दि. ग्रन्थोंमें देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छहको प्रतिदिन अनुष्ठेय गृहस्थके छह आवश्यक कर्म कहा गया है। श्वे. ग्रन्थोंमें कहीं ऐसे दैनिक आवश्यक कर्मोंका उल्लेख किया गया या नहीं यह मुझे देखनेमें नहीं आया।

३. श्रावकधर्मके अन्तर्गत ग्यारह प्रतिमाओंके पालनका उल्लेख उक्त दोनों ही सम्प्रदायोंमें किया गया है। सर्वप्रथम देशविरत रूपमें इन प्रतिमाओंके परिपालनका उल्लेख चारित्रप्राभृत (२२) में दृष्टिगोचर होता है। इसके पश्चात्कालीन रत्नकरण्डक (१३६-१४७) में श्रावकपद भेदोंके रूपमें उन ग्यारह प्रतिमाओं-का निर्देश करते हुए पृथक्-पृथक् उनके स्वरूपको भी प्रकट किया गया है। बादके तो कितने ही दि. ग्रन्थों-में—जैसे कार्तिकेयानुप्रेक्षा, उपासकाध्ययन, चारित्रसार, अमितगतिश्रावकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार और सागारधर्मामृत आदिमें—उनका विवरण उपलब्ध होता है।

श्वेता० सम्प्रदायमें इनका निर्देश संक्षेपमें प्रस्तुत श्रा. प्र. में किया गया है (३७६)। वहाँ टीकामें 'दंसण-वय' इत्यादि रूपसे उनसे सम्बद्ध एक गाथाके प्रारम्भिक अंशको उद्धृत किया गया है। यह गाथा चारित्रप्राभृतमें इस प्रकार उपलब्ध होती है—

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२२॥

श्रा. प्र. की टीकागत निर्देशके अनुसार वह गाथा इसी रूपमें हरिभद्रके सामने रही है या कुछ भिन्न रूपमें, यह कहा नहीं जा सकता। सम्भव है प्रत्याख्याननिर्युक्तिमें वह गाथा हो और वहाँसे हरिभद्रसूरिने उसके उतने अंशको उद्धृत किया हो, अथवा उक्त चारित्रप्राभृतसे ही उन्होंने उसे उद्धृत किया हो।

६. श्रा. प्र. से सम्बद्ध पूर्वोत्तरकालवर्ती साहित्य

हम अब यहाँ यह विचार करना चाहेंगे कि प्रस्तुत श्रा. प्र. पर अपने पूर्ववर्ती किन-किन ग्रन्थोंका प्रभाव रहा है तथा उसका भी प्रभाव पश्चाद्वर्ती किन ग्रन्थोंपर रहा है। इसके लिए यहाँ तुलनात्मक दृष्टिसे कुछ विचार किया जाता है।

(१) श्रावकप्रज्ञप्ति और प्रवचनसार

प्रवचनसार यह एक आचार्य (कुन्दकुन्द प्रथम शती प्रायः) विरचित आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसके तीसरे चारित्राधिकारमें निम्न गाथा उपलब्ध होती है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण ॥३-३८॥

यह गाथा श्रा. प्र. (१५९) में इस प्रकार है—

जं नेरइओ कम्मं खवेइ बहुआहि वासकोडीहिं।
तन्नाणी तिहि गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेण ॥

---

१. एभिश्च दिग्व्रतादिभिरुत्तरव्रतैः सम्पन्नोऽगारी व्रती भवति। त. भाष्य ७-१६।

दोनों गाथाओंका उत्तरार्ध सर्वथा समान है। पूर्वार्धमें प्र. सार में जहाँ 'अण्णाणी' है वहाँ श्रा. प्र. में उसके स्थानमें 'णेरइओ' है जो प्रसंग के अनुसार परिवर्तित हो सकता है। श्रा. प्र. में वहाँ प्रसंग नारक जीवोंका है, अतः 'अण्णाणी' के स्थानमें 'णेरइओ' पद उपयुक्त है। हरिभद्र सूरिने ध्यानशतककी अपनी टीकामें इस गाथाको उद्धृत किया है। वहाँ 'अन्नाणी' के स्थानमें श्रा. प्र. 'बहुआहिं वासकोडीहिं' ही पाठ है, 'नेरइओ' पाठ वहाँ नहीं है (देखिए ध्या. श. गा. ४५ की टीका)। 'भवसयसहस्सकोडीहिं' है। दोनों ही पाठ कालकी अधिकताके सूचक हैं। हो सकता है प्रकृत गाथा अन्यत्र कहीं निर्युक्तियों आदिके भी अन्तर्गत हो।

(२) श्रावकप्रज्ञप्ति और मूलाचार

मूलाचार यह आचार्य वट्टकेर (१-२ शती) विरचित मुनिके आचारविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। बारह अधिकारोंमें विभक्त इसके सातवें आवश्यक अधिकारमें सामायिक आवश्यकके प्रसंगमें निम्न गाथा प्राप्त होती है—

> सामाइयम्मि दु कदे समणो इर सावओ हवदि जम्हा।
> एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥७-३४

यह गाथा प्रकृत श्रा. प्र. (२९९) में भी उपलब्ध होती है। विशेष इतना है कि मूलाचारमें जहाँ 'इर' है वहाँ श्रा. प्र. मे उसके स्थानमें 'इव' है। श्रा. प्र. में प्रसंग सामायिक शिक्षापदका है। वहाँ एक शंकाके समाधानमें दो प्रकारकी शिक्षा, गाथा और उपपात आदि १० द्वारोंके (२९५) आश्रयसे साधु और श्रावकके बीच भेद प्रकट किया गया है। उक्त गाथा 'गाथा' नामक दूसरे द्वारके प्रसंगमें प्राप्त होती है। इससे इतना तो निश्चित है कि वह मूल ग्रन्थकी गाथा न होकर ग्रन्थान्तरसे वहाँ प्रस्तुत की गयी है। प्रकृत गाथा आवश्यकनिर्युक्ति (५८४) और विशेषावश्यकभाष्य (३१७३) में भी उपलब्ध होती है। जिस शंका (२९३) के समाधानमें साधु और श्रावकके मध्यमें भेद दिखलाया गया है वह शंका यही थी कि श्रावक जब नियमित कालके लिए समस्त सावद्ययोगका परित्याग कर चुकता है तब वह साधु हो है। मूलाचारमें जो 'इर (किल)' पाठ है वह शंकाके अनुरूप दिखता है।

(३) श्रावकप्रज्ञप्ति और तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

वाचक उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ग्रन्थसे संक्षिप्त होकर भी अर्थसे विशाल एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वह दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें लब्धप्रतिष्ठ है। उसमें मोक्षके मार्गभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका विवेचन करते हुए प्रसंगप्राप्त जीवादि सात तत्त्वों एवं नय-प्रमाणादि विविध विषयोंकी प्ररूपणा की गयी है। उसके सातवें अध्यायमें आस्रव तत्त्वका विचार करते हुए व्रतोंकी प्ररूपणामें सामान्यसे व्रतके अणुव्रत और महाव्रत ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं[1]। वहाँ कहा गया है कि जो माया, मिथ्या व निदान इन तीन शल्योंसे रहित हो वह व्रती होता है[2]। वह अगारी—गृहमें निरत श्रावक—और अनगारी—गृहसे निवृत्त श्रमण—के भेदसे दो प्रकारका सम्भव है[3]। इनमें जिसके वे व्रत अणुरूपमें (देशतः) सम्भव होते हैं वह अगारी[4]—उपासक या श्रावक—कहलाता है। वह उन अणुव्रतोंके साथ दिग्व्रतादि सात शीलों या उत्तरव्रतोंसे सम्पन्न होता है[5]। उक्त बारह व्रतोंका परिपालन करते हुए वह मारणान्तिकी सल्लेखनाका भी आराधक होता है[6]। इस प्रकार यहाँ श्रावकके बारह व्रतोंके पश्चात्

---

१. सूत्र ७-२। २. सूत्र ७-१३। ३. सूत्र ७-१४। ४. सूत्र ७-१५। ५. सूत्र ७-१६। ६. सूत्र ७-१७।

अन्तमें अनुष्ठेय सल्लेखनाका भी उल्लेख करके आगे सम्यग्दृष्टि[1] और तत्पश्चात् यथाक्रमसे उन बारह व्रतोंके साथ सल्लेखनाके भी अतिचारोंका निर्देश किया है[2]।

तत्त्वार्थसूत्रसे श्रावकप्रज्ञप्तिकी विशेषता

प्रस्तुत श्रावक प्रज्ञप्तिमें इन व्रतोंकी विस्तारसे प्ररूपणा की गयी है। वहाँ अनेक प्रसंग ऐसे हैं जो तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यसे[3] सर्वथा समानता रखते हैं, पर वहाँ कुछ ऐसे भी प्रसंग हैं जो उक्त तत्त्वार्थ-सूत्रसे अपना अलग विशेषता रखते हैं। यथा—

१. तत्त्वार्थ सूत्रमे गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका विभाग न करके सामान्यसे शीलव्रतोंके[4] रूपमें उन दिग्व्रतादि सात व्रतोंका उल्लेख किया गया है तथा भाष्यमें उनका निर्देश उत्तरव्रतोंके रूपमें किया गया है[5]।

परन्तु श्रावकप्रज्ञप्तिमें उक्त गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंका विभाग स्पष्ट रूपमें किया गया है[6]। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थ सूत्रकी अपेक्षा श्रावकप्रज्ञप्तिमे उनका क्रमव्यत्यय भी देखा जाता है[7]।

२. सम्यक्त्वके दूसरे अतिचारस्वरूप कांक्षाका लक्षण तत्त्वार्थ भाष्यमें इस प्रकार कहा गया है—ऐहलौकिक-पारलौकिकेषु विषयेष्वाशसा कांक्षा। तत्त्वार्थ भाष्य ७-१८।

परन्तु श्रावकप्रज्ञप्तिमे उसका स्वरूप कुछ भिन्न रूपमें इस प्रकार कहा गया है—कंखा अन्नन्न-दंसणग्गाहो[8]। गाथा ८७

३. तत्त्वार्थ सूत्र (७-२१) मे सत्याणुव्रतके अतिचारोंमें जहाँ न्यासापहार और साकारमन्त्रभेदको ग्रहण किया गया है वहाँ श्रावकप्रज्ञप्ति (२६३) मे उनके स्थानमे सहसा-अभ्याख्यान और स्वदारमन्त्रभेद इन दो अतिचारोंको ग्रहण किया गया है।

४. तत्त्वार्थसूत्र (७-२७) मे जहाँ अनर्थदण्डव्रतके अतिचारोंमें 'असमीक्ष्याधिकरण' को ग्रहण किया गया है वहाँ श्रावकप्रज्ञप्ति (२९१) मे उसके स्थानमे 'संयुक्ताधिकरण' को ग्रहण किया गया है।

५. तत्त्वार्थ सूत्र (७-२९) में पोषधोपवासव्रतके अतिचार इस प्रकार कहे गये हैं—अप्रत्यवेक्षित-और अप्रमार्जित उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित आदान-निक्षेप, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तारोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान।

परन्तु श्रा. प्र. (३२३-३२४) में ये अतिचार कुछ भिन्न रूपमे इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये है—अप्रतिलेखित-दुःप्रतिलेखित शय्या-सस्तारक, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक, अप्रतिलेखित-दुःप्रतिलेखित उच्चारादिभू, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारादिभू और सम्यक् अननुपालन।

---

१. सूत्र ७-१८।

२. तत्त्वार्थ सूत्र ७, १९-३२।

३. जैसे—अतिथिसंविभागो नाम न्यायागतानां कल्पनीयानामन्नपानादीनां [च] द्रव्याणां देशकाल-श्रद्धा-सत्कार-क्रमोपेतं परयाऽऽत्मानुग्रहबुद्ध्या संयतेभ्यो दानमिति। तत्त्वार्थ भाष्य ७-१६। नायागयाण अन्नाइयाण तह चेव कप्पणिज्जाणं। देसद्ध-सद्ध-सक्कार-कमजुय परमभत्तीए॥ श्रावकप्रज्ञप्ति ३२५।

४. व्रत-शीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्। तत्त्वार्थ सूत्र ७-१९।

५. एभिश्च दिग्व्रतादिभिरुत्तरव्रतैः सम्पन्नोऽगारी व्रती भवति। तत्त्वार्थ भाष्य ७-१६।

६. श्रावकप्रज्ञप्ति ६।

७. तत्त्वार्थ भाष्य (७-१६)—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण, अतिथिसंविभागव्रत। श्रावकप्रज्ञप्ति—दिग्व्रत (२८०), उपभोगपरिभोगपरिमाण (२८४), अनर्थदण्डविरति (२८९), सामायिक (२९२), देशावकाशिक (३१८-१९), पौषधोपवास (३२१), अतिथिसंविभाग (३२५-३२६)।

८. श्रावकप्रज्ञप्तिके अन्तर्गत यह गाथा भाष्यगाथाके रूपमें निसीथचूर्णि (१-२४) में उसी रूपमें उपलब्ध होती है। तत्त्वार्थ सूत्रके वृत्तिकार सिद्धसेन गणिने उक्त कांक्षाके लक्षणमे दर्शनको भी ग्रहण कर लिया है। यथा—प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तित्वात् अन्यान्यदर्शने सति ग्राहोऽभिलाषस्तद्विषयः, आशंसा प्रीतिरभिलाषः काङ्क्षेत्यनर्थान्तरम्, दर्शनेषु वा। तथा चागमे—कंखा अण्णण्णदंसणग्गाहो।

६. त. सूत्र व उसके भाष्य (७-१६) में पौषधोपवासके उन आहारपौषधादि चार भेदोंका उल्लेख नहीं किया गया जिनका निर्देश श्रा. प्र. (३२१) में पौषधोपवासके लक्षणके रूपमें ही किया गया है।

७. इसी प्रकार दोनों ग्रन्थोंमें उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके अतिचार भी कुछ भिन्न रूपमें पाये जाते हैं। जैसे—

सचित्त, सचित्तसम्बद्ध, सचित्तसंमिश्र, अभिषव और दुष्पक्व आहार। त. सू. ७–३०।

सचित्ताहार, सचित्तप्रतिबद्धाहार, अपक्व, दुष्पक्व और तुच्छौषधिभक्षण। श्रा. प्र. २८६।

८. त. सू. (७–३२) में संलेखनाके अतिचार जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पाँच कहे गये हैं। परन्तु श्रा. प्र. (३८५) में वे इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—इहलोकाशंसाप्रयोग, परलोकाशंसाप्रयोग, जीविताशंसाप्रयोग, मरणाशंसाप्रयोग और भोगाशंसाप्रयोग।

९. त. सूत्र और उसके भाष्यमें श्रावककी दर्शन व व्रत आदि प्रतिमाओंका कहीं कुछ निर्देश नहीं किया गया जब कि श्रा. प्र. (३७६) मे उनका उल्लेख भी विशेष करणीयके रूपमें किया गया है।

१०. त. सूत्रमें बारह व्रतों और सल्लेखनाके पश्चात् दान व उसकी विशेषताका भी अलगसे निर्देश किया गया है। (७, ३३–३४) पर उसका विधान श्रा. प्र. में कहीं नही किया गया।

(४) श्रावकप्रज्ञप्ति और आचारांग

अंगसाहित्यका निर्माता गौतम गणधर अथवा सुधर्मा स्वामीको माना जाता है। वर्तमानमें जो आचारांग आदिरूप अंग साहित्य उपलब्ध है वह अपने यथार्थ स्वरूपमें उपलब्ध नही है। उसे साधुसमुदायकी स्मृतिके आधारपर वी. नि. सं. ९८० के आसपास वलभीमे तीसरी वाचनाके समय आचार्य देवर्द्धि गणि (५वीं शती) के तत्त्वावधानमे पुस्तक रूपमें ग्रथित किया गया है।

आचारांग यह १२ अगोंमे प्रथम है। प्रकृत श्रा. प्र. (६१) जो 'जं मोणं तं सम्मं' आदि गाथा अवस्थित है वह आचारांगके सूत्र १५६ (पृ. १९२) से प्रभावित है। इसकी टीकामें हरिभद्र सूरिने 'उक्तं चाचारांगे' ऐसा निर्देश करते हुए "जं मोणं ति पासहा" आदि उक्त सूत्रको अपनी टीकामे उद्धृत भी कर दिया है। विशेष इतना है कि आचारागमे जो उसका पूर्वार्द्ध है वह यहाँ उत्तरार्द्धके रूपमे और जो वहाँ उत्तरार्द्ध है वह यहाँ पूर्वार्द्धके रूपमें उपलब्ध होता है।

(५) श्रावकप्रज्ञप्ति और सूत्रकृतांग

सूत्रकृतांग यह १२ अंगोंमें दूसरा है। वह दो श्रुतस्कन्धों मे विभक्त है। उसके द्वितीय श्रुतस्कन्धके अन्तर्गत नालन्दीय नामक अन्तिम अध्ययनमे इन्द्रभूति गणधरके द्वारा पार्श्वापत्यीय पेढालपुत्र उदक निर्ग्रन्थके प्रश्नानुसार गृहस्थधर्मकी प्ररूपणा की गयी है। प्रकृतमें श्रा. प्र. की गाथा ११५ में अहिंसाणुव्रतके प्रसंगमें एक शंकाका समाधान करते हुए किसी गृहपतिके पुत्र चोरोंके ग्रहण और मोचनका उदाहरण दिया गया है। इस गाथाकी टीकामें हरिभद्रसूरिने उससे सम्बद्ध कथानकको उद्धृत करते हुए यह कहा है कि यह केवल अपनी बुद्धिसे की गयी कल्पना नहीं है। सूत्रांगमे भी यह कहा गया है—**गाहावइसुयचोरग्गहणविमोक्खणयाएत्ति**। ऐसी सूचना करते हुए उन्होंने आगे 'एतत्संग्राहकं चेदं गाथात्रयम्' ऐसा निर्देश करके उक्त कथानकसे सम्बद्ध उन तीन (११६–११८) गाथाओंका भी उल्लेख कर दिया है। इन गाथाओंमें उक्त कथानकको संक्षिप्त सूचना मात्र करते हुए दृष्टान्तकी संगति दार्ष्टान्तिसे बैठायी गयी है। इस प्रकार श्रावकप्रज्ञप्तिके अन्तर्गत वह शंका-समाधान पूर्णतया सूत्रांग (२, ७, ७५, पृ. २६७–२६८) से प्रभावित है।

आगे श्रा. प्र. (११९-१२३) में वादीके द्वारा नागरकवधका दृष्टान्त देते हुए सामान्यसे की जानेवाली त्रसप्राणघातविरतिको अनिष्ट बतलाकर यह कहा गया है कि इसीलिए सामान्यसे त्रसप्राणघातविरतिको न कराकर विशेष रूपमे त्रसभूतप्राणघातविरतिको करना चाहिए ।

इस शंकाका समाधान करते हुए आगे (१२३-१३२) वादीके द्वारा उपन्यस्त 'भूत' शब्दके अर्थविषयक उपमा ओर तादर्थ्यरूप दो विकल्पोंको उठाकर उन दोनों ही विकल्पोंमें 'भूत' शब्दके उपादानको निरर्थक सिद्ध किया गया है । यह सब कथन भी उक्त सूत्रांगसे प्रभावित है ।

विशेष इतना है कि सूत्रकृतांगके टीकाकार शीलांकाचार्यने प्रसंगप्राप्त उस सूत्र (२, ७, ७५) की व्याख्यामें प्रकृतकथाको स्पष्ट करते हुए प्रथमतः यह कहा है कि किसी गृहपतिके छह पुत्र थे । उन्होंने उस प्रकारके कर्मके उदयसे पिता व पितामहके क्रमसे चली आयी प्रचुर सम्पत्तिके होते हुए भी राजवंशके भाण्डागारमें जाकर चोरी की । भवितव्यताके वश वे राजपुरुषों द्वारा पकड़ लिये गये ।

उक्त टीकाकार आगे प्रकृत कथानकके विषयमें मतान्तरको प्रकट करते हुए कहते हैं कि अन्य आचार्य प्रकृत कथानकका व्याख्यान इस रूपमें करते हैं—रत्नपुर नगरमें रत्नशेखर नामका राजा था । उसने सन्तुष्ट होकर रत्नमाला पटरानी आदि समस्त अन्तःपुरको कौमुदी उत्सव मनानेके लिए इधर-उधर जाने-आनेकी अनुमति दे दी ।

इसी प्रसंगमें श्रा. प्र. की उक्त गाथा (११५) की टीकामें जो कथा दी गयी है उसमें निर्दिष्ट नाम आदि उससे कुछ भिन्न हैं । वहाँ कहा गया है—वसन्तपुर नगरमे जितशत्रु राजा व उसकी धारिणी नामकी पत्नी थी । किसी प्रकारसे रानीके ऊपर सन्तुष्ट होनेपर राजाने उससे कहा कि बोलो तुम्हारा क्या भला करूँ। इसपर रानीने कहा कि रातमे इच्छानुसार घूम-फिरकर कौमुदी महोत्सव मनानेकी प्रसन्नता प्रकट कीजिए । राजाने उसे स्वीकार कर नगरमें यह घोषणा करा दी कि आज रातमे नगरके भीतर जो भी पुरुष रहेगा उसे मेरे द्वारा भयानक शारीरिक दण्ड दिया जायेगा । आगेकी कथाका प्रसंग प्रायः समान है ।

इस प्रकार प्रकृत कथाके विषयमें तीन मत दृष्टिगोचर होते हैं । इनमे प्रथम मत सूत्रकृतांगगत उक्त सूत्रके साथ संगतिको प्राप्त है । कारण यह कि सूत्रमें उल्लिखित चोरपदकी सार्थकता इसी मतसे घटित होती है ।

(६) श्रावकप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) यह १२ अंगोंमे पाँचवाँ है । श्रा. प्र. (३३३) में गृहस्थधर्म सम्बन्धी १४७ प्रत्याख्यानभेदोंके प्रसंगमे शंकाके रूपमे कहा गया है कि कितने ही जैन मतानुसारी यह कहते है कि गृहस्थके कृत-कारितादिरूप तीन प्रकारके सावद्यका प्रत्याख्यान तीन प्रकारसे सम्भव नहीं है । इस मतका निराकरण करते हुए वहाँ कहा गया है कि तीन प्रकारसे तीन प्रकारके सावद्यका वह प्रत्याख्यान गृहस्थके भी सम्भव है, क्योंकि प्रज्ञप्ति—व्याख्याप्रज्ञप्ति—में उसका विशेष रूपमें निर्देश किया गया है । इस प्रकार यहाँ 'प्रज्ञप्ति' के नामसे ग्रन्थकारने व्याख्याप्रज्ञप्ति या भगवती सूत्रकी ओर संकेत किया है । टीकामें 'प्रज्ञप्ति' से 'भगवती' को ग्रहण किया गया है तथा वहाँ 'तिविहं ति' इत्यादि रूपसे उस सूत्रकी ओर संकेत भी किया गया दिखता है । ग्रन्थ समक्ष न होनेसे हम उस सूत्रको नहीं खोज सके ।

(७) श्रावकप्रज्ञप्ति और उवासगदसाओ

उवासगदसाओ यह १२ अंगोंमें सातवाँ है । वह १० अध्ययनोंमे विभक्त है, जिनमे क्रमसे आनन्द आदि १० उपासकोंका जीवनवृत्त वर्णित है । उसके प्रथम अध्ययनमें जिस आनन्द उपासकका जीवनवृत्त है

वह श्रमण भगवान् महावीरकी धर्मसभामें पहुँचा। वहाँ उसने विनयपूर्वक भगवान्की वन्दना की और उनसे धर्मश्रवण किया। तत्पश्चात् उसने अपने मुण्डित होने—निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने—की असमर्थता प्रकट करते हुए उनसे उपासक धर्मके ग्रहण करनेकी प्रार्थना की। तदनुसार भगवान्की अनुमति पाकर उसने उनके समक्ष बारह प्रकारके उपासक धर्ममें-से प्राणातिपातादिरूप प्रत्येक व्रतका नामनिर्देश करते हुए किस व्रतका वह देश-रूपमें कहाँ तक पालन करेगा, इसका विशदतापूर्वक स्पष्टीकरण किया व तदनुसार प्रतिज्ञा की। इच्छापरिमाण नामक पाँचवें अणुव्रतमें तो उसने पृथक्-पृथक् सोना-चाँदी, गाय-भैंस आदि, दासी-दास आदि, वस्त्राभूषण और भोजनके विविध प्रकारोंमें प्रत्येकका प्रमाण किया। इस प्रकार प्रस्तुत उवासगदसाओमें श्रावकके व्रतोंका स्वरूप जिस प्रकारसे निर्दिष्ट किया गया है ठीक उसी प्रकारसे वह श्रावकप्रज्ञप्तिमें भी उपलब्ध होता है।

उवासगदसाओमें श्रमण महावीरने आनन्द श्रावकको लक्ष्य करके सर्वप्रथम उसे श्रमणोपासकके रूपमें निरतिचार सम्यक्त्वके पालन करनेका उपदेश देते हुए उसके पाँच अतिचारोंका उल्लेख किया है।

प्रस्तुत श्रा. प्र. में भी सर्वप्रथम (गा. २) श्रावकके स्वरूपका निर्देश करते हुए उसे सम्यक्त्वसे सम्पन्न होना अनिवार्य बतलाया है। आगे (८६) वहाँ सम्यक्त्वके जिन पाँच अतिचारोंका निर्देश किया गया है वे उवासगदसाओमें निर्दिष्ट (१–४४) उन अतिचारोंसे सर्वथा समान हैं। यहाँ (८७–९९) उनका विस्तारसे विशदीकरण भी किया गया है।

बारह व्रतोंका स्वरूप व उनके अतिचार भी दोनों ग्रन्थोंमें प्रायः समान रूपमें उपलब्ध होते हैं। यथा—

	विषय	उवा.	श्रा. प्र.
१.	स्थूलप्राणातिपातविरति	१–४५	१०६–१०७
	उसके अतिचार	,,	२५७–२५९
२.	स्थूलमृषावादविरति	१–४६	२६०
	अतिचार	,,	२६३
३.	स्थूलअदत्तादानविरति	१–४७	२६५
	अतिचार	,,	२६८
४.	स्वदारसन्तोष	१–१६ व ४८	२७०–२७१
	अतिचार	१–४८	२७३
५.	इच्छापरिमाण	१–४९	२७५–२७६
	अतिचार	,,	२७८
६.	दिग्व्रत	१–५०	२८०
	अतिचार	,,	२८३
७.	उपभोगपरिभोगपरिमाण	१–५१	२८४
	अतिचार	,,	२८६–२८८
८.	अनर्थदण्डव्रत	१–५२	२८९–२९०
	अतिचार	,,	२९१
९.	सामायिक	१–५३	२९२
	अतिचार	,,	३१२

१०.	देशावकाशिक	१–५४	३१८
	अतिचार	,,	३२०
११.	पौषधोपवास	१–५५	३२१–३२२
	अतिचार	,,	३२३–३२४
१२.	अतिथिसंविभाग	१–५६	३२५–३२६
	अतिचार	,,	३२७
१३.	संलेखना	१–५७	३७८–३८४
	अतिचार	,,	३८५

श्रावकप्रज्ञप्तिकी विशेषता—

यह प्रायः सुनिश्चित है कि किसी संक्षिप्त प्राचीन ग्रन्थके पश्चात् उसके आधारसे जो अन्य ग्रन्थ रचा जाता है देशकालकी परिस्थिति एवं ग्रन्थकारकी मनोवृत्तिके अनुसार उसमें उसमें कुछ विशेषता रहा ही करती है। प्रकृतमें उवासगदसाओ यह एक अंगश्रुतके अन्तर्गत ग्रन्थ है, भले ही उसे पुस्तकारूढ़ पीछे किया गया हो; फिर भी उसके विषयविवेचनकी पद्धतिमें प्राचीनता देखी जाती है। वह प्रस्तुत श्रा. प्र. की रचनाका आधार हो सकता है। उससे श्रा. प्र. में जो कुछ विशेषताएँ दिखती हैं वे इस प्रकार हैं—

१. प्राणातिपातविरतिरूप प्रथम अणुव्रतके प्रसंगमें प्रकृत श्रा. प्र. में अनेक शंका-समाधानोंके साथ हिंसा-अहिंसाविषयक महत्त्वपूर्ण विचार भी किया गया है (१०७–२५९)।

२. चतुर्थ अणुव्रतके प्रसंगमें जहाँ उवासगदसाओमें स्वदारसन्तोषका ही विधान किया गया है वहाँ श्रा. प्र. में पापस्वरूप होनेसे परदारगमनका भी परित्याग कराया गया है (२७०–२७१)। यहाँ इस व्रतके दो रूप हो गये दिखते हैं—एक परदारपरित्याग और दूसरा स्वदारसन्तोष। टीकाकारके अभिप्रायानुसार परदारपरित्यागी वेश्याका परित्याग नहीं करता तथा स्वदारसन्तोषी वेश्यागमन नहीं करता।

३. उवा. द. में इच्छापरिमाणव्रतके अतिचारोंका निर्देश इस प्रकार किया गया है—क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम, हिरण्य-सुवर्णप्रमाणातिक्रम, द्विपद-चतुष्पदप्रमाणातिक्रम, धन-धान्यप्रमाणातिक्रम और कुप्य-प्रमाणातिक्रम। पर श्रा. प्र. में वास्तु, सुवर्ण, चतुष्पद और धान्य इनका निर्देश न करके उनके स्थानमें 'आदि' शब्दका उपयोग किया गया है। यथा—क्षेत्रादिप्रमाणातिक्रम, हिरण्यादिप्रमाणातिक्रम, धनादिप्रमाणातिक्रम और द्विपदादिप्रमाणातिक्रम। इससे ग्रन्थकारको सम्भवतः वास्तु, सुवर्ण, धान्य और चतुष्पदके अतिरिक्त तत्सम अन्य वस्तुएँ भी अभीष्ट रही हैं।

४. उवासगदसाओमें जहाँ दिग्व्रत आदि सात उत्तरव्रतोंका उल्लेख केवल 'शिक्षापद' के नामसे किया गया है (सूत्र १२ व ५८) वहाँ श्रा. प्र. में दिग्व्रत, उपभोग-परिभोगपरिमाण और अनर्थदण्डविरमण इन तीनका उल्लेख गुणव्रतके नामसे तथा शेष सामायिक आदि चारका उल्लेख शिक्षापदके नामसे किया गया है (देखिए गा. ६, २८०, २८४, २८९, २९२, ३१८, ३२१, ३२६ और ३२८)।

५. उ. द. में सामायिक शिक्षापदका स्वरूप संक्षेपमें प्रकट किया गया है, परन्तु प्रकृत श्रा. प्र. में उसका विवेचन बहुत कुछ विस्तारसे किया गया है। यहाँ सर्वप्रथम सावद्ययोगके परिवर्जन और असावद्य-योगके आसेवनको सामायिकका स्वरूप प्रकट करते हुए यह आशंका व्यक्त की गयी है कि सामायिकमें अधिष्ठित गृहस्थ जब परिमित समयके लिए समस्त सावद्य योगको पूर्णतया छोड़ देता है तब वस्तुतः उसे साधु ही मानना चाहिए। इस आशंकाके उत्तरमें उसे साधु न मानते हुए यहाँ शिक्षा, गाथा, उपपात, स्थिति, गति, कषाय, बन्धक, वेदक, प्रतिपत्ति और अतिक्रम इन द्वारोंके आश्रयसे गृहस्थकी साधुसे भिन्नता प्रकट की गयी

है (२९२–३११)। आगे यहाँ सामायिकके अतिचारस्वरूप मनोदुष्प्रणिधान आदिको भी पृथक्-पृथक् स्पष्ट किया गया है (३१२–३१७)।

६. उ. द. में जिन अपध्यानादि चार अनर्थदण्डोंका परित्याग इच्छापरिमाणव्रत (४३) के प्रसंगमें कराया गया है उनका परित्याग श्रा. प्र. (२८९) मे अनर्थदण्डविरतिके अन्तर्गत कराया गया है। यह विधान इच्छापरिमाणकी अपेक्षा अनर्थदण्डविरतिसे अधिक संगत प्रतीत होता है।

७. श्रा. प्र. में पौषधके प्रसंगमें जिन आहारपौषधादि चार भेदोका उल्लेख किया गया है (३२१–३२२) उनका निर्देश उ. द. (५५) में नही किया गया।

८. उ. द. (५६) मे चतुर्थ शिक्षापदका उल्लेख यथासंविभागके नामसे किया गया है जब कि श्रा. प्र. (३२५–३२६) में उसके नामका कहीं कोई निर्देश नहीं किया गया, यहाँ उसका उल्लेख अन्तिम शिक्षापदके रूपमे किया गया है। टीकामें अवश्य उसका निर्देश अतिथिसंविभागके नामसे किया गया है (गा. ६ की उत्थानिका व गा. ३२६)।

९. श्रा. प्र. में पूर्वोक्त १२ व्रतोंके पश्चात् श्रावकके निवास, दिनचर्या, चैत्यवन्दन, प्रत्याख्यानग्रहण, चैत्यपूजा और विहारविषयक सामाचारीका निरूपण करते हुए अन्य अभिग्रह और प्रतिमा आदिको भी अनुष्ठेय कहा गया है।

(८) श्रावकप्रज्ञप्ति और प्रज्ञापना

श्यामार्य वाचक विरचित इस प्रज्ञापना (पन्नवणा) सूत्रको चौथा उपांग माना जाता है। वह प्रज्ञापना आदि ३६ पदोंमें विभक्त है। श्रा. प्र. की ५२वी गाथामें यह कहा गया है कि 'समय' में सम्यक्त्वके अन्य जिन दस भेदोंका निरूपण किया गया है वे प्रकृत क्षायोपशमिकादि भेदोंसे भिन्न नही हैं—उनके ही अन्तर्गत हैं। 'समय' शब्दसे यहाँ सम्भवतः प्रकृत प्रज्ञापनासूत्रका अभिप्राय रहा है। वहाँ ११५-१३० गाथासूत्रोंमें सम्यक्त्वके उन दस भेदोंका निरूपण किया गया है।[1] श्रा. प्र. की इस गाथाकी टीकामें हरिभद्र सूरिने 'यथोक्तं प्रज्ञापनायाम्' ऐसा निर्देश करते हुए उन दस भेदोंके सूचक प्रज्ञापनागत 'निसग्गुवएसरुई' आदि गाथासूत्रको उद्धृत भी कर दिया है।

(९) श्रावकप्रज्ञप्ति और उत्तराध्ययन

उत्तराध्ययन यह मूलसूत्रोंमें प्रथम माना जाता है। ३६ अध्ययनोंमे विभक्त यह किसी एककी रचना नही है। महावीर निर्वाणसे लेकर हजार वर्षोंके भीतर विभिन्न स्थविरोंके द्वारा उसके उन अध्ययनोंका सकलन किया गया दिखता है। इसके २८वें अध्ययनमे भी सम्यक्त्वके उन दस भेदोंकी प्ररूपणा की गयी है (२८, १६-३१) जो शब्दशः उपर्युक्त प्रज्ञापनाके ही समान है।

(१०) श्रावकप्रज्ञप्ति और जीवसमास

जीवसमास यह एक प्राचीन ग्रन्थ है। किसके द्वारा रचा गया है, यह ज्ञात नहीं होता। इसमें सत्-संख्यादि आठ अनुयोगद्वारोंके आश्रयसे जीवसमासोंकी प्ररूपणा की गयी है। श्रा. प्र. में गा. ९८ के द्वारा अनाहारक जीवोंका निर्देश किया गया है। यह गाथा जीवसमास (१–८२) मे पायी जाती है। इसे आचार्य

---

१. सम्यक्त्वके इन दस भेदोंका निरूपण कुछ थोड़े-से परिवर्तनके साथ तत्त्वार्थवार्तिक (३,३२,२) आदि अन्य ग्रन्थोंमें भी किया गया है।

वीरसेन द्वारा षट्खण्डागमकी टीका धवला (पु. १. पृ. १५३) में उद्धृत किया गया है। यह गो. जीवकाण्ड (६६५) और प्रवचनसारोद्धार (१३१९) में भी उसी रूपमें उपलब्ध होती है।

(११) श्रावकप्रज्ञप्ति और प्रत्याख्याननिर्युक्ति

आचार्य भद्रबाहु द्वितीय (छठी शताब्दी) निर्युक्तिकारके रूपसे प्रसिद्ध हैं। उन्होंने आवश्यकसूत्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुत, कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषि-भाषित इन ग्रन्थोंकी निर्युक्ति करनेकी प्रतिज्ञा की है।[1] प्रकृतमें आवश्यकसूत्रके छठे अध्ययनस्वरूप प्रत्याख्यान आवश्यककी निर्युक्ति अपेक्षित है। श्रा. प्र. गा. ३३४ में शंकाकारने गृहस्थके लिए अनुमतिका निषेध है, इसे निर्युक्तिके आधारसे पुष्ट किया है। उसकी टीकामें हरिभद्र सूरिने 'निर्युक्ति' से प्रत्याख्याननिर्युक्ति अपेक्षित है, यह स्पष्ट कर दिया है। जहाँ तक मेरा अपना विचार है, प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्तिकी रचनाका प्रमुख आधार आवश्यकनिर्युक्ति और आवश्यकचूर्णि रही है। दशवैकालिक चूर्णि (पृ. २११) में भी कहा गया है कि इस बारह प्रकारके श्रावकधर्मका व्याख्यान प्रत्याख्याननिर्युक्तिके समान करना चाहिए—एतस्स बारसविहस्स सावगधम्मस्स वक्खाणं जहा पच्चक्खाणणिज्जुत्तीए। सम्यक्त्वके शंका आदि अतिचारोंके स्पष्टीकरणमें श्रा. प्र. की टीकामें जो कथाएँ दी गयी हैं वे प्रायः ज्योंकी त्यों आवश्यकचूर्णि (पृ. २७९-२८१) में पायी जाती हैं। इसी प्रकार टीकामें जहाँ-तहाँ जो पूर्वोक्ताचार्योक्तविधि, वृद्धसम्प्रदाय और सामाचारी आदिके उल्लेखपूर्वक विवक्षित विषयका स्पष्टीकरण किया गया है वह भी सम्भवतः आवश्यकचूर्णिके अनुसार किया गया है। हरिभद्र सूरिने दशवैकालिक निर्युक्ति १८६ (पृ. १०२) की अपनी टीकामें शंका-कांक्षा आदि सम्यक्त्वके अतिचारोंको स्पष्ट करते हुए 'उदाहरणं चात्र पेयापेयकौ यथावश्यके' ऐसी सूचना करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि इनका विवेचन जैसे आवश्यकसूत्रमें किया गया है वैसा ही प्रकृतमें समझना चाहिए। ये उदाहरण वे ही हैं जो श्रा. प्र. गा. ९१ और ९३ की टीकामें दिये गये हैं।

(१२) श्रावकप्रज्ञप्ति और निसीथचूर्णि

श्रा. प्र. की टीकाके अन्तर्गत सम्यक्त्वातिचारोंसे सम्बद्ध जो कथाएँ आवश्यकचूर्णिमें उपलब्ध होती हैं वे लगभग उसी रूपमें निसीथचूर्णि (१, पृ. १५ आदि) और पंचाशकचूर्णि (पृ. ४४) में भी उपलब्ध होती हैं। श्रा. प्र. की 'संसयकरणं शंका' आदि गाथा (८७) प्रकृत निसीथचूर्णि (१-२४) में भाष्यगाथाके रूपमें उपलब्ध होती है।

(१३) श्रावकप्रज्ञप्ति और विशेषावश्यकभाष्य

विशेषावश्यकभाष्य यह जिनभद्रक्षमाश्रमण (७वीं शती) विरचित एक महत्त्वपूर्ण विशाल ग्रन्थ है। वह आवश्यकसूत्रके अन्तर्गत प्रथम सामायिक अध्ययन मात्रपर लिखा गया है। उसमें आ. भद्रबाहु विरचित निर्युक्तियोंकी विस्तारसे व्याख्या की गयी है। इसमें प्रसंगानुसार आगमके अन्तर्गत अनेक विषयोंका समावेश हुआ है।

प्रस्तुत श्रा. प्र. में यथाप्रसंग चर्चित कितने ही विषय इस भाष्यसे प्रभावित हैं तथा उसकी कुछ गाथाएँ भी इसमें उसी रूपमें अथवा कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ पायी जाती हैं। यथा—

वि. भाष्यमें सामायिक लाभके प्रसंगमें पल्य, गिरिसरित्, पिपीलिका, तीन मनुष्य, पथ, ज्वर, कोद्रव, जल और वस्त्र इनके दृष्टान्त दिये गये हैं (वि. भा. ११०१, नि. १०७)। आगे वहाँ इन दृष्टान्तोंको

१. देखिए मलयगिरि विरचित वृत्ति सहित आवश्यकसूत्र, पृ. १००, गा. ८३-८६।

यथाक्रमसे स्पष्ट भी किया गया है। श्रा. प्र. की गा. ३५–३७ में पल्यका उदाहरण देकर बन्ध और निर्जराकी हीनाधिकताको दिखलाया गया है। ये तीनों गाथाएँ वि. भाष्यकी स्वोपज्ञ वृत्ति (१२०२–३) में 'असंयतस्य च बहुतरस्य चयः अल्पतरस्य चापचयः, यतोऽभिहितम्' यह कहते हुए उद्धृत की गयी हैं।

श्रा. प्र. की गा. ३१–३३ में यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि कर्मकी जो स्थिति पूर्वमें कही जा चुकी है उसमें जब जीव घर्षण और घूर्णनके निमित्तसे एक कोड़ाकोड़ीको छोड़कर शेष सब सागरोपम कोड़ाकोड़ियोंको क्षीण कर देता है तथा शेष रही उस एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थितिमें भी जब स्तोक मात्र—पल्योपमके असंख्यातवें भाग—को और भी क्षीण कर देता है, तबतक जीवकी कर्मग्रन्थि—कर्मजनित घन राग-द्वेषरूप परिणाम—अभिन्नपूर्व ही रहता है। पश्चात् उसका अपूर्वकरण परिणामके द्वारा भेदन कर देनेपर परम पदके हेतुभूत सम्यक्त्वका नियमसे लाभ होता है। श्रा. प्र. का यह अभिप्राय विशेषावश्यक भाष्यकी ११८८–९३ गाथाओंसे प्रभावित है। गा. ३२ की टीकामें तो हरिभद्र सूरिने 'उक्तं च तत्समयज्ञैः' ऐसा निर्देश करते हुए वि. भा. की 'गंठित्ति सुदुब्भेओ' आदि गाथा (११९३) को उद्धृत भी कर दिया है। श्रा. प्र. की ये गाथाएँ वि. भाष्यमें उपलब्ध होती हैं—

गाथांश	श्रा. प्र.	वि. भा.
केई भणंति गिहिणो	३३३	४२६८
ता कह निज्जुत्तीए	३३४	४२६९
सम्मत्तम्मि य लद्धे	३९०	१२१९
एवं अप्परिवडिए	३९१	१२२०

(१४) श्रावकप्रज्ञप्ति और धर्मसंग्रहणि

ग्रन्थकारके सम्बन्धमें विचार करते हुए यह पहले कहा जा चुका है कि श्रा. प्र. में ऐसी बीसों गाथाएँ हैं जो हरिभद्रसूरि विरचित अन्य ग्रन्थोंमें अभिन्न रूपमें उसी क्रमसे पायी जाती हैं। उनमें प्रथमतः हम धर्मसंग्रहणिको लेते हैं। यह हरिभद्र सूरिके द्वारा प्राकृत गाथाओंमें रचा गया है। इसमें समस्त गाथासंख्या १३६९ है। रचनाशैली प्रायः दार्शनिक है। यथाप्रसंग इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंकी चर्चा की गयी है। ऐसी यहाँ अनेक गाथाएँ हैं जो श्रावकप्रज्ञप्तिमें प्रसंगानुसार उसी क्रमसे पायी जाती हैं। यथा—

धर्मसं.	श्रा. प्र.	धर्मसं.	श्रा. प्र.
६०७–२३	१०–२६	७५४–६३	३३–४२
७४४–४७	२७–३०	७८०	१०१
७५१–५२	३१–३२	७९६–८१४	४३–६१

इस प्रकार दोनों ग्रन्थोंमें लगभग ५४ गाथाएँ समान रूपमें उपलब्ध होती हैं। इनमें गा. १०–२६ कर्मकी मूल-उत्तर प्रकृतियोंसे, २७–३० कर्मस्थितिसे, ३१–३२ कर्मग्रन्थिसे, ३३–४२ सम्यक्त्वलाभ व तद्विषयक शंका-समाधानसे, १०१ जीव व कर्मकी बलवत्तासे और ४३–६१ सम्यक्त्वभेद व उसके चिह्नोंसे सम्बद्ध हैं।

(१५) श्रावकप्रज्ञप्ति व पंचाशक प्रकरण

पंचाशक यह हरिभद्रसूरि द्वारा विरचित ग्रन्थ श्रावकधर्म व जिनदीक्षाविधि आदि १९ पंचाशकोंमें विभक्त है। गाथासंख्या उसकी ९४० है। उसका प्रथम पंचाशक श्रावकधर्मसे सम्बद्ध है। अधिकांश गाथाएँ

उसकी तथा कुछ अन्य पचाशकोंकी श्रा. प्र. में जैसीकी तैसी पायी जाती हैं। इनमें पूर्वार्ध-उत्तरार्धसे मिलकर भी कोई गाथा बन गयी हैं, किसी-किसीमें एक-आध चरण भिन्न है अथवा कुछ शब्दपरिवर्तन ही हैं। यहाँ ऐसी कुछ गाथाओंके अंक दिये जा रहे हैं जो दोनों ग्रन्थोंमें समानरूपसे उपलब्ध होती हैं। इनमें पंचाशकके गाथांक साधारण रूपसे तथा श्रा. प्र. के गाथांक कोष्ठकमें दिये जा रहे हैं—

७ (१०६), ८ (१०७), ९ (१०८), १० (२५८), ११ (२६०), १२ (२६३), १३ (२६५–६६), १४ (२६२), १६ (२७३), २३ (२८९), २४ (२९३), २५ (२९२), २६ (३१२), २७ (३१८), २८ (३२०), २९ (३२१–२२), ३२ (३२७), ३९ (३२८), ४० (३७८), ४१ (३३९), ४२ (३४३), ५० (३४४ व ३६४), १८५ (३४५), १८८ (३४८), १८९ (३४९), १९० (३५०), ४५६ (२९९), ४५९ (३२१), ४६० (३२३)।

यहाँ यह स्मरणीय है कि पंचाशकमें केवल ५० गाथाओं द्वारा श्रावकधर्मकी प्ररूपणा की गयी है, जब कि श्रा. प्र. मे ४०१ गाथाओंके द्वारा उसकी प्ररूपणा की गयी है।

(१६) श्रावकप्रज्ञप्ति और समराइच्चकहा

हरिभद्रसूरिके द्वारा विरचित समराइच्चकहा यह एक प्रसिद्ध पौराणिक कथाग्रन्थ है। इसमे उज्जैनके राजा समरादित्यके नौ पूर्व भवोंके चरित्रका चित्रण बड़ी कुशलतासे ललित भाषामे किया गया है। राजा समरादित्यका जीव प्रथम भवमें क्षितिप्रविष्ट नगरमे पूर्णचन्द्रके राजाके यहाँ गुणसेन नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था। उसी नगरमे एक यज्ञदत्त नामका पुरोहित रहता था। उसके एक अग्निशर्मा नामका कुरूप पुत्र था। उसे गुणसेन कौतूहलवश नचाता व गधेपर बैठाकर वादित्रोंकी मधुर ध्वनिके साथ राजमार्गमे घुमाया करता था। इससे पीडित होकर अग्निशर्माने आर्जव कौण्डिन्य नामक तापस कुलपतिके आश्रममे जाकर तापस दीक्षा ले ली। आगे चलकर उत्तरोत्तर कुछ ऐसी ही अनपेक्षित घटनाएं घटती गयी कि जिससे वह अग्निशर्मा आगेके भवोंमें गुणसेनका महान् शत्रु हुआ। उसने उस समय क्षुधापरीषहसे पीड़ित होकर यह निदान किया कि यदि इस तपका कुछ फल हो सकता है तो उसके प्रभावसे मैं प्रत्येक जन्ममे गुणसेनका वध करूँगा।

एक दिन क्षितिप्रविष्ट नगरमे विजयसेन नामक आचार्यका शुभागमन हुआ। इस शुभ समाचारको जानकर गुणसेन राजा उनकी वन्दनाके लिए गया। वन्दनाके पश्चात् उसने विजयसेनाचार्यकी रूपसम्पदाको देखकर उनके विरक्त होनेका कारण पूछा। तदनुसार उन्होंने अपने विरक्त होनेकी घटना उसे कह सुनायी। उसका प्रभाव गुणसेनके हृदय-पटलपर अंकित हुआ। तब उसने उनसे शाश्वत स्थान और उसके साधक उपायके सम्बन्धमे प्रश्न किया। उत्तरमे उन्होंने परमपदको शाश्वत स्थान बतलाकर उसका साधक उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रस्वरूप धर्मको बतलाया। इस धर्मका उन्होंने गृहिधर्म और साधुधर्मके भेदसे दो प्रकारका बतलाकर उसकी मूल वस्तु सम्यक्त्व निर्दिष्ट किया। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि वह सम्यक्त्व अनादि कर्मसन्तानसे वेष्टित प्राणीके लिए दुर्लभ होता है। इस प्रसंगमे उन्होंने ज्ञानावरणादि आठ कर्मों व उनकी उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थितिका भी निर्देश किया। उक्त कर्मस्थितिके क्रमशः क्षीण होनेपर जब वह एक कोडाकोड़ी मात्र शेष रहकर उसमें भी स्तोक मात्र—पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण—और भी क्षीण हो जाती है तब कही जीवको उस सम्यक्त्वकी प्राप्ति हुआ करती है। इस प्रसंगमें जो वहाँ गद्यभाग उपलब्ध होता है उसकी तुलना श्रा. प्र. की गाथाओंसे की जा सकती है। दोनोंमें शब्दशः समानता है—

एयस्स उण दुविहस्स वि धम्मस्स मूलवत्थु सम्मत्तं । स. क. पृ. ४३ ।

एयस्स मूलवत्थू सम्मत्तं तं च गंठिभेयम्मि । श्रा. प्र. ७ ।

एवंठिइयस्स इमस्स कम्मस्स अहापवत्तकरणेण जया घंसण-घोलणाए कहवि एगं सागरोवम-कोडाकोडिं मोत्तूण सेसाओ खवियाओ हवंति । स. क. पृ. ४४ ।

एवंठिइयस्स जया घंसण-घोलणनिमित्तओ कहवि ।
खविया कोडाकोडी सव्वा इक्कं पमुत्तूणं ॥ श्रा. प्र. ३१

वहाँ सम्यग्दृष्टिके परिणामकी विशेषताको दिखलाते हुए जो आठ गाथाएँ (७२-७९) उद्धृत की गयी है वे प्रस्तुत श्रा. प्र. मे उसी क्रमसे ५३-६० गाथासंख्यामे अंकित पायी जाती हैं ।

तत्पश्चात् वहाँ विजयसेनाचार्यके मुखसे यह कहलाया गया है कि पूर्वोक्त कर्मस्थितिमेंसे भी जब पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र स्थिति और भी क्षीण हो जाती है तब उस सम्यग्दृष्टि जीवको देशविरतिकी प्राप्ति होती है । इतना निर्देश करनेके पश्चात् वहाँ अतिचारोंके नामनिर्देशपूर्वक पाँच अणुव्रतो, तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतोंका भी उल्लेख किया गया है । पश्चात् वहाँ यह कहा गया है कि इस अनुरूप कल्पसे विहार करके परिणामविशेषके आश्रयसे जब पूर्वोक्त कर्मस्थितिमेंसे उसी जन्ममें अथवा अनेक जन्मोंमे भी संख्यात सागरोपम मात्र स्थिति और भी क्षीण हो जाती है तब जीव सर्वविरतिरूप यतिधर्मको—क्षमा-मार्दवादिरूप दस प्रकारके धर्मको—प्राप्त करता है । इस प्रसंगमें जो दो (८०-८१) गाथाएँ वहाँ उद्धृत की गयी हैं वे श्रा. प्र. में ३९०-९१ गाथांकोंमें उपलब्ध होती हैं । ये दोनो गाथाएँ सम्भवतः विशेषावश्यक-भाष्य (१२१९-२०) से ली गयी हैं ।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रस्तुत श्रा. प्र. मे जिस क्रमसे व जिस रूपमें श्रावकधर्म-का विस्तारके साथ विवेचन किया गया है, ठीक उसी क्रमसे व उसी रूपमे उसका विवेचन स. क. में गुणसेन राजाके प्रश्नके उत्तरमे आचार्य विजयसेनके मुखसे भी संक्षेपमें कराया गया है । स. क. का प्रमुख विषय न होनेसे जो वहाँ उस श्रावकधर्मकी संक्षेपमे प्ररूपणा की गयी है वह सर्वथा योग्य है । परन्तु वहाँ जिस पद्धतिसे उसकी प्ररूपणा की गयी है वह श्रा. प्र. की विवेचन पद्धतिसे सर्वथा समान है—दोनोंमे कुछ भी भेद नही पाया जाता है । इस समानताको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

१ जिस प्रकार श्रा. प्र. गा. ६ मे श्रावकधर्मको पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके भेदसे बारह प्रकारका निर्दिष्ट किया गया है उसी प्रकार स. क. में भी उसे बारह प्रकारका निर्दिष्ट किया गया है । यथा—

तत्थ गिहिधम्मो दुवालसविहो । तं जहा—पंच अणुव्वयाइं तिण्णि गुणव्वयाइं चत्तारि सिक्खावयाइं ति । स. क. पृ. ४३ ।

२ श्रा. प्र. गा. ७ मे यदि इस श्रावकधर्मकी मूल वस्तु सम्यक्त्वको बतलाया गया है तो स. क. मे भी उसकी मूल वस्तु सम्यक्त्वको ही निर्दिष्ट किया गया है । यथा—

एयस्स उण दुविहस्स वि धम्मस्स मूलवत्थु सम्मत्तं । स. क. पृ. ४३ ।

३ श्रा. प्र. गा. ८–३० मे जीव और कर्मके अनादि सम्बन्धको उस सम्यक्त्वका निमित्त बतलाकर जिस प्रकारसे आठों कर्मोंकी प्ररूपणा की गयी है ठीक उसी प्रकारसे स. क. में भी वह प्ररूपणा की गयी है । यथा—

तं पुणो अणाइकम्मसंताणवेढियस्स जन्तुणो दुल्लहं हवइ त्ति । तं च कम्मं अट्ठहा । तं जहा— **णाणावरणिज्जं दरिसणावरणिज्जं ......सेसाणं भिन्नमुहुत्तं ति । स. क. पृ. ४३-४४ ।**

४ आगे श्रा. प्र. गा. ३१-३२ मे जिस प्रकार घर्षण-घोलनके निमित्तसे उस उत्कृष्ट कर्मस्थितिके क्षीण होनेपर अभिन्नपूर्व ग्रन्थिका उल्लेख किया गया है उसी प्रकार स. क. में भी उसका उल्लेख किया गया है। यथा—

एवंठिइयस्स य इमस्स कम्मस्स अहपवत्तकरणेण जया घंसण-घोलणाए कहवि एगं सागरोवम-कोडाकोडिं मोत्तूण सेसाओ खवियाओ हवंति तीसे वि य णं थोवमित्ते खविए तया घणराय-दोसप-रिणाम....कम्मगंठी हवइ। स. क. पृ. ४४।

५ श्रा. प्र. गा. ३२ की टीकामें प्रसंगवश जिस प्रकार 'गंठि त्ति सुदुब्भेओ' आदि विशेषावश्यकभाष्य-की गा. ११९५ उद्धृत की गयी है उसी प्रकारसे वह स. क. (पृ. ४४) मे भी उद्धृत की गयी है।

६ इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि स. क. में प्रसंगानुसार जिन अनेकों गाथाओंको उद्धृत किया गया है वे प्रस्तुत श्रा. प्र मे उसी प्रकारसे उपलब्ध होती हैं। जैसे—श्रा. प्र. ५४-६० और स. क. ७५-८१ (पृ. ४५-४६)।

(१७) श्रावकप्रज्ञप्ति और पंचवस्तुक

हरिभद्रसूरि द्वारा विरचित इस पंचवस्तुक ग्रन्थमे समस्त गाथाएँ १७१४ हैं। इसके पाँच अधिकारोंमें प्रव्रज्याविधि, दैनिक अनुष्ठान, व्रतविषयक प्रस्थापना, अनुयोगगणानुज्ञा और संलेखना इन पाँच वस्तुओंकी प्ररूपणा की गयी है, इसीलिए पंचवस्तुक यह उसका सार्थक नाम है। श्रा. प्र. के अन्तर्गत ३५६–५९ ये चार गाथाएँ उक्त पंचवस्तुकमे १५३–५९ गाथाओंमें उपलब्ध होती है।

'जइ जिणमयं पवज्जइ' इत्यादि गाथा पंचवस्तुकमें १७१वीं गाथाके रूपमें अवस्थित है। यह गाथा प्रस्तुत श्रा. प्र. की टीका (६१) मे हरिभद्रके द्वारा उद्धृत की गयी है। उक्त गाथा समयप्राभृतकी अमृतचन्द्रसूरि द्वारा विरचित आत्मख्याति टीका (१२) में भी पायी जाती है। वहाँ उसका उत्तरार्ध कुछ भिन्न है।

(१८) श्रावकप्रज्ञप्ति और धर्मबिन्दु

हरिभद्रसूरिविरचित यह धर्मबिन्दु प्रकरण एक सूत्रात्मक ग्रन्थ है, जो संस्कृतमें लिखा गया है। वह आठ अध्यायोंमें विभक्त है। गद्यात्मक समस्त सूत्रोंकी संख्या उसकी ५४२ है। प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भ और अन्तमें ३–३ अनुष्टुप् श्लोक भी हैं, जिनकी संख्या ४८ है। इसके तीसरे अध्यायमें अणुव्रतादिरूप विशेष गृहस्थधर्मकी जो प्ररूपणा की गयी है वह प्रायः श्रा. प्र. के ही समान है। जैसे—

जिस प्रकार धर्मबिन्दुमें अणुव्रतादि द्वादशात्मक गृहस्थधर्ममें दिग्व्रत, भोगोपभोगप्रमाण और अनर्थ-दण्डव्रत इन तीनको गुणव्रत (३–१७) तथा सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभागव्रत इन चारको शिक्षापद (३–१८) निर्दिष्ट किया गया है उसी प्रकार श्रा. प्र. मे भी उक्त दिग्व्रतादि तीनको गुणव्रत (२८०, २८४ व २८९) तथा उक्त सामायिक आदि चारको शिक्षापद (२९२, ३१८, ३२१ व ३२५–२६) कहा गया है। इनके स्वरूप और अतिचारों आदिका निरूपण भी दोनों ग्रन्थोंमें समान रूपमें पाया जाता है, जबकि तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (७–१६) में इनका उल्लेख गुणव्रत और शिक्षापदके नामसे नहीं किया गया तथा क्रममें भी वहाँ कुछ भिन्नता है। इसके अतिरिक्त धर्मबिन्दुमे श्रावकके लिए नमस्कारमन्त्रके उच्चारणपूर्वक जागने (३–४३), विधिपूर्वक चैत्यवन्दन (३–४४), चैत्य-साधुवन्दन (३–५०) गुरुके समीपमें प्रत्याख्यानके प्रकट करने और जिनवाणीके सुनने (३–५२) आदिका जिस प्रकार विधान किया गया है उसी प्रकार श्रा. प्रज्ञप्तिमें भी कुछ आगे-पीछे इन सबका विधान किया गया है (३३९–५२)।

(१९) श्रावकप्रज्ञप्ति और प्र. सा. की जयसेनवृत्ति

आ. कुन्दकुन्द विरचित प्रवचनसारके ऊपर आ. जयसेन (१२वीं शती) की एक वृत्ति है। इसमें (३–१८) 'उच्चालयम्मि पाए' इत्यादि गाथाके साथ 'न य तस्स तन्निमित्तो' इत्यादि दूसरी गाथा भी उद्धृत की गयी है। ये दोनों गाथाएं प्रकृत श्रा. प्र. में २२३–२४ गाथांकोंमें उपलब्ध होती हैं।

(२०) श्रावकप्रज्ञप्ति और स्थानांगवृत्ति

अभयदेवसूरि (१२वीं शती) विरचित स्थानांगकी वृत्ति (३,२,२९, पृ. ५५) में श्रा. प्र. की 'जेसिमवड्ढो पुग्गल' इत्यादि गाथा (७२) को उद्धृत किया है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने पंचाशककी अपनी वृत्तिमें भी श्रा. प्र. की 'संपत्तदंसणाई' इत्यादि गाथा (२) को 'पूज्यैरेवोक्तम्' इस आदरसूचक वाक्यके साथ उद्धृत किया है।

(२१) श्रावकप्रज्ञप्ति और योगशास्त्रविवरण

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित (१२-१३वीं शती) योगशास्त्रके ऊपर उनके द्वारा स्वयं टीका की गयी है जो स्वो. विवरणके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें सम्यग्दर्शनके प्रसंगमें (२-१५, पृ. १८२–८३) उपशमसंवेग आदिसे सम्बद्ध जिन पांच गाथाओंको उद्धृत किया गया है वे प्रस्तुत श्रा. प्र. में ५५–५९ गाथांकोंमें उपलब्ध होती हैं, जो सम्भवतः वहींसे उद्धृत की गयी हैं। इसी प्रकार श्रा. प्र. की ३४८–४९ ये दो गाथाएँ भी वहाँ (३–१२०, पृ. २०५) उद्धृत की गयी हैं।

(२२) श्रावकप्रज्ञप्ति और आव. सूत्रकी मलय. वृत्ति

आवश्यकसूत्रगत निर्युक्तियोंकी विस्तृत व्याख्या मलयगिरि (१२–१३वीं शती) सूरिके द्वारा अपनी वृत्तिमें की गयी है। वहाँ (नि. १०७, पृ. ११३–१४) पर श्रा. प्र. की क्रमसे ३५–४१ गाथाओंको उद्धृत किया गया है। इसी सिलसिलेमें ३९०–९१ गाथाओंको भी उद्धृत किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये दोनों गाथाएँ विशेषावश्यकभाष्यमें १२१९ व १२२० गाथांकोंमें उपलब्ध होती हैं।

उक्त मलयगिरि सूरिने 'जेसिमवड्ढो पुग्गल' इत्यादि श्रा. प्र. की गाथा (७२) को अपनी पंचसंग्रहकी वृत्ति (२–१३, पृ. ५४) में भी उद्धृत किया है।

(२३) श्रावकप्रज्ञप्ति और सागारधर्मामृत

सागारधर्मामृत यह पं आशाधर (१३वी शती) विरचित एक विस्तृत श्रावकाचारविषयक ग्रन्थ है। इसकी रचनामें पं. आशाधरने अपने पूर्ववर्ती प्रायः सभी श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थोंका—जैसे आ. समन्तभद्र-विरचित रत्नकरण्डक, प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्ति अमृतचन्द्रसूरिविरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सोमदेव सूरिविरचित उपासकाध्ययन, आ. वसुनन्दी विरचित श्रावकाचार और हेमचन्द्रसूरिविरचित योगशास्त्र इत्यादिका—उपयोग किया है[१]। यह ग्रन्थ आठ अध्यायोंमें विभक्त है।

पं. आशाधरने सम्पूर्ण गृहस्थधर्मका एक श्लोक (१–१२) में निर्देश करते हुए कहा है कि निर्मल सम्यक्त्व; निर्मल अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत तथा मरणसमयमें सल्लेखना; यह सम्पूर्ण गृहस्थधर्म है। पं. आशाधरने उपलब्ध समस्त श्रावकाचारोंका परिशीलन करके प्रकृत सागारधर्मामृतकी रचनामें अपनी स्वतन्त्र बुद्धिका भी कुछ उपयोग किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने श्रावकके पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये जो तीन भेद निर्दिष्ट किये हैं (१–२०) वे इस प्रकारसे सम्भवतः दूसरे ग्रन्थमें नहीं मिलेंगे।

---

१. देखिए अनेकान्त वर्ष २, किरण ३-४ में प्रकाशित 'सागारधर्मामृतपर इतर श्रावकाचारोंका प्रभाव' शीर्षक लेख।

श्रा. प्र. में सामान्यसे जिस बारह प्रकारके श्रावकधर्मकी प्ररूपणा की गयी है वह यहाँ नैष्ठिक (द्वितीय) श्रावकके धर्मके अन्तर्गत है। यहाँ नैष्ठिक—निष्ठापूर्वक श्रावकधर्मके परिपालक—श्रावकके दर्शनिक आदि ग्यारह स्थान—जिन्हें श्रावकप्रतिमा कहा जाता है—निर्दिष्ट किये गये हैं। (३, २-३)। इनमें प्रथम दर्शनिक श्रावकका वर्णन यहाँ तीसरे अध्यायमें विस्तारसे किया गया है।

दूसरे व्रती श्रावकके प्रसंगमें पूर्वोक्त पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप बारह प्रकारके श्रावकधर्मकी चर्चा चौथे और पाँचवें इन दो अध्यायोंमें की गयी है। छठे अध्यायमें द्वितीय (नैष्ठिक) श्रावककी दिनचर्याका निर्देश करते हुए अन्तमें उसे निर्वेदादिभावनाके लिए प्रेरित किया गया है। तीसरेसे लेकर ग्यारहवें श्रावक तककी प्ररूपणा यहाँ सातवें अध्यायमें की गयी है। अन्तिम आठवें अध्यायमें समाधिमरण (सल्लेखना) को सिद्ध करनेवाले तीसरे साधक श्रावकका विस्तारसे विवेचन किया गया है।

अब हम यहाँ श्रा. प्र. से इसकी कहाँ तक समानता है, इसका संक्षेपमें विचार करना चाहेंगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि पं. आशाधरने जिस योगशास्त्रका पर्याप्त उपयोग किया है उसका आधार प्रस्तुत श्रा. प्र. भी रही है। सर्वप्रथम यहाँ हम उस विशेषतापर विचार करेंगे जो श्रा. प्र. में तो नहीं देखी जाती, पर यहाँ अनिवार्य रूपसे वह देखी जाती है। वह यह है—

श्रा. प्र. में कहीं किसी भी प्रसंगमें उन मद्य, मांस, मधु और रात्रिभोजन आदिकी चर्चा नहीं की गयी जिन्हें जैन सम्प्रदायमें निकृष्ट माना गया है। हाँ, उसकी टीका (२८५) में वृद्धसम्प्रदायके अनुसार उपभोग-परिभोगपरिमाणके प्रसंगमें उत्सर्ग व अपवादके रूपमें भोजनके विधानको दिखलाते हुए अशनादिरूप चार प्रकारके आहारमें उक्त मद्य, मांस व मधु आदिका परिहार अवश्य कराया गया है। योगशास्त्रमें भी उनका हेयरूपमें विस्तृत वर्णन देखा जाता है (३, ६–७०)। इसी प्रकार इस सागारधर्मामृतमें भी यथाप्रसंग उनकी निकृष्टताको बतलाकर उनके परिहारकी प्रेरणा की गयी है। यहाँ दूसरे अध्यायमें प्रथम पाक्षिक—देशसंयमको प्रारम्भ करनेवाले—श्रावकके आठ मूलगुणोंमें ही उक्त मद्यादिकी सदोषताका विचार करते हुए उनका परित्याग कराया गया है (२, २–१९)[1]। श्रावकप्रज्ञप्तिमें प्राचीन रत्नकरण्डक (६६) में भी उनके परित्यागको आठ मूलगुणोंके अन्तर्गत निर्दिष्ट किया गया है तथा आगे चलकर भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें पुनः उनके परित्यागकी प्रेरणा की गयी है। सा. ध. में भी इसी प्रकारसे उनका भोगोपभोगपरिमाणव्रतके प्रसंगमें (५–१५) पुनः परित्याग कराया गया है। इसके पूर्व प्रथम दार्शनिक श्रावकके लिए भी वहाँ उपर्युक्त मद्यादि तथा उनसे सम्बद्ध अन्य मद्यपायी आदिके संसर्ग आदिको भी हेय बतलाया गया है (३, ९–१३)।

प्रकृत श्रा. प्रज्ञप्तिके साथ सा. ध. की जो समानता दिखती है वह इस प्रकार है—

१. श्रा. प्र. और योगशास्त्रमें बारह व्रतोंके स्वरूप व उनके अतिचारोंका जिस प्रकारसे निरूपण किया गया है उसी प्रकार सा. ध. (अध्याय ४–५) में भी द्वितीय नैष्ठिक श्रावकके अनुष्ठानके रूपमें उनका निरूपण कुछ विस्तारसे किया गया है।

२. सा. ध. की स्वो. टीकामें जो व्रतातिचारोंको विशेष विकसित किया गया है वह प्रस्तुत श्रा. प्र. अथवा ऐसे ही किसी अन्य ग्रन्थके आधारसे किया गया है। कहीं-कहीं तो वह छायानुवाद-जैसा दिखता है। उदाहरणस्वरूप अहिंसाणुव्रतके अतिचारोंके प्रसंगमें इस सन्दर्भका मिलान किया जा सकता है—

---

१. श्रावकके मूलगुणोंका निर्देश सम्भवतः किसी श्वे० ग्रन्थमें नहीं किया गया है। हाँ, त. भाष्य (७–१६) में जो दिग्व्रतादि सातको उत्तर व्रत कहा गया है उससे पाँच अणुव्रतों को मूल व्रत कहा जा सकता है।

तदत्रायं पूर्वाचार्योक्तविधिः—बंधो दुविहो दुपयाणं चउप्पयाणं च अट्ठाए अणट्ठाए। अणट्ठाए ण वट्टए बंधिउं। अट्ठाए दुविहो सावेक्खो णिरवेक्खो य। णिरवेक्खो णिच्चलं धणियं जं बंधइ। सावेक्खो जं दामगंठिणा, जं च सक्केइ पलिवणगादिसु मुंचिउं छिंदिउं वा।......(श्रा. प्र. २५८ की टीका)

अत्रायं विधिः—बन्धो द्विपदानां चतुष्पदानां वा स्यात्। सोऽपि सार्थकोऽनर्थको वा। तत्रानर्थकस्तावच्छ्रावकस्य कर्तुं न युज्यते। सार्थकः पुनरसौ द्वेधा सापेक्षो निरपेक्षश्च। तत्र सापेक्षो यो दामग्रन्थ्यादिना विधीयते, यश्च प्रदीपनादिषु मोचयितुं छेत्तुं वा शक्यते। निरपेक्षो यन्निश्चलमत्यर्थमसौ बध्यन्ते......(सा. ध. स्वो. टीका ४–१५)।

यहाँ पूर्वोक्त श्रा. प्र. गत सन्दर्भके अधिकांश पदोंका संस्कृतमें प्रायः रूपान्तर किया गया है व अभिप्राय दोनोंका सर्वथा समान है।

३. श्रा. प्र. (२६०–२६१) में सत्याणुव्रतके स्वरूपका निर्देश करते हुए कन्या-अलीक, गो-अलीक, भू-अलीक, न्यासहरण और कूटसाक्षित्वको परित्याज्य निर्दिष्ट किया गया है।

सा. ध. (४–३९) में भी उसके स्वरूपको प्रकट करते हुए उन पाँचोंको प्रायः उन्हीं शब्दोंमें गर्भित कर लिया गया है। उसकी स्वो. टीकामें पृथक्-पृथक् उनका स्वरूप भी उसी रूपमें निर्दिष्ट किया गया है।

४. श्रा. प्र. गा. ३२६ की टीकामें अतिथिके स्वरूप प्रकट करते हुए कहा गया है कि जो भोजनके लिए भोजनकालमें उपस्थित हुआ करता है उसे अतिथि कहा जाता है। अपने निमित्तसे भोजनको निर्मित करनेवाले गृहस्थके लिए साधु ही अतिथि होता है। ऐसा निर्देश करते हुए वहाँ आगे 'तिथि-पर्वोत्सवाः सर्वे' इत्यादि श्लोकको उद्धृत किया गया है।

सा. ध. (५–४२) में उक्त अतिथि शब्दके निरुक्त अर्थको प्रकट करते हुए कहा गया है कि जो ज्ञानादिकी सिद्धिके कारणभूत शरीरकी स्थितिके निमित्त भोजनको प्राप्त करनेके लिए स्वयं श्रावकके घर जाता है (*ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय यः स्वयम्। यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः*) वह अतिथि कहलाता है। प्रकारान्तरसे यहाँ यह भी कहा गया है कि अथवा जिसके लिए कोई तिथि नहीं है उसे अतिथि जानना चाहिए। यह कहते हुए प्रकृत श्लोककी स्वो. टीकामें उक्त 'तिथि-पर्वोत्सवाः सर्वे' इत्यादि श्लोकको भी उद्धृत किया गया है। यह प्रसंग उक्त श्रा. प्र. की टीकासे प्रभावित रहा दिखता है।

५. श्रा. प्र. (३२९-३०) में बारह व्रतोंकी प्ररूपणाके पश्चात् गृहिप्रत्याख्यानके कृत, कारित व अनुमत इन तीन करणों तथा मन, वचन व काय इन तीन योगोंके साथ वर्तमान, भूत और भविष्यत् इन तीन कालोंके संयोगसे १४७ भंगोंका निर्देश किया गया है।

सा. ध. (४–५) में भी सामान्यसे पाँच अणुव्रतोंके स्वरूपका निर्देश करते हुए कहा गया है कि मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमत इनके आश्रयसे स्थूल वध आदिसे विरत होनेपर क्रमसे अहिंसा आदि पाँच अणुव्रत होते हैं। प्रकृत श्लोककी स्वो. टीकामें इसका स्पष्टीकरण करते हुए मन, वचन और काय इनमें-से प्रत्येकके आश्रित कृत, कारित और अनुमत इनके संयोगसे ४९ भंग दिखलाये गये हैं। वे चूँकि वर्तमान, भूत और भविष्यत् इन तीन कालोंसे सम्बद्ध रहते हैं, इसलिए उन्हें तीन कालोंसे गुणित करनेपर अहिंसाणुव्रतके वे समस्त भंग १४७ (४९ × ३) होते हैं।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थोंके इस विवेचनमें पर्याप्त समानता है। विशेष इतना है कि श्रा. प्र. में जहाँ बारह व्रतोंका निरूपण कर चुकनेके पश्चात् प्रत्याख्यानके रूपमें प्रत्येक व्रतके ये भंग दिखलाये गये हैं वहाँ सा. ध. में प्रथम अहिंसाणुव्रतके प्रसंगमें इन ही भंगोंको दिखलाकर उसके समान सत्याणुव्रत आदि शेष अन्य व्रतोंमें भी इनको योजित करनेका निर्देश कर दिया गया है। यथा—एते च भङ्गा अहिंसाणुव्रतवद्व्रतान्तरेष्वपि द्रष्टव्याः।

इस प्रसंगमें श्रा. प्र. की टीकामें अन्यत्र कहींसे तीन गाथाओंको उद्धृत कर उनके द्वारा उक्त ४९ भंगोंको तीन कालोंसे क्यों गुणा किया जाता है, इसका स्पष्टीकरण जिन शब्दोंमें किया गया है लगभग वैसे ही शब्दोंमें उसका स्पष्टीकरण सा. ध. की इस स्वो. टीकामें भी इस प्रकारसे किया गया है—त्रिकाल-विषयता चातीतस्य निन्दया साम्प्रतिकस्य संवरणेनानागतस्य च प्रत्याख्यानेनेति।

६. श्रा. प्र. गा. ३४३-४४ मे श्रावककी दिनचर्याको दिखलाते हुए कहा गया है कि प्रातः-समयमें नमस्कार मन्त्रके उच्चारणके साथ शय्यासे उठकर 'मैं श्रावक हूँ' ऐसा स्मरण करते हुए व्रतादिमें योग देना चाहिए व विधिपूर्वक चैत्यवन्दन करके प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार प्रातः-कालीन कृत्यको स्वयं घरपर करके तत्पश्चात् चैत्योंकी पूजा आदि करे और तब साधुके समीपमें उस प्रत्याख्यानको प्रकाशित करे जिसे पूर्वमें स्वयं ग्रहण किया था।

लगभग यही अभिप्राय सा. धा. (६, १-११) मे भी कुछ विस्तारसे प्रकट किया गया है। उसका प्रथम श्लोक यह है—

> ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वृत्तपंचनमस्कृतिः।
> कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत ॥

वैसे इस प्रसंगमें श्रावकप्रज्ञप्तिकी अपेक्षा योगशास्त्र (३-१२२) का अनुसरण सा. ध. में अधिक किया गया प्रतीत होता है।

७. श्रा. प्र. (२८५) मे उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रतके भोजन व कर्मकी अपेक्षा दो भेदोंका निर्देश करके आगेकी दो (२८७-८८) गाथाओंमें कर्मके आश्रयसे अंगारादि १५ निषिद्ध कर्मोंके परित्यागकी प्रेरणा की गयी है।

इस प्रसंगमें सा. ध. (५, २१-२३) में किन्हीं श्वे. आचार्योंके अभिमतानुसार खरकर्म—प्राणिविघातक क्रूर कर्म—के व्रतका उल्लेख करते हुए वनजीविका व अग्निजीविका आदि उन १५ मलों (अतिचारों) के छोड़नेकी प्रेरणा की गयी है व आगे इसी प्रसंगमें यह कहा गया है कि ऐसा कितने ही श्वे. आचार्य कहते हैं। पर वह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसे सावद्यकर्म अगणित हैं, अर्थात् उनकी कोई सीमा न होनेसे उक्त १५ कर्मोंका ही निषेध करना उचित नहीं है। फिर आगे विकल्परूपमें यह भी कह दिया है कि अथवा अतिशय जडबुद्धियोंको लक्ष्य करके उनका प्रतिपादन करना भी उचित है।

इसका आधार सम्भवतः श्रा. प्र. का उपर्युक्त प्रसंग रहा है। कारण यह कि वहाँ उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रतके प्रसंगमें कर्मकी अपेक्षा उन पन्द्रह कर्मोंका उल्लेख करते हुए उन्हें हेय कहा गया है। वहाँ गा. २८८ की टीकामें 'भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादेव अवसेयः, स चायम्' इस प्रकारकी सूचना करते हुए सम्भवतः आवश्यकचूर्णि द्वारा उन कर्मोंके स्वरूपको स्पष्ट किया गया है। पूर्वोक्त सा. ध. की टीकामें भी उनका स्वरूप लगभग उसी प्रकार निर्दिष्ट किया गया है। अन्तमें श्रा. प्र. की उक्त टीकामें यह भी कहा गया है कि इस प्रकारके सावद्य कर्मोंका यह प्रदर्शन मात्र है—इसे उनकी सीमा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि इस प्रकारके बहुत-से सावद्य कर्म हेय हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती है।

सा. ध. की स्वो. टीकामें जो विकल्प रूपसे उक्त अभिप्राय प्रकट किया गया है वह श्रा. प्र. की टीकागत उस अभिप्रायसे सर्वथा मिलता हुआ है।

८. बारह व्रतों, दिनचर्या और विहारादिविषयक सामाचारीके निरूपणके पश्चात् श्रा. प्र. (३७८-८५) में एक शंका-समाधानके साथ अन्तिम अनुष्ठानस्वरूप संलेखनाकी भी प्ररूपणा की गयी है।

यह संलेखना या सल्लेखनाकी प्ररूपणा सा. ध. के अन्तिम ८वें अध्यायमें बहुत विस्तारसे की गयी है। पूर्वसूचित श्रावकके तीन भेदोंमें अन्तिम भेदभूत साधक श्रावकके लिए उसका वहाँ विधान किया गया है।

७. टीका और टीकाकार हरिभद्र सूरि

प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्तिके ऊपर हरिभद्र सूरिके द्वारा एक संक्षिप्त टीका लिखी गयी है जो प्रस्तुत संस्करणमें मूल ग्रन्थके साथ प्रकाशित की जा रही है। जैसा कि टीकाका 'दिक्प्रदा' यह नाम है, तदनुसार वह दिशाका बोधमात्र कराती है। उसमें प्रायः व्याख्येय तत्त्वका विशेष स्पष्टीकरण न करके गाथागत पद-वाक्योंको उद्धृत करते हुए शब्दार्थमात्र किया गया है। अभिध्येयका अभिप्राय उसमें बहुत कम प्रकट किया गया है। उदाहरणार्थ इस गाथाकी टीकाको देखिए—

तं जाविह संपत्तो न जुज्जए तस्स निग्गुणत्तणओ।
बहुतरबंधाओ खलु सुत्तविरोहा जओ भणियं ॥३४॥

टीका—तं ग्रन्थिम्, यावदिह विचारे, संप्राप्तिर्न युज्यते न घटते, कुतः? तस्य निर्गुणत्वात्—तस्य जीवस्य सम्यग्दर्शनादिगुणरहितत्वात्, निर्गुणस्य च बहुतरबन्धात्, खलुशब्दोऽवधारणे—बहुतर-बन्धादेव, इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम्, सूत्रविरोधात् अन्यथा सूत्रविरोध इत्यर्थः, कथमिति आह—यतो भणितं यस्मादुक्तमिति।

सर्वसाधारणके लाभके लिए टीकामें कुछ अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता थी। पर हरिभद्रसूरिकी प्रायः यह पद्धति ही रही है, भले ही चाहे वह स्वोपज्ञ टीका हो अथवा किसी अन्य ग्रन्थकार द्वारा निर्मित ग्रन्थकी टीका हो। हरिभद्र सूरिकी अपेक्षा मलयगिरि सूरि विरचित टीकाओंमें कुछ विशेषता देखी जाती है। उन्होंने अपनी टीकाओंमें व्याख्येय तत्त्वको यथासम्भव अधिक स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु हरिभद्र सूरिने जहाँ कुछ अधिक कहनेकी आवश्यकता समझी वहाँ अपनी ओरसे कुछ विशेष न कहकर पूर्व-परम्परासे प्राप्त सन्दर्भोंको जैसा का तैसा उद्धृत कर दिया है। ऐसा सम्भवतः उन्होंने अपनी प्रामाणिकताको सुरक्षित रखनेकी दृष्टिसे किया है, ऐसा प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत श्रा. प्र. की ही गा. १३ में निर्दिष्ट दर्शनावरणके निद्रादि भेदोंके स्वरूपको अपने शब्दोंमें न व्यक्त करके किसी प्राचीन ग्रन्थसे दो गाथाओं-को उद्धृत करके उनके द्वारा प्रकट किया गया है। इसी प्रकार गा. ९१ में 'पेयापेय' तथा गा. ९३ में राजा व अमात्य, विद्यासाधक श्रावक व श्रावकसुता, चाणक्य और सौराष्ट्र श्रावक ये पाँच उदाहरण शंका-कांक्षादि अतिचारोंके स्पष्टीकरणमें दिये गये हैं। हरिभद्र सूरिने अपनी टीकामें इनकी कथाओंको अपने स्वयंके शब्दोंमें न लिखकर सम्भवतः उन्हें किसी 'अन्य ग्रन्थसे उद्धृत कर दिया है। यही बात गा. ११५ में निर्दिष्ट 'गाथापति-सुत-चोरग्रहण-मोचन' विषयक कथाके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। इस गाथाकी टीकाके अन्तमें तो उन्होंने अपनी प्रामाणिकताको सुरक्षित रखते हुए यह स्पष्ट भी कर दिया है कि यह अपनी बुद्धिसे कल्पना नहीं की गयी है, सूत्रकृतांगमें वैसा कहा गया है, इत्यादि।

इसी प्रकार आगे भी उन्होंने 'तत्र वृद्धसम्प्रदायः' (२८३), 'तथा च वृद्धसम्प्रदायः' (२८५), 'भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादेव अवसेयः स चायम्' (२८८), 'इह च सामाचारी, एत्थ सामायारी, एत्थ सामायारी, एत्थ वि सामायारी' (२९१), 'एत्थ पुण सामायारी' (२९२), 'भावत्थो पुण इमो' (३२२), 'एत्थ भावणा' (३२४), 'एत्थ सामायारी' (३२६), '....भणितमागमे, तच्चेदं' (३८४) इत्यादि प्रकारकी सूचना करते हुए कितने ही सन्दर्भोंको उद्धृत किया है जो सम्भवतः आवश्यकचूर्णि आदिके हो सकते हैं।

हरिभद्र सूरि

उपर्युक्त टीकाके कर्ता हरिभद्र सूरि हैं, यह निश्चित है। जैसी कि पीछे 'ग्रन्थकार' शीर्षकमें पर्याप्त विचार-विमर्शके साथ सम्भावना व्यक्त की गयी है, हरिभद्र सूरि मूल ग्रन्थके भी कर्ता हो सकते हैं।

हरिभद्र सूरि जन्मतः वैदिक धर्मानुयायी ब्राह्मण विद्वान् थे। निवासस्थान उनका चित्रकूट रहा है। उन्होंने वैदिक साहित्यका गम्भीर अध्ययन किया था। सौभाग्यसे एक बार उन्हें याकिनी महत्तरा नामकी विदुषी साध्वीके दर्शनका सुयोग प्राप्त हुआ। उसके साथ जो उनकी धार्मिक चर्चा हुई उससे वे बहुत प्रभावित हुए। इस प्रकारसे वे वैदिक सम्प्रदायको छोडकर जैनधर्ममें दीक्षित हो गये। उनके दीक्षादाता गुरु जिनदत्त सूरि रहे हैं। हरिभद्र सूरि विरचित आवश्यकसूत्रकी टीकाकी समाप्तिसूचक अन्तिम पुष्पिकामें उन्हें श्वे. आचार्य जिनभटके निगदानुसारी और विद्याधरकुलतिलक आचार्य जिनदत्तका शिष्य निर्दिष्ट किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हरिभद्र सूरिके विद्यागुरु जिनभट और दीक्षागुरु जिनदत्त रहे हैं। संस्कृत भाषाके तो वे पूर्वमें ही अधिकारी विद्वान् रहे हैं। पश्चात् जैनधर्ममें दीक्षित हो जानेपर उन्होंने प्राकृतका भी अच्छा अभ्यास कर लिया था। उनकी जैनागमविषयक कुशलता स्तुत्य रही है। इतर दर्शनोंका अध्ययन उनका पूर्वमें ही रहा है। इस प्रकार प्रखर प्रतिभासे सम्पन्न वे बहुश्रुत विद्वान् हुए। संस्कृत और प्राकृतके अधिकारी विद्वान् होनेसे उन्होंने इन दोनों ही भाषाओंमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। दर्शन, साहित्य, न्याय और योग-जैसे अनेक विषयोंमें उनकी प्रतिभा निर्बाध गतिसे सचार करती रही है। यही कारण है जो उनके द्वारा विरचित इन सभी विषयोंके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। मूल ग्रन्थोंकी रचनाके साथ उन्होंने आवश्यकसूत्र, प्रज्ञापना और दशवैकालिक आदि अनेक आगम ग्रन्थोंपर टीका भी की है। इन टीकाओंमें उन्होंने सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थोंके उद्धरण दिये हैं, जिससे उनकी बहुश्रुतताका परिचय सहजमें मिल जाता है।

याकिनी महत्तराको उन्होंने अपनी द्वितीय जन्मदात्री धर्ममाता माना है। उनके इस महोपकारकी स्मृतिस्वरूप उन्होंने प्रायः सभी स्वनिर्मित ग्रन्थों और टीकाओंके अन्तिम पुष्पिका वाक्योंमें अपनेको श्वेताम्बर मतानुयायी याकिनी महत्तराका सूनु निर्दिष्ट करके कृतज्ञताका भाव व्यक्त किया है।

उनका समय ई. सन् ७०० से ७७० माना जाता है। कुवलयमाला (शक सं. ७००, ई. सन् ७७८) के कर्ता उद्योतन सूरिके वे कुछ समकालीन रहे हैं[1]। उनके द्वारा निर्मित कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ और टीकाएँ इस प्रकार हैं—

मूल ग्रन्थ

१. धर्मसंग्रहणी	७. सम्बोध प्रकरण	१३. लोकतत्त्वनिर्णय
२. पचाशकप्रकरण	८. उपदेश पद	१४. सम्बोधसप्तति प्रकरण
३. पंचवस्तुकप्रकरण	९. षड्दर्शनसमुच्चय	१५. समराइच्चकहा
४. धर्मबिन्दु प्रकरण	१०. शास्त्रवार्तासमुच्चय	१६. योगविंशिका
५. अष्टक प्रकरण	११. अनेकान्तजयपताका	१७. योगदृष्टिसमुच्चय
६. षोडशक प्रकरण	१२. अनेकान्तवादप्रवेश	१८. योगबिन्दु

टीका ग्रन्थ

१. नन्दीसूत्र	४. आवश्यक सूत्र	७. अनुयोगद्वार
२. पाक्षिक सूत्र	५. दशवैकालिक	८. ललितविस्तरा
३. प्रज्ञापना सूत्र	६. पंचसूत्र	९. तत्त्वार्थवृत्ति



१. श्रीहरिभद्राचार्यस्य समयनिर्णयः, पृ. १-२३ (जैन साहित्यशोधक समाज, पूना) जैन साहित्य संशो, भाग १, अंक १, पृ. ५८ तथा 'जैन साहित्यका बृहद् इतिहास' भाग ३, पृ. ३५६।

विषय-सूची

६३–६४ तत्त्वार्थोंके नामोल्लेखपूर्वक जीवके भेद-प्रभेद ।
६५ संसारी जीवोंकी प्ररूपणामें भव्यादि द्वारोंका निर्देश ।
६६–६७ भव्य द्वारमें भव्य-अभव्य जीवोंका स्वरूप ।
६८–६९ आहारक द्वारमें आहारक-अनाहारक जीवोंका निर्देश करते हुए उनके कालका उल्लेख ।
७०–७१ पर्याप्त द्वारमें अपर्याप्त और पर्याप्त जीवोंका उल्लेख ।
७२–७३ शुक्लपाक्षिक द्वारमें शुक्लपाक्षिक व कृष्णपाक्षिक जीवोंका स्वरूप व उत्पत्ति-स्थान ।
७४–७५ सोपक्रम द्वारमें निरुपक्रम और सोपक्रम जीवोंका उल्लेख ।
७६–७७ मुक्त जीवोंके तीर्थंकरादि भेदोंका उल्लेख ।
७८ धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार अजीवोंका स्वरूप ।
७९ आस्रवका स्वरूप व उसके दो भेद ।
८० बन्धका स्वरूप व उसके चार भेद ।
८१ संवरका स्वरूप व उसके हेतु ।
८२ निर्जराका स्वरूप ।
८३ मोक्षका स्वरूप ।
८४–८५ इन तत्त्वार्थोंके श्रद्धान-अश्रद्धानसे होनेवाले गुणों व गुणाभावकी सूचना ।
८६ सम्यक्त्वके शंकादि पाँच अतिचार ।
८७ शंका, कांक्षा और विचिकित्साका स्वरूप ।
८८ परपाषण्डप्रशंसा और परपाषण्डसंस्तवका स्वरूप ।
८९–९१ शंकाकी अतिचारताको प्रकट करते हुए उससे सम्भव पारलौकिक और ऐहिक दोषोंका दिग्दर्शन ।
९२–९३ कांक्षा आदि शेष चारकी अतिचारताको प्रकट करते हुए सोदाहरण उनके दोषोंका दिग्दर्शन ।
९४–९५ साधर्मिक-अनुपबृंहण आदि अन्य अतिचारोंकी भी सूचना ।
९६ मुमुक्षुको इन अतिचारोंके छोड़ देनेकी प्रेरणा ।
९७ सम्यक्त्वरूप शुभ परिणामके होनेपर संक्लेशके अभावमें अतिचारोंकी असम्भावनाविषयक शंका ।
९८–९९ उक्त शंकाका समाधान ।
१००–१०५ इस प्रसंगमें शंकाकारकी प्रतिशंकाका समाधान करते हुए प्रमादके छोड़ देनेकी प्रेरणा ।
१०६–१०७ पाँच अणुव्रतोंका निर्देश करते हुए प्रथम अणुव्रतका स्वरूप एवं संकल्प तथा आरम्भसे होनेवाले वधमें संकल्पसे उसके छोड देनेकी प्रेरणा ।
१०८ अणुव्रतग्रहणकी विधिका निर्देश करते हुए उसके पालनकी प्रेरणा ।
१०९–११० शंकाकार द्वारा देशविरति परिणामके होने व न होनेपर दोनों पक्षोंमें दोषोद्भावन ।
१११–११३ शंकाकार द्वारा उद्भावित दोषोंका निराकरण ।
११४–११८ प्रथम अणुव्रतमें स्थूलप्राणातिपातका प्रत्याख्यान करानेवाले साधुके सूक्ष्मप्राणातिपातमें अनुमतिके होनेकी शंकाको उठाते हुए उसका समाधान ।
११९–१२३ सामान्यसे त्रसघातविरतिके करानेपर त्रसकायसे स्थावरकायको प्राप्त हुए जीवोंके वधसे व्रतके भंग होनेकी सम्भावनाके कारण सामान्यसे करायी गयी त्रसघातविरतिको सदोष बतलानेवालोंका पूर्वपक्ष ।

□

ॐ

हरिभद्रसूरिविरचितवृत्तिसमन्विता

श्रावकप्रज्ञप्तिः (सावयपन्नत्ती)

स्मरणं यस्य सत्त्वानां तीव्रपापौघशान्तये ।
उत्कृष्टगुणरूपाय तस्मै श्रीशान्तये नमः ॥१॥

स्वपरोपकाराय श्रावकप्रज्ञप्त्याख्यप्रकरणस्य व्याख्या प्रस्तूयते । तत्र चादावेवाचार्यः शिष्ट-समयप्रतिपालनाय विघ्नविनायकोपशान्तये प्रयोजनादिप्रतिपादनार्थं चेदं गाथासूत्रमुपन्यस्तवान्—

अरहंते वंदित्ता सावगधम्मं दुवालसविहं पि ।
वोच्छामि समासेणं गुरूवएसाणुसारेणं ॥१॥

इह हि शिष्टानामयं समयो यदुत शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्तमानाः सन्त इष्टदेवता-नमस्कारपूर्वकं प्रवर्तन्त इति । अयमप्याचार्यो न हि न शिष्ट इत्यतस्तत्समयप्रतिपालनाय, तथा श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्तीति, उक्तं च—

श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः ॥

इदं च प्रकरणं[1] सम्यग्ज्ञानहेतुत्वाच्छ्रेयोभूतं वर्तते अतो माभूद्विघ्न इति विघ्नविनायकोप-शान्तये, तथा प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रयोजनादिविरहेण न क्वचित्प्रवर्तन्त इत्यतः प्रयोजनादिप्रतिपादनार्थं च । तत्र अरहन्ते वंदित्ता इत्यनेनेष्टदेवतानमस्कारमाह, अयमेव विघ्नविनायकोपशमहेतुः । सावगधम्ममित्यादिना तु प्रयोजनादि त्रयम्, इति गाथासमुदायार्थः ॥

ग्रन्थको प्रारम्भ करते हुए आचार्य यहाँ सर्वप्रथम शिष्टाचारके परिपालन, विघ्नोंके निरा-करण और प्रयोजन आदिको प्रकट करनेके लिए यह गाथासूत्र कहते हैं—

मैं (ग्रन्थकार) अरहन्तोंको वन्दना करके गुरुके उपदेशानुसार संक्षेपमें बारह प्रकारके श्रावक धर्मको कहूँगा ।

विवेचन—शिष्ट जनकी यह पद्धति रही है कि वे जब किसी अभीष्ट कार्यमें प्रवृत्त होते हैं तब वे प्रथमतः अपने अभीष्ट देवको नमस्कार किया करते हैं । तदनुसार ग्रन्थकारने भी यहाँ सर्वप्रथम अपने अभीष्ट देव अरहन्तोंको नमस्कार किया है । यह प्रायः प्रसिद्ध है कि श्रेयस्कर कार्यमें बहुतसे विघ्न आया करते हैं । वे विघ्न यहाँ कल्याणकर इस श्रावक प्रज्ञप्ति प्रकरणके रचनेमें

---

१. अ प्रकीर्णं ।

अवयवार्थस्तु अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तीर्थंकरास्तानर्हतः। वन्दित्वा अभिवन्द्य। श्रावका वक्ष्यमाणशब्दार्थाः, तेषां धर्मस्तम्। किंभूतम्? द्वादश विधाः प्रकारा अस्येति द्वादशविधस्तं द्वादशविधमपि संपूर्णं नाणुव्रताद्येकदेशप्रतिबद्धमिति। वक्ष्येऽभिधास्ये। ततश्च यथोदितश्रावकधर्माभिधानमेव प्रयोजनम्। स एवाभिधीयमानोऽभिधेयम्। साध्य-साधनलक्षणश्च संबन्धः। तत्र साध्यः प्रकरणार्थः, साधनमिदमेव वचनरूपापन्नमिति॥ आह—यद्येवं नार्थोऽनेन, पूर्वाचार्यैरेव यथोदितश्रावकधर्मस्य ग्रन्थान्तरेष्वभिहितत्वात्। उच्यते—सत्यमभिहितः प्रपञ्चेन, इह तु संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहार्थं समासेन संक्षेपेण वक्ष्ये। किं स्वमनीषिकया? नेत्याह—गुरूपदेशानुसारेण—गृणाति शास्त्रार्थमिति गुरुस्तस्मादुपदेशो गुरूपदेशस्तदनुसारेण तन्नीत्येत्यर्थः॥१॥

श्रावकधर्मस्य प्रक्रान्तत्वात्तस्य श्रावकानुष्ठातृकत्वाच्छ्रावकशब्दार्थमेव प्रतिपादयति—

संपत्तदंसणाई पइदियहं जइजणा सुणेई य।
सामायारिं परमं जो खलु तं सावगं बिन्ति[1] ॥२॥

संप्राप्तं दर्शनादि येनासौ संप्राप्तदर्शनादिः। दर्शनग्रहणात्सम्यग्दृष्टिरादिशब्दादणुव्रतादिपरिग्रहः। अनेन मिथ्यादृष्टेर्व्युदासः। स इत्थंभूतः। प्रतिदिवसं प्रत्यहम्। यतिजनात्साधुलोकात्। शृणोतीति शृणोत्येव[2]। किम्? सामाचारीं परमाम्। तत्र समाचरणं समाचारः शिष्टाचरितः क्रियाकलापः, तस्य भावो गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि ष्यञ् सामाचार्यम्, पुनः स्त्रीविवक्षायां

उपस्थित न हों, इस उद्देश्यसे ग्रन्थकर्ताने प्रथमतः अरहन्तोंको नमस्कार किया है। जो अशोकवृक्ष आदि आठ प्रातिहार्यादि स्वरूप पूजाके योग्य होते हैं वे अरहन्त कहलाते हैं। यह 'अरहन्त' का निरुक्तार्थ है। इस प्रकार मंगलके करनेसे पूर्वोक्त शिष्ट जनकी उस पद्धतिका परिपालन हो जाता है। ग्रन्थ रचनाका प्रयोजन श्रावक धर्मकी प्ररूपणा है, इसकी सूचना भी प्रकृत मंगल गाथामें कर दी गयी है। साथ ही इस गाथामें जो 'गुरुपएसाणुसारेण' यह निर्देश किया गया है उससे ग्रन्थकारने अपनी प्रामाणिकताको प्रकट करते हुए यह भी सूचना कर दी है कि मैं जो इसमें श्रावकधर्मका व्याख्यान कर रहा हूँ वह गुरु परम्परासे प्राप्त ही उस श्रावकधर्मका व्याख्यान कर रहा हूँ, न कि अपनी कल्पनासे। इस श्रावकधर्मके प्ररूपक अन्य ग्रन्थ भी यद्यपि ग्रन्थकारके समक्ष विद्यमान थे, पर उनसे संक्षेपमें रुचि रखनेवाले शिष्योंको लाभ नहीं हो सकता था, इससे ग्रन्थकारने संक्षेपमें इस ग्रन्थके रचनेका उपक्रम किया है॥१॥

आगे 'श्रावक' शब्दके अर्थका प्रतिपादन करते हैं—

जो सम्यग्दर्शन आदिको प्राप्त करके प्रतिदिन मुनि जनसे उत्कृष्ट सामाचारीको सुनता है उसे श्रावक कहते हैं।

विवेचन—गाथामें जो 'संपत्तदंसणाई' ऐसा कहा है उससे यह अभिप्राय प्रकट कर दिया है कि प्रकृत श्रावक धर्मके अनुष्ठानका अधिकारी सम्यग्दृष्टि श्रावक ही होता है, मिथ्यादृष्टि उसके अनुष्ठानका अधिकारी नहीं है। 'दर्शन' के साथ जो 'आदि' शब्दको ग्रहण किया गया है उससे अणुव्रत आदिका ग्रहण भी अभीष्ट रहा है। शिष्ट जनके द्वारा आचरित जो क्रियाकलाप साधु

---

१. अ बेंति। २. म °त् शृणोत्येव।

षिद्गौरादिभ्यश्चेति ङीष् यस्येत्यकारलोपः, यस्य हल इत्यनेन तद्धित-यकारलोपः, परगमनं सामाचारी, तां सामाचारीम्। परमां प्रधानाम्[2], साधु-श्रावकसंबद्धामित्यर्थः। यः खलु य एव शृणोति। तं श्रावकं ब्रुवते तं श्रावकं प्रतिपादयन्ति भगवन्तस्तीर्थंकरगणधराः। ततश्चायं पिण्डार्थः—अभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि [3]प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात्साधूनामगारिणां च सामाचारीं शृणोतीति श्रावकः इति ॥२॥

सांप्रतं श्रवणगुणान् प्रतिपादयति—

नवनवसंवेगो खलु नाणावरणखओवसमभावो।
तत्ताहिगमो य[4] तहा जिणवयणायन्नणस्स गुणा ॥३॥

नवनवसंवेगः प्रत्यग्रः प्रत्यग्रः संवेगः आर्द्रान्तःकरणता। मोक्षसुखाभिलाष इत्यन्ये। खलुशब्दः पूरणार्थः, संवेगस्य शेषगुणनिबन्धनत्वेन[5] प्राधान्यख्यापनार्थो वा। तथा ज्ञानावरणक्षयोपशमभावः ज्ञानावरणक्षयोपशमसत्ता संवेगादेव। तत्त्वाधिगमश्च तत्त्वातत्त्वपरिच्छेदश्च। तथा जिनवचनाकर्णनस्य तीर्थंकरभाषितश्रवणस्यैते गुणा इति। तीर्थंकरभाषिता चासौ सामाचारीति ॥३॥

किं च देह-स्वजन-वित्तप्रतिबद्धः कश्चिद्दृढवयो न शृणोतीत्येषामसारताख्यापनाय जिनवचनश्रवणस्य सारतामुपदर्शयन्नाह—

न वि तं करेइ देहो न य सयणो नेय वित्तसंघाओ।
जिणवयणसवणजणिया जं संवेगाइया लोए ॥४॥

और श्रावकसे सम्बद्ध होता है उसका नाम सामाचारी है। अभिप्राय यह है कि जिसने सम्यग्दर्शनके साथ अणुव्रत आदिको स्वीकार कर लिया है तथा जो प्रतिदिन साधु जनसे मुनि व श्रावकके आचारको सुनता है उसे श्रावक समझना चाहिए ॥२॥

अब जिनागमके सुननेसे प्राप्त होनेवाले गुणोंका निर्देश किया जाता है—

नवीन-नवीन संवेग, ज्ञानावरणका क्षयोपशम और तत्त्वका परिज्ञान ये जिनवचनके सुननेके गुण हैं।

विवेचन—यहां जिन देवके द्वारा उपदिष्ट उस सामाचारीके सुननेसे क्या लाभ होता है, इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि उत्तरोत्तर आविर्भूत होनेवाली हृदयकी निर्मलताके साथ नवीन नवीन संवेगका प्रादुर्भाव होता है। अन्तःकरणकी आर्द्रता—निर्मल परिणतिका—नाम संवेग है। अन्य आचार्योंके अभिमतानुसार मोक्षसुखकी जो अभिलाषा हुआ करती है उसे संवेग कहा जाता है। इस संवेगके साथ उक्त जिनवाणीके सुननेसे ज्ञानके आवारक ज्ञानावरण कर्मका विशिष्ट क्षयोपशम भी होता है, जिससे श्रोताको तत्त्व-अतत्त्वका विवेक भी प्रादुर्भूत होता है। यह उस जिनवाणीके सुननेका महान् लाभ है ॥३॥

निःसार शरीर आदिकी अपेक्षा जिनवचन श्रवणकी श्रेष्ठता—

लोकमें जिनवाणीके सुननेसे प्रादुर्भूत संवेग आदि जिस शाश्वतिक सुखको उत्पन्न करते हैं उसे न तो शरीर उत्पन्न कर सकता है, न कुटुम्बी जन उत्पन्न कर सकते हैं, और न धन-सम्पत्तिका समुदाय भी उत्पन्न कर सकता है।

---

१. म °ति ङीप् (टाप्) यस्ये°। २. अ 'प्रधानाम्' नास्ति। ३. अ व्रतेपि। ४. हि। ५. अ गुणनवनवत्वेन।

नापि तत्करोति देहो न च स्वजनो न च वित्तसंघातः जिनवचनश्रवणजनिता यत्संवेगादयो लोके कुर्वन्ति। तथाहि—अशाश्वतः प्रतिक्षणभङ्गुरो देहः, शोकायासकारणम्, क्षणिकसंगमश्च स्वजनः, अनिष्ठितायासव्यवसायास्पदं च वित्तसंघात इत्यसारता। तीर्थंकरभाषिताकर्णनोद्भवाश्च संवेगादयो जाति-जरा-मरण-रोग-शोकाद्युपद्रवव्रातरहितापवर्गहेतव इति सारता। अतः श्रोतव्यं जिनवचनमिति ॥४॥ अथवा—

> होइ दढं अणुराओ जिणवयणे परमनिव्वुइकरम्मि।
> सवणाइगोयरो तह सम्मद्दिट्ठिस्स जीवस्स ॥५॥

यद्वा किमनेन? निसर्गत एव भवति जायते। दृढमत्यर्थमनुरागः प्रीतिविशेषः। क्व? जिनवचने तीर्थंकरभाषिते। किंविशिष्टे? परमनिर्वृतिकरे उत्कृष्टसमाधिकरणशीले। किंगोचरो-

---

विवेचन—शरीर स्वभावतः अपवित्र, रोगोंका स्थान व विनश्वर है। कुटुम्बी जनका संयोग भी सदा रहनेवाला नहीं है। जिस प्रकार पक्षी इधर-उधरसे आकर रात्रिमें किसी एक ही वृक्षके ऊपर निवास करते हैं और सवेरा हो जानेपर वे अपने-अपने कार्यके वश विभिन्न दिशाओंमें चले जाते हैं उसी प्रकार माता-पिता, स्त्री व पुत्र आदि अपने-अपने कर्मके अनुसार कुछ समयके लिए एक कुटुम्बके रूपमें एकत्र अवस्थित रहते हैं तथा आयुके पूर्ण हो जानेपर वे यथासमय विभिन्न पर्यायोंको प्राप्त होकर विभक्त हो जाते हैं (इष्टोपदेश ८-९)। इसके अतिरिक्त जबतक परस्परमें एक दूसरेका स्वार्थ सधता है तबतक तो उनमें स्नेह बना रहता है, किन्तु स्वार्थके विघटित होनेपर उन्हींमें परस्पर शत्रुताका भाव भी उदित हो जाता है। इस प्रकारसे वे संक्लेशके भी कारण बन जाते हैं। धन भी वस्तुतः सुखका कारण नहीं है। प्रथम तो उस धनके उपार्जनमें अतिशय परिश्रम करना पड़ता है, इसके अतिरिक्त उसके उपार्जनमें न्याय-अन्यायका भी विवेक नहीं रहता। तत्पश्चात् संचित हो जानेपर उसके संरक्षणकी चिन्ता व्यथित करती है। फिर रक्षाका प्रयत्न करनेपर भी यदि वह चोर आदिके द्वारा अपहृत कर लिया जाता है तो अतिशय कष्टका कारण बन जाता है। (क्षत्रचूडामणि २-६७) इसके अतिरिक्त जब परस्परमें उसके विभाजनका समय उपस्थित होता है तब वही पिता-पुत्र व भाई-भाईमें प्रबल वैरभावका भी कारण बन जाता है। इस प्रकार यथार्थताका विचार करनेपर उपर्युक्त शरीर, कौटुम्बिक जन और धन आदि चूँकि स्पष्टतः दुखके कारण हैं, अतएव वे असार ही हैं। इसके विपरीत जिनवाणीके श्रवणसे जो संवेग आदि प्रादुर्भूत होते हैं जन्म, जरा, मरण एवं रोग-शोकादिको दूर कर चूँकि शाश्वतिक व निर्बाध मुक्तिसुखके कारण होते हैं, इसलिए वे ही वस्तुतः सारभूत हैं। यही कारण है जो यहाँ उन सारभूत संवेगादिकी प्राप्तिके लिए जिन वचनके श्रवणकी प्रेरणा की गयी है ॥४॥ अथवा—

सम्यग्दृष्टि जीवके उत्कृष्ट सुखकी कारणभूत जिनवाणीके सुनने आदि विषयक दृढ़ अनुराग स्वयं होता है।

विवेचन—पीछे गा. २ में 'श्रावक' शब्दकी निरुक्तिपूर्वक यह बतलाया था कि जो यति जनसे धर्मको सुना करता है उसका नाम श्रावक है। तत्पश्चात् आगे गा. ३ में उस जिनवाणीके सुननेसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका निर्देश करते हुए यह कहा गया था कि जिनवाणीके सुननेसे चूँकि संवेग आदि गुण प्रकट होते हैं, इसीलिए श्रावक उसके सुननेमें प्रवृत्त होता है। अब यहाँ

---

१. अ॰ तासद्वपव॰।

ऽनुरागो भवतीत्यत्राह—श्रवणादिगोचरः श्रवण-श्रद्धानानुष्ठानविषय इत्यर्थः । तथा तेन प्रकारेण । कस्येत्यत्राह—सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य, प्रक्रान्तत्वाच्छ्रावकस्येत्यर्थः । अतोऽसौ श्रवणे प्रवर्तत एव । ततश्च शृणोतीति श्रावक इति युक्तम्, इति गाथाभिप्रायः ॥५॥

निरूपितः श्रावकशब्दार्थः । सांप्रतं द्वादशविधं श्रावकधर्ममुपन्यस्यन्नाह—

पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च हुंति[1] तिन्नेव ।
सिक्खावयाइं चउरो सावगधम्मो दुवालसहा ॥६॥

पञ्चेति सङ्ख्या । एवकारोऽवधारणे—पञ्चैव, न चत्वारि षड्वा । अणूनि च तानि व्रतानि चाणुव्रतानि, महाव्रतापेक्षया चाणुत्वमिति, स्थूलप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपाणीत्यर्थः । गुणव्रतानि च भवन्ति त्रीण्येव, न न्यूनाधिकानि वा । अणुव्रतानामेवोत्तरगुणभूतानि व्रतानि दिग्व्रत-भोगोपभोगपरिमाणकरणानर्थदण्डविरतिलक्षणानि, एतानि च भवन्ति त्रीण्येव । शिक्षापदानि च शिक्षाव्रतानि[2] वा—तत्र शिक्षा अभ्यासः, स च चारित्रनिबन्धनविशिष्टक्रियाकलापविषयस्तस्य पदानि स्थानानि, तद्विषयाणि वा व्रतानि शिक्षाव्रतानि । एतानि च चत्वारि सामायिक-देशावकाशिक-प्रोषधोपवासातिथिसंविभागाख्यानि । एवं श्रावकधर्मो द्वादशधा द्वादशप्रकार इति गाथासमासार्थः । अवयवार्थं तु महता प्रपञ्चेन ग्रन्थकार एव वक्ष्यति ॥६॥ तथा चाह—

प्रकारान्तरसे यह दिखलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीवका अनुराग उस जिनवाणीके सुनने, श्रद्धान करने और तदनुसार आचरण करनेमें स्वयमेव हुआ करता है । इसीसे वह उसके सुननेमें संवेगादि गुणोंकी अपेक्षा न करके भी स्वयं प्रवृत्त होता है । इसलिए जो जिनवाणीको सुनता है वह श्रावक कहलाता है, यह जो श्रावकका लक्षण कहा गया था उसे सार्थक ही समझना चाहिए । यहां यह स्मरणीय है कि श्रावक सम्यग्दृष्टि ही होता है, बिना सम्यग्दर्शनके यथार्थतः कोई श्रावक नहीं हो सकता । इसका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टि जीवके वैसा धर्मानुराग सम्भव नहीं है ॥५॥

इस प्रकार श्रावकके लक्षणको दिखलाकर अब उसके बारह प्रकारके धर्मका निर्देश किया जाता है—

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकारसे वह श्रावक धर्म बारह प्रकारका है ।

विवेचन—स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म (मैथुन) और परिग्रह इसके परित्यागका नाम अणुव्रत है । ये अणुव्रत पांच ही होते हैं, हीनाधिक नहीं होते, यह गाथामें 'पंच' शब्दके साथ उपयुक्त 'एव' पदके द्वारा सूचित कर दिया गया है । 'अणुव्रत'में जो 'अणु' विशेषण है वह महाव्रतोंकी अपेक्षा इन व्रतोंकी अणुताको सूचित करता है । कारण यह कि श्रावकके ये व्रत मुनिके महाव्रतोंकी अपेक्षा अल्प मात्रामें ही हुआ करते हैं । वह मुनिके समान उक्त हिंसादि पापोंका पूर्ण रूपसे त्याग नहीं कर सकता, किन्तु स्थूल रूपमें ही वह उनका त्याग कर सकता है । इन अणुव्रतोंके उत्तर गुणस्वरूप व्रतोंका नाम गुणव्रत है । वे दिग्व्रत, भोगोपभोगपरिमाणकरण और अनर्थदण्ड विरतिके भेदसे तीन ही हैं । 'शिक्षा' का अर्थ अभ्यास और 'पद' का अर्थ स्थान होता है । तदनुसार जो व्रत चारित्रसे सम्बद्ध विशिष्ट क्रियाकलापविषयक शिक्षाके स्थान होते हैं या उसको विषय करते उन्हें शिक्षापद या शिक्षाव्रत कहा जाता है । वे चार हैं—सामायिक, देशावकाशिक,

१. अ होंति । २. अ अतोऽग्रेऽग्रिम'शिक्षाव्रतानि'पदपर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति ।

एयस्स मूलवत्थू सम्मत्तं तं च गंठिभेयम्मि।
खयउवसमाइ तिविहं सुहायपरिणामरूवं तु ॥७॥

एतस्यानन्तरोपन्यस्तस्य श्रावकधर्मस्य। मूलवस्तु सम्यक्त्वम्—वसन्त्यस्मिन्नणुव्रतादयो गुणास्तद्भावभावित्वेनेति वस्तु, मूलभूतं च तद्वस्तु च मूलवस्तु। किं तत्? सम्यक्त्वम्। उक्तं च—

मूलं द्वारं प्रतिष्ठानमाधारो भाजनं निधिः।
द्विषट्कस्यास्य धर्मस्य सम्यक्त्वं परिकीर्तितम् ॥१॥

तच्च सम्यक्त्वं ग्रन्थिभेदे वक्ष्यमाणलक्षणकर्मग्रन्थिभेदे सति भवति, नान्यथेति भावः। तच्च क्षायोपशमिकादिभेदात् त्रिविधम्—क्षायोपशमिकमौपशमिकं क्षायिकं च, यद्वा कारकादि। शुभात्मपरिणामरूपं तु—शुभः संक्लेशवर्जित आत्मपरिणामो जीवधर्मो रूपं यस्य तच्छुभात्मपरिणामरूपम्। तुरवधारणे—शुभात्मपरिणामरूपमेव। अनेन तद्व्यतिरिक्तलिङ्गादिधर्मव्यवच्छेदमाह, व्यतिरिक्तधर्मत्वे तत उपकारायोगादिति ॥७॥

जं जीवकम्मजोए जुज्जइ एयं अओ तयं पुव्विं[2]।
वोच्छं तओ[3] कमेणं पच्छा तिविहं पि सम्मत्तं ॥८॥

प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग। इस प्रकारसे श्रावक धर्म बारह (५+३+४) प्रकारका है ॥६॥

अब उस श्रावक धर्मका आधार सम्यग्दर्शन है, इसे दिखलाते हैं—

इस बारह भेदरूप श्रावक धर्मकी मूल वस्तु सम्यक्त्व है। वह ग्रन्थिके—कर्मरूप गाँठके—भेदे जानेपर सम्भव है। शुभ आत्मपरिणामस्वरूप वह सम्यक्त्व क्षायोपशमादिके भेदसे तीन प्रकारका है।

विवेचन—यहाँ सम्यक्त्वको उपर्युक्त श्रावक धर्मकी मूल वस्तु कहा गया है। 'वसन्ति अस्मिन् अणुव्रतादयो गुणा इति वस्तु' इस निरुक्तिके अनुसार जिसके होनेपर अणुव्रत आदि रूप गुण निवास करते हैं उसे वस्तु कहा जाता है। तदनुसार जब उस सम्यक्त्वके होनेपर उसके आश्रयसे ही वे अणुव्रत आदि गुण रहते हैं और उसके बिना नहीं होते तब वैसी अवस्थामें उक्त सम्यक्त्वको श्रावक धर्मकी मूल वस्तु कहना संगत ही है। अभिप्राय यह है कि आत्माके शुभ परिणामस्वरूप वह सम्यक्त्व जब प्रकट हो जाता है तब कहीं अणुव्रतादिरूप वह श्रावक धर्म हो सकता है, उसके बिना उसका होना सम्भव नहीं है। जीव-अजीवादिरूप तत्त्वार्थोंके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है। वह अपूर्वकरण परिणामके द्वारा कर्मरूप गाँठके भेदे जानेपर ही प्रादुर्भूत होता है, उसके बिना उसका होना सम्भव नहीं है। वह तीन प्रकारका है—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक। अथवा प्रकारान्तरसे उसके ये अन्य तीन भेद भी निर्दिष्ट किये गये हैं—कारक, रोचक और व्यंजक। आगे इन सम्यक्त्व भेदोंका कथन ग्रन्थकार स्वयं करनेवाले हैं (४३-५०)। प्रकृतमें जो उस सम्यक्त्वको निर्मल आत्मस्वरूप बतलाया गया है उससे आत्मपरिणतिसे भिन्न बाह्य लिंग (वेष) आदिका निषेध कर दिया गया है। कारण यह है कि बाह्य लिंगादिस्वरूप मान लेनेपर उसके द्वारा आत्माका उपकार सम्भव नहीं है ॥७॥

वह सम्यक्त्व चूँकि जीव और कर्मका सम्बन्ध होनेपर ही घटित होता है, अतः पहले यहाँ उस जीव और कर्मके सम्बन्धके कथनकी प्रतिज्ञा—

---

१. अ धर्म्मलिंगव्यव°। २. अ जुज्जए एयं अउ तयं पुव्वं। ३. अ तउ।

यतो यस्मात् कारणात्। जीव-कर्मयोगे जीवकर्मसंबन्धे सति। युज्यते एतत् घटते इदं सम्यक्त्वम्, कर्मक्षयोपशमादिरूपत्वात्। अतोऽस्मात्कारणात्। तकं जीवकर्मयोगम्। पूर्वमादौ। वक्ष्येऽभिधास्ये। ततस्तदुत्तरकालम्। क्रमेण परिपाट्या। पश्चात्त्रिविधमपि क्षायोपशमिकादि सम्यक्त्वं वक्ष्य इति ॥८॥ तत्राह—

जीवो अणाइनिहणो नाणावरणाइकम्मसंजुत्तो।
मिच्छत्ताइनिमित्तं कम्मं पुण होइ अट्ठविहं ॥९॥

जीवतीति जीवः। असौ अनादिनिधनः अनाद्यपर्यवसित इत्यर्थः। स च ज्ञानावरणादि-कर्मणा समेकीभावेनान्योन्यव्याप्त्या युक्तः संबद्धो ज्ञानावरणादिकर्मसंयुक्तः। मिथ्यात्वादिनिमित्तं मिथ्यात्वादिकारणम्, मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतव इति वचनात्। कर्म पुनर्ज्ञानावरणादि भवत्यष्टविधमष्टप्रकारमिति ॥९॥ तथा चाह—

पढमं नाणावरणं बीयं पुण होइ दंसणावरणं[1]।
तइयं च वेयणीयं[2] तहा चउत्थं च मोहणियं ॥१०॥

प्रथममाद्यम्। ज्ञानावरणम् आव्रियतेऽनेनावृणोतीति वावरणम्, ज्ञानस्यावरणं ज्ञानावरणम्, ज्ञानं मतिज्ञानादि। द्वितीयं पुनर्भवति दर्शनावरणम्—पुनःशब्दो विशेषणार्थः, सामान्यावबोधा-वारकत्वात्। दर्शनं चक्षुर्दर्शनादि। तृतीयं च वेदनीयं—सातासातरूपेण वेद्यत इति वेदनीयम्, रूढशब्दात्पङ्कजादिवत्। तथा चतुर्थं कर्म किम्, अत आह मोहनीयम्—मोहयतीति मोहनीयम्, मिथ्यात्वादिरूपत्वादिति ॥१०॥

आऊअ नामं[3] गोयं चरमं पुण अंतराइयं होइ।
मूलपयडीउ एया उत्तरपयडी अओ वुच्छं ॥११॥

यतः वह सम्यक्त्व जीव और कर्मका सम्बन्ध होनेपर घटित होता है, अतः यहाँ पहले उस जीव और कर्मके सम्बन्धका निरूपण करेंगे और तत्पश्चात् क्रमसे उस तीन प्रकारके सम्यक्त्वका वर्णन किया जायेगा ॥८॥

जीवका ज्ञानावरणादि कर्मोंके साथ संयोग—

जीव अनादि व अनिधन होकर ज्ञानावरणादि कर्मोंसे संयुक्त है। मिथ्यात्व आदिके निमित्त-से बन्धको प्राप्त होनेवाला वह कर्म आठ प्रकारका है ॥९॥

कर्मकी आठ मूल प्रकृतियोंमें प्रथम चार प्रकृतियोंका नामोल्लेख—

प्रथम ज्ञानावरण, दूसरा दर्शनावरण, तीसरा वेदनीय और चौथा मोहनीय ॥१०॥

शेष चार मूल प्रकृतियोंका नामनिर्देश करते हुए उत्तर प्रकृतियोंके कथनकी प्रतिज्ञा—

आयु, नाम, गोत्र और अन्तिम अन्तराय, ये उस कर्मकी शेष चार मूल प्रकृतियाँ हैं। अब आगे उत्तर प्रकृतियोंका निरूपण करेंगे ॥११॥

---

१. अ दंसणस्सावरणं। २. अ वेयणिज्जं। ३. अ आउय णामं।

आयुष्कं नाम गोत्रम्—एत्येति याति वेत्यायुरननुभूतमेत्यनुभूतं च यातीत्यर्थः। सर्वमपि कर्मैवंभूतम्, तथापि प्रक्रान्तभवप्रबन्धाविच्छेदादायुष्कमेव गृह्यते, अस्ति च विच्छेदो मिथ्यात्वादिषु। तथा गत्यादिशुभाशुभनमनान्नामयतीति नाम। तथा गां वाचं त्रायत इति गोत्रम् रूढिषु हि क्रिया कर्मव्युत्पत्त्यर्था। नार्थक्रियार्था इत्युच्चैर्नीचादिनिबन्धनमदृष्टमित्यर्थः। चरमं पुनः पर्यन्तवर्ति, तत्पुनरन्तरायं भवति, दानादिविघ्नोऽन्तरायस्तत्कारणमन्तरायमिति। मूलप्रकृतय

विवेचन—प्रकृत सम्यग्दर्शन जीवका परिणाम है जो कर्मके क्षय-उपशम आदिके भेदसे तीन प्रकारका है, यह पहले (गा. ७) कहा जा चुका है। इससे सिद्ध है कि उस सम्यग्दर्शनका सम्बन्ध जीव और कर्मके संयोगके साथ है। इसलिए उक्त सम्यग्दर्शनके परिज्ञानके लिए ग्रन्थकार प्रथमतः कर्मकी प्ररूपणाको उपयोगी समझकर पहले कर्मका निरूपण कर रहे हैं, तत्पश्चात् वे यथाक्रमसे उक्त सम्यग्दर्शनके उन भेदोंका निरूपण करेंगे, इसे उन्होंने गा. ८ में स्पष्ट कर दिया है। जो तीनों कालोंमें द्रव्य व भाव प्राणोंसे जीता है वह जीव कहलाता है। वह अनादि व अनिधन होकर ज्ञानावरणादि कर्मोंसे संयुक्त है। उसके इस कर्मबन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं। कर्म मूलमें आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक हैं। उनमें जो विशेष (भेद) को विषय करता है उसे ज्ञान और जो सामान्य (अभेद) को विषय करता है उसे दर्शन कहा जाता है। इनमें जो कर्म ज्ञानका आवरण करता है उसका नाम ज्ञानावरण और जो दर्शनका आवरण करता है उसका नाम दर्शनावरण कर्म है। जिसका वेदन सात (सुख) और असात (दुख) रूपसे किया जाता है वह वेदनीय कर्म कहलाता है। यद्यपि इस निरुक्त लक्षणके अनुसार सब ही कर्म वेदनीय ठहरते हैं, फिर भी इस 'वेदनीय' संज्ञाको कर्मविशेषमें रूढ़ मान लेनेसे कुछ विरोध प्रतीत नहीं होता। लोकव्यवहारमें भी ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। जैसे—पंकज। 'पंकाज्जातम् इति पंकजम्' इस निरुक्तिके अनुसार 'पंकज' का अर्थ कीचड़से उत्पन्न हुआ होता है। इस प्रकारसे जहाँ पंकज (कमल) कीचड़से उत्पन्न है वहीं अन्य भी कितने ही वनस्पति उस कीचड़से उत्पन्न होते ऐसी अवस्थामें उक्त लक्षण यद्यपि अतिव्याप्त होता है तो भी 'पंकज' को कमलमें रूढ़ मान लेनेसे कुछ दोष नहीं माना गया है। यही अभिप्राय प्रकृत 'वेदनीय' कर्मके विषयमें भी ग्रहण करना चाहिए। जो आत्माको मोहित करता है—सत्-असत् या हेय-उपादेयके विवेकसे विमुख करता है—उसे मोहनीय कहते हैं। 'एति याति वा इति आयुः' इस निरुक्तिके अनुसार जो कर्म अननुभूत होकर आता है या अनुभूत होकर जाता है—निर्जीर्ण होता है—उसका नाम आयु है। उपर्युक्त 'वेदनीय' के समान उस 'मोहनीय' संज्ञाको भी कर्मविशेष (पाँचवें कर्म) में रूढ़ समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिसके आश्रयसे जीवके भवप्रबन्धका विच्छेद नहीं हो पाता—जन्मसे मृत्यु पर्यन्त विवक्षित भवमें ही रहना पड़ता है—वह आयुकर्म कहलाता है। 'नामयतीति नाम' इस निरुक्तिके अनुसार जो कर्म शुभ या अशुभ गति आदि पर्यायोंके अनुभवनके प्रति नमाता है उसे नामकर्म कहा जाता है। 'गां वाचं त्रायते इति गोत्रम्' इस निरुक्तिके अनुसार यद्यपि गोत्रका अर्थ वचनका रक्षण करनेवाला होता है, तो भी रूढ़िमें क्रियाका प्रयोजन कर्मव्युत्पत्ति है, अर्थक्रिया नहीं; ऐसा मानकर 'गोत्र' संज्ञाको भी कर्मविशेषमें रूढ़ समझना चाहिए। अथवा 'गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैः आत्मा यस्मात् तत् गोत्रम्' इस निरुक्तिके अनुसार जिसके आश्रयसे जीव ऊँच या नीच शब्दोंसे कहा जाता है उसका नाम गोत्र है। इस प्रकार उसका 'गोत्र' यह नाम सार्थक भी कहा जा सकता है। अथवा जो पर्यायविशेष ऊँच या नीच कुलमें उत्पत्तिको प्रकट करनेवाली है उसका

एताः सामान्यप्रकृतय[1] इत्यर्थः। उत्तरप्रकृतीरेतद्विशेषरूपा। अतो वक्ष्ये अत ऊर्ध्वमभिधास्य इति। क्रमप्रयोजनं प्रथमगुणघातादि, यथा कर्मप्रकृतिसंग्रहण्यामुक्तं तथैव द्रष्टव्यम्, ग्रन्थविस्तरभयाद्वस्तुतोऽप्रक्रान्तत्वाच्च न लिखितमिति ॥११॥ तथा—

पढमं पंचवियप्पं मइसुयओहिमणकेवलावरणं।
बीयं च [2]नववियप्पं निद्दापण दंसणचउक्कं ॥१२॥

इह सूत्रक्रमप्रामाण्यात्प्रथममाद्यं ज्ञानावरणम्। पञ्चविकल्पमिति पञ्चभेदम्। तानेव भेदानाह—मति-श्रुतावधि-मनःकेवलावरणम्, मतिज्ञानाद्यावरणमित्यर्थः। द्वितीयं च दर्शनावरणं नवविकल्पं निद्रापञ्चकं दर्शनचतुष्कं चेति ॥१२॥ निद्रापञ्चकमाह—

निद्दा निद्दानिद्दा पयला[3] तह होइ पयलपयला य।
थीणद्धी अ[4] सुरुद्दा निद्दापणगं जिणाभिहियं ॥१३॥

नाम गोत्र है और उस रूपसे जिस कर्मका वेदन किया जाता है उसका नाम गोत्रकर्म है। दानादि-विषयक विघ्नका नाम अन्तराय है, इस अन्तरायके कारणभूत कर्मको भी अन्तराय कहा जाता है। अथवा 'अन्तरा एति अन्तरायः' इस निरुक्तिके अनुसार जो जीव और दानादिके मध्यमें अन्तरा अर्थात् व्यवधान रूपसे उपस्थित होता है उसे अन्तराय कर्म जानना चाहिए। यहाँ ज्ञानावरणादि-का जो क्रम रहा है उसका प्रयोजन प्रथम गुणके घात आदिका रहा है। इसकी टीकामें हरिभद्र सूरिने यह सूचना कर दी है कि कर्मविषयक व्याख्यान कर्मप्रकृति संग्रहणी ग्रन्थमें विस्तारसे किया गया है, अतः विशेष जिज्ञासुओंको उसे वहाँ देख लेना चाहिए। संक्षिप्त ग्रन्थ होनेसे यहाँ उसकी विस्तारसे चर्चा नहीं की गयी है। दूसरी बात यह भी है कि प्रस्तुत ग्रन्थ श्रावकाचारकी विशेष रूपसे प्ररूपणा करनेवाला है, इससे यहाँ कर्मकी विस्तृत प्ररूपणा प्रकरणसंगत भी नहीं है॥८-११॥

आगेकी गाथामें ज्ञानावरणके पाँच भेदोंको दिखलाते हुए दूसरे दर्शनावरणके नौ भेदोंका निर्देश किया जाता है—

उपर्युक्त आठ कर्मोंमें प्रथम ज्ञानावरण पाँच प्रकारका है—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। दूसरे दर्शनावरणके नौ भेदोंमें पाँच निद्रा और चार दर्शन हैं।

विवेचन—पाँच इन्द्रियों और मनके आश्रयसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उनका नाम मतिज्ञान और जो उसका आवरण करता है उसका नाम मतिज्ञानावरण है। मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके विषयमें जो विशेष ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान और इसका जो आवरण करता है उसे श्रुतज्ञानावरण कहते हैं। इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा न करके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा लिये हुए जो रूपी पदार्थविषयक ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान और उसके आवारक कर्मको अवधिज्ञानावरण कहा जाता है। इन्द्रिय व मनकी अपेक्षा न करके जो दूसरेके मनोगत भावका बोध होता है उसे मनःपर्ययज्ञान और उसके आवारक कर्मको मनःपर्ययज्ञानावरण कहते हैं। तीनों काल और तीनों लोक सम्बन्धी समस्त पदार्थोंका जो अतीन्द्रिय व स्पष्ट बोध होता है उसका नाम केवलज्ञान और उसके आवारक कर्मका नाम केवलज्ञानावरण है ॥१२॥

अब पूर्व गाथामें निर्दिष्ट पाँच निद्राओंके नामोंका निर्देश किया जाता है—

---

१. अ सामान्यविशेषप्रकृतय। २. अ णव। ३. अ निद्दा ३ पयला। ४. अ य सुरोद्दा।

निद्रादीनां स्वरूपम्—

सुहपडिबोहा निद्दा दुहपडिबोहा य निद्दनिद्दा य ।
पयला होइ ठियस्स उ पयलापयला य चंकमओ ॥
अइसंकिलिट्ठकम्माणुवेयणे होइ थीणगिद्धी उ ।
महनिद्दा दिणचिंतियवावारपसाहणी पायम् ॥

अत्रेत्थंभूतेनिद्रादिकारणं कर्म अनन्तरं दर्शनविघातित्वाद्दर्शनावरणं ग्राह्यमिति ॥१३॥

दर्शनचतुष्टयमाह—

नयणेयरोहिकेवलदंसणवरणं चउव्विहं होइ ।
सायासाय दुभेयं च वेयणिज्जं मुणेयव्वं ॥१४॥

नयनेतरावधिकेवलदर्शनावरणं चतुर्विधं भवति । आवरण-शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । नयनं लोचनं चक्षुरिति पर्यायाः, ततश्च नयनदर्शनावरणं चक्षुर्दर्शनावरणं वेति चक्षुःसामान्योपयोगावरणमित्यर्थः । इतरग्रहणादचक्षुर्दर्शनावरणं शेषेन्द्रियदर्शनावरणमिति । एवमवधि-केवलयोरपि योजनीयं । सातासातद्विभेदं च वेदनीयं मुणितव्यं—सातवेदनीयमसातवेदनीयं च ।[2] आह्लाद-

निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और अतिशय भयानक स्त्यानर्द्धि ये जिन भगवान्के द्वारा पाँच निद्राएँ कही गयी हैं ।

विवेचन—जिस निद्रामें प्राणी सुखपूर्वक जग जाता है उसका नाम निद्रा है । जिस निद्रामें प्राणी कठिनतासे जगता है उसे निद्रानिद्रा कहते हैं । जिस निद्रामें प्राणी बैठा-बैठा सो जाता है उसे प्रचला कहा जाता है । जिस निद्रामें प्राणी चलते-चलते सो जाता है वह प्रचलाप्रचला कहलाती है । अतिशय संक्लिष्ट कर्मका उदय होनेपर प्राणीको जो निद्रा आती है उसका नाम स्त्यानर्द्धि है । इस नींदकी अवस्थामें प्राणी सोते-सोते उठकर दिनमें चिन्तित दुष्कर व्यापारको भी प्रायः सिद्ध करता है । इस प्रकारकी इन पाँच निद्राओंके कारणभूत जो कर्म हैं उन्हें यथाक्रमसे उक्त निद्रादि पाँच दर्शनावरण जानना चाहिए । ये सब प्राप्त दर्शनके विनाशक और अप्राप्त दर्शनके चूँकि रोधक हैं, इसलिए इन्हें दर्शनावरणके रूपमें ग्रहण किया गया है ॥१३॥

आगे चार दर्शनों और उनकी आवारक प्रकृतियोंके निर्देशके साथ साता-असातारूप दो वेदनीय प्रकृतियोंका भी निर्देश किया जाता है—

नयन (चक्षु) दर्शनावरण, इतर (अचक्षु) दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इस प्रकार ये चार दर्शनोंके रोधक चार दर्शनावरण हैं । सातावेदनीय और असातावेदनीयके भेदसे वेदनीय कर्मको दो प्रकार जानना चाहिए ।

विवेचन—गाथामें उपयुक्त नयन शब्द चक्षु वाचक है । चक्षु इन्द्रियजन्य सामान्य उपयोगका जो आवरण किया करता है उसे चक्षुदर्शनावरण कहते हैं । चक्षुसे भिन्न अन्य इन्द्रियोंसे होनेवाले सामान्य उपयोगके आवरक कर्मको अचक्षुदर्शनावरण कहा जाता है । इसी प्रकार अवधि और केवलरूप सामान्य उपयोगके रोधक कर्मको क्रमसे अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण जानना चाहिए । धवला (पु. ६, पृ. ३२ आदि) में आ. वीरसेनके द्वारा दर्शन व उसके इन भेदोंका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—ज्ञानके उत्पादक प्रयत्नसे संबद्ध आत्मसंवेदनका नाम दर्शन है, जिसे आत्मविषयक उपयोग कहा जा सकता है । चक्षु इन्द्रियजन्य ज्ञानके उत्पादक प्रयत्नसे

१. अ अत्रेत्थंतभूत ।　२. अ अह्लाद ।

रूपेण यद्वेद्यते तत्सातवेदनीयम् । परितापरूपेण यद्वेद्यते तदसातवेदनीयम् । मुणितव्यं ज्ञातव्य-मिति ॥१४॥

दुविहं च मोहणियं दंसणमोहं चरित्तमोहं च ।
दंसणमोहं तिविहं सम्मेयरमीसवेयणियं ॥१५॥

द्वे विधेऽस्य तद्द्विविधं द्विप्रकारम् । चः समुच्चये । मोहनीयं प्राङ्निरूपितशब्दार्थम् । द्वैविध्यमेवाह—दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं[1] च । तत्र दर्शनं सम्यग्दर्शनम्, तन्मोहयतीति दर्शनमोहनीयम् । चारित्रं विरतिरूपम्, तन्मोहयतीति चारित्रमोहनीयम् । तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिविधं त्रिप्रकारं सम्यक्त्वेतर-मिश्रवेदनीयम् । सम्यक्त्वरूपेण वेद्यते यत्तत्सम्यक्त्ववेदनीयम् । इतरग्रहणान्मिथ्यात्वरूपेण वेद्यते यत्तन्मिथ्यात्ववेदनीयम् । मिश्रग्रहणात्सम्यग्मिथ्यात्वरूपेण वेद्यते यत्तत्सम्यक्त्वमिथ्यात्ववेदनीयम् । एवमयं वेदनीयशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । इदं च बन्धं प्रत्येकविधमेव सत्कर्मतया त्रिविधमिति । आह—सम्यक्त्ववेदनीयं कथं दर्शनमोहनीयम् ? न हि तद्दर्शनं मोहयति, तस्यैव दर्शनत्वात् । उच्यते—मिथ्यात्वप्रकृतित्वादतिचारसंभवादौपशमिकादि-मोहनाच्च दर्शनमोहनीयमिति ॥१५॥

सम्बद्ध आत्मसंवेदनमें 'मैं रूपके देखनेमें समर्थ हूँ' इस प्रकारकी सम्भावनाका जो कारण है उसे चक्षुदर्शन कहा जाता है। इसी प्रकार चक्षुसे भिन्न अन्य चार इन्द्रियों और मनके आश्रयसे होने-वाले ज्ञानके उत्पादक प्रयत्नसे सम्बद्ध आत्मसंवेदनका नाम अचक्षुदर्शन है। अवधिज्ञानके उत्पादक प्रयत्नसे सम्बद्ध आत्मसंवेदनको अवधिदर्शन कहते हैं। तीनों कालोंसे सम्बद्ध अनन्त पर्यायोंके साथ जो आत्मस्वरूपका संवेदन होता है वह केवलदर्शन कहलाता है (पु. १०, पृ. ३१९) गाथामें जिन वेदनीयके दो भेदोंका निर्देश किया गया है उनमें जिसका वेदन सुखस्वरूपसे होता है या जो सुखका वेदन कराता है उसे सातावेदनीय कहते हैं। इसी प्रकार जिसका वेदन दुखस्वरूपसे होता है या जो दुखका वेदन कराता है उसे असातावेदनीय जानना चाहिए ॥१४॥

आगे मोहनीय कर्मके मूल दो भेदोंका उल्लेख करते हुए उनमें दर्शन मोहनीयके तीन भेदोंका निर्देश किया जाता है—

दर्शनमोह और चारित्रमोहके भेदसे मोहनीय दो प्रकारका है। इनमें दर्शनमोह तीन प्रकारका है—सम्यक्त्व, इतर (मिथ्यात्व) और मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) वेदनीय।

विवेचन —'दर्शन' से यहाँ सम्यग्दर्शन अभिप्रेत है। तत्त्वार्थश्रद्धानरूप उस सम्यग्दर्शनको जो मोहित किया करता है उसका नाम दर्शनमोह है। वह दर्शनमोह तीन प्रकारका है—सम्यक्त्व-वेदनीय, मिथ्यात्ववेदनीय और मिश्रवेदनीय। जिसका वेदन (अनुभवन) सम्यक्त्व रूपसे हुआ करता है उसे सम्यक्त्ववेदनीय कहते हैं। इसके विपरीत जिसका वेदन मिथ्यात्व—अतत्त्व-श्रद्धान—के रूपमें हुआ करता है उसका नाम मिथ्यात्ववेदनीय है। जिसका वेदन मिश्र रूपसे—सम्यक्त्व व मिथ्यात्व उभय रूपसे हुआ करता है उसे मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) वेदनीय कहा जाता है। यह दर्शनमोहनीय बन्धकी अपेक्षा तो एक ही प्रकारका है, पर सत्कर्मकी अपेक्षा वह पूर्वोक्त रूपमें तीन प्रकारका है। यहाँ यह शंका उपस्थित होती है कि सम्यक्त्ववेदनीय स्वयं सम्यक्त्वरूप होनेसे जब दर्शनको मोहित नहीं करती है तब उसे दर्शनमोहनीय कैसे कहा जा सकता है ? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि मिथ्यात्व प्रकृति होनेसे चूँकि उसके आश्रयसे

---

१. अ अतोऽग्रेऽग्रिम 'चारित्रमोहनीयं' पदपर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति ।

दुविहं चरित्तमोहं कसाय तह नोकसायवेयणियं ।
सोलस-नवभेयं पुण जहासंखं मुणेयव्वं ॥१६॥

द्विविधं द्विप्रकारम् । चारित्रमोहनीयं प्राङ्निरूपितशब्दार्थम् । कषायवेदनीयं तथा नोकषायवेदनीयं चेति । वेदनीयशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । तत्र क्रोधादिकषायरूपेण यद्वेद्यते तत्कषायवेदनीयम् । तथा स्त्रीवेदादिनोकषायरूपेण यद्वेद्यते तन्नोकषायवेदनीयम् । अस्यैव भेदानाह—षोडशनवभेदं पुनर्यथासङ्ख्येन मुणितव्यं षोडशभेदं कषायवेदनीयं नवभेदं नोकषायवेदनीयम् । भेदानन्तरं[1] वक्ष्यत्येवेति ॥१६॥ तत्र कषायभेदानाह—

अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणावरणा य संजलणा ।
कोहमणमायलोहा[2] पत्तेयं चउवियप्पत्ति ॥१७॥

अण इति सूचनात्सूत्रम् इति कृत्वा अनन्तानुबन्धिनो गृह्यन्ते, इह पारंपर्येणानन्तं भवमनुबद्धुं शीलं येषामिति अनन्तानुबन्धिनः उदयस्थाः सम्यक्त्वविघातिन इति कृत्वा । अविद्यमानप्रत्याख्याना अप्रत्याख्याना, देशप्रत्याख्यानं सर्वप्रत्याख्यानं च नैषामुदये लभ्यते इत्यर्थः । प्रत्याख्यानमावृण्वन्ति मर्यादया ईषद्वेति प्रत्याख्यानावरणाः, आङ्मर्यादायामीषदर्थे वा—मर्यादायां

अतिचारकी—सम्यक्त्वके मलिन होनेकी—सम्भावना है इससे तथा औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनको मोहित करनेके कारण भी उसे दर्शनमोहनीय कहा गया है ॥१५॥

आगे चारित्रमोहके दो भेदोंका निर्देश करते हुए उन दो भेदोंके अवान्तर भेदोंकी संख्याका निर्देश किया जाता है—

चारित्रमोह दो प्रकारका है—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय । इनके यथाक्रमसे सोलह और नौ भेद जानना चाहिए ॥१६॥

अब पूर्वनिर्दिष्ट कषायवेदनीयके उन सोलह भेदोंका निर्देश किया जाता है—

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इन चारोंमें प्रत्येक क्रोध, मान, माया और लोभके रूपमे चार-चार प्रकारके हैं।

विवेचन—जो विरतिरूप चारित्रको मोहित किया करता है उसका नाम चारित्रमोह है। वह कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीयके भेदसे दो प्रकारका है। इनमें जिसका वेदन क्रोधादि कषायके रूपसे हुआ करता है उसे कषायवेदनीय और जिसका वेदन स्त्रीवेदादि नोकषायके रूपसे हुआ करता है उसे नोकषायवेदनीय कहा जाता है। कषायके मूलमे चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ । इनमें-से प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनके भेदसे चार-चार प्रकारका है। गाथामे जो 'अण' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह अनन्तानुबन्धी अर्थका सूचक है। जिनके आश्रयसे जीवके अनन्त भवोंकी परम्परा चला करती है उन्हें अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषाय कहा जाता है। जिनके उदित होनेपर जीवको देश प्रत्याख्यान और सर्वप्रत्याख्यानका लाभ नही हो सकता है वे अप्रत्याख्यान क्रोधादि कहलाते हैं। प्रत्याख्यानावरणके अन्तर्गत 'आवरण' में जो आङ् उपसर्ग है उसका मर्यादा भी अर्थ होता है और ईषत् अर्थ भी होता है। जो प्रत्याख्यानका आवरण करते हैं—उसे प्रकट नहीं होने देते हैं—उनका नाम प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि है। ये मर्यादामें महाव्रतस्वरूप सर्वविरतिको ही आच्छादित करते हैं, न कि देशविरतिको। ईषत् अर्थमें भी वे सर्वविरतिको ही अल्प मात्रामें आच्छादित किया करते हैं, देशविरतिको

१. अ भेदाऽनंतरं । २. अ लोभा ।

सर्वविरतिमावृण्वन्ति न देशविरतिम्, ईषदर्थेऽपि ईषदावृण्वन्ति सर्वविरतिमेव न देशविरतिम्। देशविरतिश्च भूयसी, स्तोकादपि विरतस्य देशविरतिभावात्। चः समुच्चये। ईषत्परीषहादिसन्निपातज्वलनात्संज्वलनाः, सम्-शब्द ईषदर्थे इति। एवं क्रोध-मान-माया-लोभाः प्रतीतस्वरूपाः। प्रत्येकं चतुर्विकल्पा इति क्रोधोऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदाच्चतुर्विकल्पः, एवं मानादयोऽपीति। स्वरूपं चैतेषामित्थमाहुः—

जल-रेणु-पुढवि-पव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो।
तिणसलयाकट्ठट्ठिय-सेलत्थंभोवमो माणो ॥१॥
माया-वलेहि-गोमुत्तिमिढसिंगघणंवसंमूलसमा।
लोहो हलिद्द-खंजण-कद्दम-किमिरागसारित्थो ॥२॥
पक्ख-चउम्मास-वच्छरजावजीवाणुगामिणो कमसो।
देवनरतिरियनारयगतिसाहणहेयवो भणिया ॥३॥ इति

अधुना नोकषायभेदानाह—

इत्थीपुरिसनपुंसगवेयतिगं चेव होइ नायव्वं।
हास रइ अरइ भयं सोग दुगंछा य छक्कं ति ॥१८॥

नहीं। कारण इसका यह है कि देशविरति बहुत-सी है, जो अल्पहिंसादिसे भी विरत होता है उसके देशविरतिका सद्भाव रहता है। 'संज्वलन'में 'सम्'का ईषत् अर्थ है। तदनुसार जो परीषह आदिके होनेपर चारित्रवान्‌को भी किंचित् जलाते हैं—सन्तप्त किया करते हैं—वे संज्वलन क्रोधादि कहलाते हैं। अथवा 'सम्' का अर्थ एकीभाव भी होता है, तदनुसार जो चारित्रके साथ एकीभूत होकर जलते हैं—प्रकाशित रहते हैं—अथवा जिनके उदित रहनेपर भी चारित्र प्रकाशमान रहता है—उसे वे नष्ट नहीं करते हैं—उनको संज्वलन क्रोधादि समझना चाहिए। यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब ये संज्वलन क्रोधादि चारित्रको नष्ट नहीं करते हैं तब उन्हें चारित्रमोहके अन्तर्गत क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि ये प्रमादको प्राप्त (प्रमत्त) संयतके चारित्रमें दोष उत्पन्न करते हैं व यथाख्यात चारित्रको प्रकट नहीं होने देते हैं, इसीलिए उन्हें चारित्रमोहके अन्तर्गत किया गया है। इन संज्वलन क्रोधादिका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—संज्वलन क्रोधका स्वभाव जलकी रेखाके सदृश, प्रत्याख्यान क्रोधका स्वभाव धूलिकी रेखा-जैसा, अप्रत्याख्यान क्रोधका स्वभाव पृथिवीकी रेखाके समान और अनन्तानुबन्धी क्रोधका स्वभाव पर्वत (शिला) की रेखा-जैसा है। उपर्युक्त चार प्रकारके मानका स्वभाव क्रमसे तृणशलाका (तिनका), काष्ठ, हड्डी और पत्थरके स्तम्भके समान उत्तरोत्तर अधिक कठोरताको लिये हुए है। उपर्युक्त चार प्रकारकी मायाका स्वभाव क्रमसे खुरपा, गोमूत्र, मेढ़ेके सींग और सघन बाँसकी कुटिलताके समान उत्तरोत्तर अधिक कुटिलताको प्राप्त है। इसी प्रकार उक्त चार प्रकारके लोभका स्वभाव क्रमसे हलदी, खंजन पक्षी, कीचड़ और कृमिरागकी गहराईके समान उत्तरोत्तर तीव्रताको लिये हुए है। एक पक्ष, चार मास, एक वर्ष और जीवन पर्यन्त प्राणीका पीछा करनेवाल ये संज्वलनादि कषायें क्रमसे देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरकगतिकी कारण कही गयी हैं ॥१७॥

आगे पूर्वनिर्दिष्ट नोकषाय वेदनीयके नौ भेदोंका निर्देश किया जाता है—

स्त्री, पुरुष और नपुंसक ये तीन तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा ये छह इस प्रकार ये नोकषाय वेदनीयके नौ भेद जानना चाहिए।

१. अ मुत्तमेण्हसिंग घणवंसि०। २. अ भेयं सोय दु०।

स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदत्रिकं चैव भवति ज्ञातव्यम्, नोकषायवेद्यतयेति भावः। तत्र वेद्यत इति वेदः—स्त्रियः स्त्रीवेदोदयात्पुरुषाभिलाषः, पुरुषस्य पुरुषवेदोदयात्स्त्र्यभिलाषः, नपुंसकस्य तु नपुंसकवेदोदयादुभयाभिलाषः। हास्यं रतिः अरतिर्भयं शोको जुगुप्सा चैव षट्कमिति—तत्र सनिमित्तमनिमित्तं वा हास्यं प्रतीतमेव। बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु प्रीतिः रतिः। एतेष्वेवाप्रीतिररतिः। भयं त्रासः। परिदेवनादिलिङ्गः शोकः। चेतनाचेतनेषु वस्तुषु व्यलीककरणं जुगुप्सा। यदुदयादेते हास्यादयो भवन्ति ते नोकषायाख्याः मोहनीयकर्मभेदा इति भावः। नोकषायता चैतेषामाद्यकषाय-त्रयविकल्पानुवर्तित्वेन। तथाहि—न क्षीणेषु द्वादशस्वमीषां भाव इति ॥१८॥

> आउं च एत्थ कम्मं चउव्विहं नवरं होइ नायव्वं।
> नारयतिरियनरामरगई[1]भेयविभागओ भणिअं[2] ॥१९॥

आयुष्कं च प्राङ्निरूपितशब्दार्थम्, अत्र प्रक्रमे। क्रियत इति कर्म। चतुर्विधं चतुःप्रकारम्। भवति ज्ञातव्यं। नवरमिति निपातः स्वगतानेकभेदप्रदर्शनार्थः। चातुर्विध्यमेवाह—नारक-तिर्यङ्न-

विवेचन—'नोकषाय' मे 'नो' का अर्थ ईषत् है। तदनुसार जिनका वेदन ईषत् कषायके रूपसे हुआ करता है उन्हें नोकषाय वेदनीय कहा जाता है। अथवा 'नो' को साहचर्यका बोधक मानकर यह भी कहा जा सकता है कि जो प्रथम बारह कषायोंके साथ रहा करती हैं व उन अनन्तानुबन्धी क्रोधादिरूप बारह कषायोंके क्षीण हो जानेपर जिनका सद्भाव नहीं पाया जाता है वे नोकषाय कहलाती हैं। उन स्त्रीवेदादि नोकषायके रूपमें जिसका वेदन किया जाता है उसे नोकषायवेदनीय समझना चाहिए। उसके नौ भेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा। जिसके उदय से स्त्रीके पुरुषकी अभिलाषा हुआ करती है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। जिसके उदयसे पुरुषके स्त्रीकी अभिलाषा हुआ करती है उसे पुरुषवेद कहा जाता है। जिसके उदयसे स्त्री व पुरुष उभयकी अभिलाषा हुआ करती है उसका नाम नपुंसकवेद है। जिसके उदयसे प्राणीके किसी निमित्तको पाकर या बिना निमित्तके भी हँसी आती है वह हास्य कहलाता है। जिसके उदयसे बाह्य व अभ्यन्तर वस्तुओंमे प्रीति हुआ करती है उसे रति और जिसके उदयसे उनमें अप्रीति (द्वेष) हुआ करती है उसे अरति कहा जाता है। जिसके उदयसे किसी निमित्तके मिलनेपर या बिना किसी निमित्तके ही प्राणी अपने संकल्पके अनुसार डरा करता है उसे भय नोकषाय कहा जाता है। जिसके उदयमे प्राणी किसी इष्ट जनके वियोग आदिमें अनेक प्रकारसे विलाप करता है वह शोक नोकषाय कहलाती है। जिसके उदयसे चेतन व अचेतन वस्तुओंमें घृणा उत्पन्न होती है उसे जुगुप्सा नोकषाय कहा जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त सोलह कषाय और नौ नोकषाय ये सब मिलकर पचीस भेद चारित्र मोहनीय कर्मके हो जाते हैं ॥१८॥

अब क्रमप्राप्त आयुकर्मके भेदोंका निर्देश किया जाता है—

यहां आयुकर्म चार प्रकारका जानना चाहिए। वह नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन गतिभेदोंके विभागसे चार प्रकारका कहा गया है।

विवेचन—जिसके उदयसे ऊर्ध्वगमन स्वभाववाले जीवका नारक पर्यायमें अवस्थान होता है उसे नारकायु, जिसके उदयसे उसका तिर्यंच पर्यायमें अवस्थान होता है उसे तिर्यगायु, जिसके उदयसे उसका मनुष्य पर्यायमें अवस्थान होता है उसे मनुष्यायु और जिसके उदयसे उसका देव

---

१. अ गति। २. अ भणियं।

रामरगतिभेदविभागतो गतिभेदविभागेन । भणितमुक्तं तीर्थंकरगणधरैः । तद्यथा—नारकायुष्कं तिर्यगायुष्कं मनुष्यायुष्कं देवायुष्कमिति ॥१९॥

नामं दुचत्तभेयं गइजाइसरीरअंगुवंगे य ।
बंधण-संघायण-संघयण-संठाणनामं च ॥२०॥

नाम प्रागभिहितशब्दार्थं द्विचत्वारिंशत्प्रकारम् । भेदानाह— गतिनाम यदुदयान्नरकादिगतिर्गमनम्[2] । जातिनाम यदुदयादेकेन्द्रियादिजात्युत्पत्तिः । आह—स्पर्शनादीन्द्रियावरणक्षयोपशमसद्भावादेकेन्द्रियादित्वं नाम चौदयिको भावः तत्कथमेतदिति । उच्यते—तदुपयोगादिहेतुः

पर्यायमें अवस्थान होता है उसे देवायु कहा जाता है। इस प्रकार ये आयुकर्मके चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। गाथामें जो 'नवरं' इस निपातको ग्रहण किया गया है वह नारकायु आदिके अन्य अवान्तर भेदोंका सूचक है ॥१९॥

आगे नामकर्मके ४२ भेदोंमें गतिको आदि लेकर संस्थान पर्यन्त आठ भेदोंका निर्देश किया जाता है—

नामकर्म बयालीस प्रकारका है—उनमें १. गति, २. जाति, ३. शरीर, ४. अंगोपांग, ५. बन्धन, ६. संघातन, ७. संहनन और ८. संस्थान ये प्रथम आठ भेद हैं।

विवेचन—जिसके उदयसे जीव नरकादि गतिको प्राप्त होता है उसे गति नामकर्म कहते हैं। वह नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगतिके भेदसे चार प्रकारका है। जिसके उदयसे जीव नरकगतिको प्राप्त होता है उसका नाम नरकगति नामकर्म है। इसी प्रकार शेष तीन गतिनामकर्मोंका भी स्वरूप समझना चाहिए। जिसके उदयसे जीव एकेन्द्रिय आदि जीवोंमें उत्पन्न होता है उसे जातिनामकर्म कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जीवोंमें जो एकेन्द्रियत्व आदिरूप सदृश परिणाम हुआ करता है उसका नाम जाति है। वह जिस कर्मके उदयसे हुआ करती है उसे भी कारणमें कार्यका उपचार करके जातिनामकर्म कहा जाता है। वह एकेन्द्रिय आदिके भेदसे पाँच प्रकारका है। उनमें जिसके उदयसे जीव एकेन्द्रिय जातिमें उत्पन्न होता है वह एकेन्द्रिय जातिनामकर्म और जिसके उदयसे वह द्वीन्द्रिय जातिमें उत्पन्न होता है वह द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म कहलाता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति नामकर्मोंका भी स्वरूप समझना चाहिए। यहाँ शंका उपस्थित होती है कि स्पर्शन आदि इन्द्रियावरणोंके क्षयोपशमके सद्भावसे एकेन्द्रिय अवस्था होती है, ऐसी अवस्थामें उसे औदयिक कैसे माना जा सकता है? इसके उत्तरमें कहा गया है कि क्षयोपशम उनके उपयोग आदिका कारण है तथा ऐकेन्द्रिय आदि संज्ञाका कारण नामकर्म है। ऐसा होनेसे यहाँ दोषकी सम्भावना नहीं है। जिसके उदयसे जीवके औदारिक आदि शरीरका सद्भाव होता है उसे शरीर नामकर्म कहते हैं। वह पाँच प्रकारका है—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। जिसके उदयसे जीव औदारिक शरीरके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण कर उन्हें औदारिक शरीरके रूपमें परिणमाता है उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष वैक्रियिक आदि चार शरीर नामकर्मोंका भी स्वरूप जानना चाहिए। जिसके उदयसे शिर आदि अंगोंको और श्रोत्र आदि अंगोपांगोंकी रचना होती है वह अंगोपांग नामकर्म कहलाता है। शिर, वक्ष, पेट, पीठ, दो हाथ और ऊरु (पांव) ये आठ हैं। अंगुलि आदिकोंको उपांग और शेष (अंगुलियोंके पर्व आदि) को अंगोपांग माना जाता है। यह

---

१. अ भणितं तीर्थंकर। २. अ गति गमनं।

क्षयोपशम एकेन्द्रियादिसंज्ञानिबन्धनं च नामेति न दोषः। शरीरनाम यदुदयादौदारिकादिशरीरभावः। अङ्गोपाङ्गनाम यदुदयादङ्गोपाङ्गनिर्वृत्तिः शिरःप्रभृतीन्यङ्गानि[1] श्रोत्रादीन्यङ्गोपाङ्गानि। उक्तं च–

सीसमुरोदरपिट्ठी दो बाहू ऊरुभयाय अट्ठंगा।
अंगुलिमाइ उवंगा अंगोवंगाइं सेसाइं॥

बन्धननाम यत्सर्वात्मप्रदेशैर्गृहीतानां गृह्यमाणानां च पुद्गलानां संबन्धजनकं अन्यशरीरपुद्गलैर्वा जतुकल्पमिति। संघातननाम यदुदयादौदारिकादिशरीरयोग्यपुद्गलग्रहणे शरीररचना

अंगोपांग नामकर्म औदारिक शरीरांगोपांग, वैक्रियिक शरीरांगोपांग और आहारक शरीरांगोपांगके भेदसे तीन प्रकारका है। जिसके उदयसे औदारिकशरीर रूपसे परिणत पुद्गलोंका अंग, उपांग और अंगोपांगोंके रूपमें विभाजन होता है वह औदारिकशरीरांगोपांग कहलाता है। इसी प्रकार वैक्रियिक और आहारक शरीरांगोपांग नामकर्मोंका भी स्वरूप समझना चाहिए। तैजस और कार्मण इन दो शरीरोंके अंगोपांगोंकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि वे जीवप्रदेशोंके समान होते हैं। जिसके उदयसे समस्त आत्मप्रदेशोंके द्वारा पूर्वमें ग्रहण किये गये तथा वर्तमानमें ग्रहण किये जानेवाले पुद्गलोंका परस्पर अथवा अन्य शरीरगत पुद्गलोंके साथ लाखके समान सम्बन्ध होता है उसका नाम बन्धन नामकर्म है। वह औदारिकशरीरबन्धन आदिके भेदसे पाँच प्रकारका है। जिसके उदयसे समस्त आत्मप्रदेशोंके द्वारा पूर्वमें ग्रहण किये गये तथा वर्तमानमें ग्रहण किये जानेवाले औदारिक शरीरगत पुद्गलोंका परस्परमें तथा अन्य शरीरगत पुद्गलोंके साथ एकता रूप सम्बन्ध होता है उसे औदारिक शरीरबन्धन नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष चार बन्धन नामकर्मोंका भी स्वरूप जानना चाहिए। जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण होनेपर उन शरीरोंकी रचना होती है उसे संघातन नामकर्म कहते हैं। वह भी औदारिक आदि शरीरोंके भेदसे पाँच प्रकारका है। जिसके उदयसे औदारिक शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण होनेपर औदारिक शरीरकी रचना होती है उसे औदारिक शरीर संघातन नामकर्म कहा जाता है। इसी प्रकार शेष चार संघातन नामकर्मोंका भी स्वरूप जान लेना चाहिए। जो वज्रऋषभनाराच आदि संहननोंका कारण है उसे संहनन नामकर्म कहा जाता है। वह छह प्रकारका है—वज्रर्षभनाराच, अर्धवज्रर्षभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सृपाटिका संहनन नामकर्म। वज्रका अर्थ कीलिका, ऋषभका अर्थ परिवेष्टन पट्ट और नाराचका अर्थ उभयतः मर्कटबन्ध है। तदनुसार जिसका उदय होनेपर उभयतः मर्कटबन्धसे बँधी हुई व पट्टके आकार तीसरी हड्डीसे वेष्टित दो हड्डियोंके ऊपर उन तीनों हड्डियोंकी भेदक कीलिकासंज्ञक वज्र नामक हड्डी हुआ करती है उसे वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे हड्डियोंके बन्धनविशेषमे वज्र, ऋषभ और नाराच आधे होते हैं उसे अर्धवज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म कहा जाता है। जिस कर्मके उदयमें हड्डियोंके बन्धनमें केवल उभयतः मर्कटबन्धरूप नाराच ही रहता है उसे नाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं। जिस कर्मका उदय होनेपर हड्डियोंके परस्पर बन्धनमें आधा नाराच (मर्कटबन्ध) रहता है उसे अर्धनाराचसंहनन नामकर्म कहा जाता है। जिस कर्मके उदयसे हड्डियाँ परस्पर कीलिका मात्रसे सम्बद्ध रहा करती हैं उसका नाम कीलिका संहनन नामकर्म है। जिस कर्मका उदय होनेपर हड्डियाँ दोनों ओर चमड़े, स्नायु और मांससे सम्बद्ध रहा करती हैं वह सृपाटिकासंहनन नामकर्म कहलाता है। जो कर्म चतुरस्रादिरूप शरीर संस्थानका कारण है उसे संस्थान नामकर्म कहा जाता है। वह समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल,

---

१. अ शिरःप्रवृत्तीत्यंगानि।

भवति। संहनननाम वज्रऋषभनाराचादिसंहनननिमित्तम्। संस्थाननाम समचतुरस्रादिसंस्थान-कारणम्। चः समुच्चय इति गाथार्थः ॥२०॥

तह वण्णगंधरसफासनामगुरुलहू य बोद्धव्वं।
उवघायपराघायाणुपुव्विऊसासनामं च ॥२१॥

तथा वर्णनाम यदुदयात्कृष्णादिवर्णनिर्वृत्तिः। एवं गन्ध-रस-स्पर्शेष्वपि स्वभेदापेक्षया भावनी-यमिति। अगुरुलघु च बोद्धव्यं अत्रानुस्वारदीर्घत्वेऽलाक्षणिके सुखोच्चारणार्थं तूपन्यस्ते। तत्रागुरु-

---

साचि, सादि या स्वाति, कुब्ज, वामन और हुण्ड संस्थानके भेदसे छह प्रकारका है। जिसके उदयसे प्राणियोंके समचतुरस्रसंस्थान उत्पन्न होता है उसे समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म कहते हैं। समचतुरस्रसंस्थान वह कहलाता है जिसमें प्राणियोंके शरीरके अवयव चारों दिशाओंमें सामुद्रिक शास्त्रमें निर्दिष्ट प्रमाणसे युक्त होते हैं—हीनाधिक प्रमाणवाले नहीं होते। जिसके उदयसे न्यग्रोध (वटवृक्ष) के आकारमें नाभिके ऊपरके सब अवयव समचतुरस्रसंस्थानरूप समुचित प्रमाणसे युक्त होते हैं, पर नीचेके अवयव ऊपरके अवयवोंके अनुरूप नहीं होते हैं उसे न्यग्रोधपरिमण्डल-संस्थान नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे नाभिके नीचेके सब अवयव समचतुरस्रसंस्थानस्वरूप सुन्दर, पर ऊपरका भाग तदनुरूप नहीं होता है उसे साचि, सादि या स्वातिसंस्थान नामकर्म कहा जाता है। सादि या साचिका अर्थ शाल्मली वृक्ष होता है। उसके आकारमें शरीरके अवयवोंकी रचना होनेसे इस संस्थानको साचि या सादि संस्थान कहा गया है। तत्त्वार्थवार्तिक (८, ११, ८) और धवला (पु. ६, पृ. ७१) आदिमें जहाँ इसका उल्लेख 'स्वातिसंस्थान' के नामसे किया गया है वहाँ 'स्वाति' से साँपकी बामी या शाल्मली वृक्षको भी ग्रहण किया गया है। अभिप्राय प्रायः वही रहा है। जिसके उदयसे शिर, ग्रीवा व हाथ-पाँव आदिके यथोक्त प्रमाणमें होनेपर भी वक्ष, उदर व पीठ आदि तदनुरूप न होकर प्रचुर पुद्गलके संचयसे युक्त होते हैं उसे कुब्जसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे वक्ष और पेट आदि योग्य प्रमाणमें होते हैं, पर हाथ-पाँव छोटे होते हैं वह वामनसंस्थान नामकर्म कहलाता है। जिसके उदयसे शरीरके सब ही अवयव ठीक प्रमाणमें न होकर बेडौल होते हैं उसका नाम हुण्डसंस्थान है ॥२०॥

इस प्रकार नामकर्मके प्रथम आठ भेदोंका निर्देश करके अब आगे उसके वर्णादि अन्य नौ भेदोंका निर्देश किया जाता है—

९ वर्ण, १० गन्ध, ११ रस, १२ स्पर्श, १३ अगुरुलघु, १४ उपघात, १५ पराघात, १६ आनुपूर्वी और १७ उच्छ्वास ये उसके आगेके अन्य नौ भेद हैं।

विवेचन—इनका पृथक्-पृथक् स्वरूप इस प्रकार है—जिसके उदयसे शरीरमें कृष्ण आदि वर्णोंकी रचना होती है उसे वर्ण नामकर्म कहते हैं। वह कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्लके भेदसे पाँच प्रकारका है। इनमें जिसके उदयसे शरीरमें कृष्णवर्णका प्रादुर्भाव होता है वह कृष्णवर्ण नामकर्म कहलाता है। इसी प्रकार शेष नील आदि चार नामकर्मोंका भी स्वरूप समझ लेना चाहिए। जिसके उदयसे शरीरमें गन्धका प्रादुर्भाव होता है उसे गन्ध नामकर्म कहा जाता है। वह दो प्रकारका है—सुरभिगन्ध नामकर्म और असुरभिगन्ध नामकर्म। जिसके उदयसे शरीरमें सुरभि-गन्ध (सुगन्ध) का प्रादुर्भाव होता है उसे सुरभिगन्ध और जिसके उदयसे शरीरमें असुरभिगन्ध (दुर्गन्ध) का प्रादुर्भाव होता है उसे असुरभिगन्ध नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे शरीरमें रसका प्रादुर्भाव होता है उसे रस नामकर्म कहा जाता है। वह तिक्त, कटुक, कषाय, आम्ल

लघुनाम यदुदयान्न गुरुर्नापि लघुर्भवति देह इति एकान्ततदभावे सदा निमज्जनोर्ध्वगमनप्रसंगः। उपघातनाम यदुदयादुपहन्यते। परघातनाम यदुदयात्परानाहन्ति। आनुपूर्वीनाम यदुदयादपान्तरालगतौ नियतदेशमनुश्रेणिगमनम्, नियत एवाङ्गविन्यास इत्यन्ये। उच्छ्वासनाम यदुदयादुच्छ्वासनिःश्वासौ भवतः। आह—यद्येवं पर्याप्तिनाम्नः क्वोपयोग इति ? उच्यते—पर्याप्तिः करणशक्तिः उच्छ्वासनामवत एव तन्निवृत्तौ सहकारिकारणं इषुक्षेपणशक्तिमतो धनुर्ग्रहणशक्तिवत्। एवमन्यत्रापि भिन्नविषयता सूक्ष्मधियावसेया। चः समुच्चये इति ॥२१॥

और मधुर रस नामकर्मके भेदसे पाँच प्रकारका है। इनमें जिसके उदयसे शरीरमें तिक्त (तीखा) रसका प्रादुर्भाव होता है वह तिक्त रस नामकर्म कहलाता है। इसी प्रकार शेष कटुक आदि चार-चार रस नामकर्मोंका भी स्वरूप जानना चाहिए। जिसके उदयसे शरीरमें स्पर्शका प्रादुर्भाव होता है उसे स्पर्श नामकर्म कहा जाता है। वह कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण नामकर्मके भेदसे आठ प्रकारका है। इनमें जिसके उदयसे शरीरमें कर्कश (कठोर) स्पर्शका प्रादुर्भाव होता है वह कर्कश नामकर्म कहलाता है। इसी प्रकार शेष मृदु आदि सात स्पर्श नामकर्मोंका भी स्वरूप जानना चाहिए। जिसके उदयसे शरीर न तो भारी होता है और न हलका भी उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं। यदि यह कर्म न होता तो प्राणीके शरीरके निमज्जन—नीचे गिर जाने—अथवा ऊर्ध्वगमनका प्रसंग दुर्निवार होता। जिसके उदयसे प्राणी अपने शरीरके भीतर बढ़नेवाले प्रतिजिह्वा, गलवृन्द और चोर दाँत आदि अवयवोंके द्वारा पीड़ाको प्राप्त होता है उसे उपघात नामकर्म कहा जाता है। जिसके उदयसे प्राणी दूसरोंका घात किया करता है वह परघात नामकर्म कहलाता है। जिसके उदयसे प्राणी अपान्तरालगति (विग्रहगति)में श्रेणिके अनुसार नियत देशको जाता है उसका नाम आनुपूर्वी नामकर्म है। अन्य किन्हीं आचार्योंके मतानुसार जिसके उदयसे निर्माण नामकर्मके द्वारा निर्मित शरीरके अंग-उपांगोंके विनिवेश क्रमका नियमन होता है उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहा जाता है। अन्य किन्हीं आचार्योंके अभिमतानुसार आनुपूर्वी या आनुपूर्व्य नामकर्म वह कहलता है जिसके कि उदयसे विग्रहगतिमें वर्तमान जीवके पूर्व शरीरके आकारका विनाश नहीं होता (स. सि. ८-११)। इस प्रकार आनुपूर्वीके लक्षणके विषयमें अनेक उपलब्ध होते हैं। (देखिए जैन लक्षणावलीमें 'आनुपूर्वी' और 'आनुपूर्व्य' ये दो शब्द)। वह आनुपूर्वी नामकर्म नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वीके भेदसे चार प्रकारका है। जिसके उदयसे नरकभवके अभिमुख हुए जीवके विग्रहगतिमें पूर्व शरीरका आकार बना रहता है—वह नष्ट नहीं होता है—उसे नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी कहते हैं। गर्गमहर्षि विरचित कर्मविपाक (१२२) के अनुसार नरकायुका उदय होनेपर मोड़ा लेकर गमन करते हुए जीवके उस विग्रहवाली गतिमें नरकानुपूर्वीका उदय होता है, ऋजुगतिमें उसका उदय नहीं होता। इसी प्रकार शेष तीन आनुपूर्वियोंके स्वरूपको भी समझना चाहिए। जिस कर्मके उदयसे उच्छ्वास और निःश्वास होते हैं वह उच्छ्वास नामकर्म कहलाता है। यहाँ शंका उपस्थित होती है कि यदि उच्छ्वास-निःश्वास उच्छ्वास नामकर्मके उदयसे होते हैं तो फिर उच्छ्वास पर्याप्तिका उपयोग कहाँ होगा ? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि पर्याप्ति तो करणशक्ति है जो उच्छ्वास नामकर्मसे युक्त जीवके ही उसकी रचनामें सहकारी कारण है। इसके लिए यह उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार बाणके चलानेकी शक्तिसे युक्त धनुषधारीके धनुष ग्रहणकी शक्ति उसमें सहायक होती है ॥२१॥

अब उस नामकर्मके आतप आदि आगेके अन्य नौ भेदोंका निर्देश किया जाता है—

आयवउज्जोयविहायगई य तसथावराभिहाणं च ।
बायरसुहुमं पज्जत्तापज्जत्तं च नायव्वं ॥२२॥

आतपनाम यदुदयादातपवान् भवति पृथिवीकाये आदित्यमण्डलादिवत् । उद्योतनाम यदुदयादुद्योतवान् भवति खद्योतकादिवत् । विहायोगतिनाम यदुदयाच्चंक्रमणम् । इदं च द्विविधं प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् । प्रशस्तं हंस-गजादीनाम्, अप्रशस्तमुष्ट्रादीनामिति । त्रसनाम यदुदयाच्चलनं स्पन्दनं च भवति । त्रसत्वमेवान्ये । स्थावराभिधानं चेति स्थावरनाम यदुदयादस्पन्दनो भवति । स्थावर एवान्ये । चः समुच्चये । बादरनाम यदुदयाद्बादरो भवति, स्थूर इत्यर्थः । इन्द्रियगम्य इत्यन्ये । सूक्ष्मनाम यदुदयात्सूक्ष्मो भवति अत्यन्तश्लक्ष्णः, अतीन्द्रिय इत्यर्थः । पर्याप्तकनाम यदुदयादिन्द्रियादिनिष्पत्तिर्भवति । अपर्याप्तकनाम उक्तविपरीतं यदुदयादसंपूर्णपर्याप्त्यनिवृत्तिर्न त्वाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्त्यनिवृत्तिरपि । यस्मादागामिभवायुष्कं बध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाहार-शरीरेन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तानामेव बध्यत इति ॥२२॥

---

१८ आतप, १९ उद्योत, २० विहायोगति, २१ त्रस, २२ स्थावर नामक, २३ बादर, २४ सूक्ष्म, २५ पर्याप्त और २६ अपर्याप्त, इस प्रकार यहाँ तक उसके २६ भेद हो जाते हैं।

विवेचन—इन आतप आदिका पृथक् स्वरूप इस प्रकार है—

जिसके उदयसे पृथिवीकायमें जीवका शरीर सूर्यमण्डलके समान आतपसे युक्त होता है उसे आतप नामकर्म कहते है। जिसके उदयसे जुगुनू आदिके समान जीवका शरीर उद्योतसे युक्त होता है उसे उद्योत नामकर्म कहा जाता है। जिसके उदयसे जीवका गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म कहलाता है। वह प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका है। इनमें प्रशस्त विहायोगति-का उदय हंस और हाथी आदिके तथा अप्रशस्त विहायोगतिका उदय ऊँट आदिके हुआ करता है। जिसके उदयसे चलना और परिस्पन्दन होता है वह त्रस नामकर्म कहलाता है। अन्य आचार्योंके मतानुसार इस त्रस नामकर्मके उदयसे केवल त्रसत्व—त्रस अवस्था ही—होती है। जिसके उदयसे प्राणी स्पन्दनसे रहित होता है उसे स्थावर नामकर्म कहा जाता है। अन्य आचार्योंके अभिमतानुसार इस स्थावर नामकर्मके उदयसे जीव स्थावर—स्थिर स्वभाववाला—ही होता है। जिसके उदयसे जीवका शरीर बादर (स्थूल) होता है उसे बादर नामकर्म कहते है। अन्य आचार्योंके अभिप्रायानुसार जिसके उदयसे जीव इन्द्रियगोचर होता है उसे बादर नामकर्म कहा जाता है। जिसके उदयसे जीवका शरीर सूक्ष्म, अर्थात् अतिशय श्लक्ष्ण या अतीन्द्रिय होता है उसका नाम सूक्ष्म नामकर्म है। जिसके उदयसे इन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति होती है उसे पर्याप्त नामकर्म कहते हैं। इसके विपरीत जिसके उदयसे समस्त पर्याप्तियोंकी निवृत्ति (रचना या उत्पत्ति) नहीं होती है उसे अपर्याप्त नामकर्म कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि अपर्याप्त नामकर्मका उदय होनेपर आहार, शरीर और इन्द्रिय पर्याप्तियोंकी निवृत्ति तो सम्भव है, पर समस्त पर्याप्तियोंकी निवृत्ति उसके उदयमें सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि सब ही प्राणी आगामी भवकी आयुको बाँध करके ही मरते हैं और उस आयुका बन्ध आहार, शरीर और इन्द्रिय पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवोंके ही होता है ॥२२॥

अब उसके प्रत्येक आदि आगेके दस भेदोंका निर्देश किया जाता है—

---

१. अ उज्जोवविहायगती । २. अ बायरसुहुमपज्जत्ता० । ३. अ तथाहारशरीरेंद्रियपर्याप्तानामेव ।

पत्तेयं साहरण-थिरमथिरसुहासुहं च नायव्वं ।
सुभगदूभगनामं सूसर तह दूसरं चेव ॥२३॥

प्रत्येकनाम यदुदयादेको जीव एकमेव शरीरं निवर्तयति । साधारणनाम यदुदयाद् बहवो जीवा एकं शरीरं निवर्तयन्ति । स्थिरनाम यदुदयाच्छरीरावयवानां शिरोऽस्थि-दन्तादीनां स्थिरता भवति । अस्थिरनाम यदुदयात्तदवयवानामेव चलता भवति कर्णजिह्वादीनाम् । शुभाशुभं च ज्ञातव्यम्—तत्र शुभनाम यदुदयाच्छरीरावयवानां शुभता, यथा शिरसः । विपरीतमशुभनाम, यथा पादयोः । तथा शिरसा स्पृष्टस्तुष्यति, पादाहतस्तु रुष्यति । कामिनीव्यवहारे व्यभिचार इति चेत् न, तस्य मोहनीयनिबन्धनत्वात्, वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यत इति । सुभगनाम यदुदयात्कान्तो भवति । तद्विपरीतं च दुर्भगनामेति । सुस्वरनाम यदुदयात्सौस्वर्यं भवति श्रोतुः प्रीतिहेतुः । तथा दुःस्वरं चैवेति सुस्वरनामोक्तविपरीतमिति ॥२३॥

आइज्जमणाइज्जं जसकित्तीनाममजसकित्ती य ।
निम्माणनाममउलं चरमं तित्थयरनामं च ॥२४॥

आदेयनाम यदुदयादादेयो भवति—यच्चेष्टते भाषते वा तत्सर्वं लोकः प्रमाणीकरोति ।[3]

२७ प्रत्येक, २८ साधारण, २९ स्थिर, ३० अस्थिर, ३१ शुभ, ३२ अशुभ, ३३ सुभग, ३४ दुर्भग, ३५ सुस्वर और ३६ दुःस्वर जानना चाहिए । इस प्रकार यहाँ तक प्रकृत नाम कर्मके ३६ भेद हो जाते है ।

विवेचन—इनका पृथक् स्वरूप इस प्रकार है—जिसके उदयसे एक जीव एक ही शरीरकी रचना करता है उसे प्रत्येक नामकर्म कहते है । जिसके उदयसे बहुतसे जीव एक शरीरकी रचना करते है उसे साधारण नामकर्म कहा जाता है । जिसके उदयसे शरीरके अवयवभूत सिर, हड्डी और दांत आदिकी स्थिरता होती है उसे स्थिर नामकर्म तथा जिसके उदयसे उस शरीरके कान और जीभ आदि अवयवोंकी ही अस्थिरता या चंचलता होती है उसे अस्थिर नामकर्म कहा जाता है । जिसके उदयसे शरीरगत अवयवोंकी उत्तमता, जैसे सिरकी उत्तमता होती है वह शुभ नामकर्म और इसके विपरीत जिसके उदयसे उन अवयवोंमें—जैसे पाँवोंमें—हीनता होती है वह अशुभ नामकर्म कहलाता है । लोकव्यवहारमें यह देखा भी जाता है कि यदि किसीका सिरसे स्पर्श किया जाता है तो वह प्रसन्न होता है तथा इसके विपरीत यदि किसीको पाँवसे ताड़ित किया जाता है तो वह रुष्ट होता है । जिसके उदयसे प्राणी दूसरोंके द्वारा अभिलषनीय या प्रशंसनीय होता है उसे सुभग और इसके विपरीत जिसके उदयसे वह दूसरोंके द्वारा अनभिलषनीय या निन्दनीय होता है, उसे दुर्भग नामकर्म कहते है । जिसके उदयसे प्राणीका सुन्दर स्वर श्रोताको प्रीतिका कारण होता है वह सुस्वर और इसके विपरीत जिसके उदयसे उसका स्वर श्रोताको अप्रीतिकर होता है वह दुःस्वर नामकर्म कहलाता है ॥२३॥

अब प्रकृत नामकर्मके शेष रहे आदेय आदि छह भेदोंका निर्देश किया जाता है—

३७ आदेय, ३८ अनादेय, ३९ यशःकीर्ति, ४० अयशःकीर्ति, ४१ निर्माण और ४२ अन्तिम अनुपम तीर्थंकर नामकर्म । इस प्रकार उस नामकर्मके गा. २०-२४ में निर्दिष्ट ४२ भेद हो जाते हैं ।

विवेचन—जिसके उदयसे प्राणी दूसरोंके लिए ग्राह्य होता है उसे आदेय नामकर्म कहा

१. अ आयज्जमणाएज्जं । २. अ °मजसकित्तं च । ३. अ प्रमाणं करोति ।

तद्विपरीतमनादेयम्। यशःकीर्तिनाम यदुदयाद्यशःकीर्तिभावः। यशःकीर्त्योर्विशेषः—दानपुण्यफला कीर्तिः, पराक्रमकृतं यशः। अयशःकीर्तिनाम चोक्तविपरीतम्। निर्माणनाम यदुदयात्सर्वजीवानां जातौ अङ्गोपाङ्गनिवेशो भवति। जातिलिङ्गाकृतिव्यवस्थानियम इत्यन्ये। अतुलं प्रधानम्। चरमं प्रधानत्वात्सूत्रक्रमप्रामाण्याच्चेति। तीर्थंकरनाम यदुदयात्सदेवमनुष्यासुरस्य जगतः पूज्यो भवति। चः समुच्चये इति ॥२४॥

> गोयं च दुविहभेयं उच्चागोयं तहेव नीयं च।
> चरमं च पंचभेअं पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥२५॥

गोत्रं प्राङ्निरूपितशब्दार्थं भवति। द्विविधं द्विप्रकारम्। उच्चैर्गोत्रं तथैव नीचं चेति नीचैर्गोत्रं च। तत्रोच्चैर्गोत्रं यदुदयादज्ञानी विरूपोऽपि सत्कुलमात्रादेव पूज्यते। नीचैर्गोत्रं तु यदुदयाज्ज्ञानादियुक्तोऽपि निन्द्यते। चरमं च पर्यन्तवर्ति च सूत्रक्रमप्रामाण्यात्। पञ्चभेदं पञ्चप्रकारम्। प्रज्ञप्तं प्ररूपितं वीतरागैरर्हद्भिरिति ॥२५॥

> तं दाणलाभभोगोवभोगविरियंतराइयं[1] जाण।
> चित्तं पोग्गलरूवं विन्नेयं सव्वमेवेयं ॥२६॥

तद्दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्यान्तरायं जानीहि। तत्र दानान्तरायं यदुदयात्सति दातव्ये

जाता है। इस कर्मका उदय होनेपर प्राणी जैसी कुछ प्रवृत्ति करता है बोलता है उस सबको लोग प्रमाण करते हैं, इसके विपरीत जिसके उदयसे प्राणी दूसरोंके लिए अग्राह्य होता है वह अनादेय नामकर्म कहलाता है। इस कर्मका उदय होनेपर प्राणी युक्तिसंगत बोलता है, फिर भी लोग उसे प्रमाण नहीं करते तथा आदरके योग्य होनेपर भी उसका आदर नहीं किया जाता। जिसके उदयसे प्राणीका यश और कीर्ति फैलती है उसका नाम यशःकीर्ति नामकर्म है। दान जनित पुण्यके फलसे कीर्ति और पराक्रमके प्रभावसे यशका प्रादुर्भाव होता है, यह इन दोनोंमें भेद समझना चाहिए। उसके विपरीत जिस कर्मके उदयसे प्राणीके यश व कीर्तिका प्रसार नहीं होता है उसे अयशःकीर्ति नामकर्म कहा जाता है। जिसके उदयसे सब जीवोंका जातिमें अंग-उपांगोंका निवेश होता है उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं। अन्य किन्हीं आचार्योंके मतानुसार जो जाति, लिंग और आकृतिका नियमन करता है उसे निर्माण नामकर्म कहा जाता है। जिसका उदय होनेपर जीव देव, मनुष्य और असुरोंसे परिपूर्ण समस्त लोकका पूज्य होता है उसे तीर्थंकर नामकर्म कहते हैं ॥२४॥

अब गोत्र कर्मके दो भेदोंको दिखलाते हुए अन्तराय कर्मके भेदोंकी संख्याका निर्देश किया जाता है—

गोत्रकर्म दो प्रकारका है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। अन्तिम अन्तराय कर्म वीतराग जिनके द्वारा पाँच प्रकारका कहा गया है। पूर्वोक्त गोत्र कर्मके दो भेदोंमें जिसके उदयसे जीव अज्ञानी व विरूप होकर भी केवल उत्तम कुलके कारण पूजा जाता है उसे उच्चगोत्र और जिसके उदयसे वह ज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न होता हुआ भी निन्दाका पात्र बनता है उसे नीचगोत्र कहा जाता है ॥२५॥

आगे अन्तराय कर्मके पूर्व निर्दिष्ट पाँच भेदोंका नामनिर्देश किया जाता है—

उस अन्तरायको दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तरायके रूपमें पाँच प्रकारका

---

१. अ विरयंतरायं।

प्रतिग्राहके च पात्रविशेषे दानफलं च जानन्नोत्सहते दातुम्। लाभान्तरायं तु यदुदयात्सत्यपि प्रसिद्धे दातरि तस्यापि कम्यस्य भावे याञ्चाकुशलोऽपि न लभते। भोगान्तरायं तु यदुदयात्सति विभवे अन्तरेण विरतिपरिणामं न भुंक्ते भोगान्। एवमुपभोगान्तरायमपि। नवरं भोगोपभोगयोरेवं विशेषः—सकृद्भुज्यत इति भोगः आहार-माल्यादिः[1], पुनः पुनरुपभुज्यत इत्युपभोगः भवन-वलयादिः। उक्तं च—

सइ भुज्जइ त्ति भोगो[2] सो उण आहार-फुल्लमाईसु।
उवभोगो उ पुणो पुण उवभुज्जइ भुवणव-लयाई[3] ॥

वीर्यान्तरायं तु यदुदयान्निरुजो वयस्थश्चाल्पवीर्यो भवति। चित्रं पुद्गलरूपं विज्ञेयं सर्वमेवेदम्—चित्रमनेकरूपं चित्रफलहेतुत्वात्, पुद्गलरूपं परमाण्वात्मकं न वासनादिरूपममूर्तमिति, विज्ञेयं ज्ञातव्यं भिन्नालम्बनं पुनः क्रियाभिधानमदुष्टमेव। सर्वेदं ज्ञानावरणादि कर्मेति ॥२६॥

एयस्स एगपरिणामसंचियस्स उ ठिई समरकाया।
उक्कोसेयरभेया तमहं वुच्छं समासेणं ॥२७॥

एतस्य चानन्तरोदितस्य कर्मणः। एकपरिणामसंचितस्य। तु-शब्दस्य विशेषणार्थत्वात्प्रायः क्लिष्टैकपरिणामोपात्तस्येत्यर्थः। स्थितिः समाख्याता सांसारिकाशुभफलदातृत्वेनावस्थानम्। उक्तमागम इति गम्यते। उत्कृष्टेतरभेदादुत्कृष्टा जघन्या च समाख्यातेति भावः। तां स्थितिमहं

जानना चाहिए। यह सब ही ज्ञानावरणादि रूप कर्म पुद्गल परमाणुस्वरूप अनेक प्रकारका जानना चाहिए।

विवेचन—इन पाँच अन्तराय कर्मोंका स्वरूप इस प्रकार है—जिसके उदयसे देने योग्य द्रव्य और ग्रहण करनेवाले विशिष्ट पात्रके रहते हुए तथा दानके फलको जानता हुआ भी जीव देनेके लिए उत्साहित नहीं होता है उसे दानान्तराय कहते हैं। जिसके उदयसे प्रसिद्ध दाता और उसके पास प्राप्त करने योग्य वस्तुके होनेपर भी तथा माँगनेमें निपुण होता हुआ भी प्राणी अभीष्ट वस्तुको प्राप्त नहीं कर पाता है उसका नाम लाभान्तराय है। जिसके उदयसे जीव वैभवके होनेपर भी तथा विरतिरूप परिणामके न होते हुए भी भोगोंको नहीं भोग सकता है वह भोगान्तराय कहलाता है। इसी प्रकार उपभोगरूप वस्तुओंके होनेपर तथा विरतिरूप परिणामके न होनेपर भी जिसके उदयसे जीव उनका उपभोग नहीं कर पाता है उसे उपभोगान्तराय कहते हैं। जो वस्तु एक ही बार भोगनेमें आती है उसे भोग कहा जाता है—जैसे आहार व माला आदि। इसके विपरीत जो वस्तु बार-बार भोगनेमें आती है उसे उपभोग कहा जाता है—जैसे महल व चूड़ी आदि आभूषण। जिसके उदयसे प्राणी नीरोग व योग्य अवस्थाको प्राप्त होकर भी हीन वीर्यवाला हुआ करता है उसका नाम वीर्यान्तराय है। प्रस्तुत कर्म चूँकि अनेक प्रकारके फलको दिया करता है इसीलिए उसे यहाँ चित्र—अनेक प्रकारका—कहा गया है। साथ ही उसे पुद्गलरूप कहकर उसकी अमूर्तिकताको प्रकट करते हुए वासनादि रूपताका निषेध भी कर दिया गया है ॥२६॥

आगे इस कर्मकी स्थितिके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

एक परिणामसे संचित—क्लिष्ट एक परिणाम से उपार्जित—इस कर्मकी जो आगममें

---

१. अ विल्यादि। २. अ भुज्जतु इति भोगो। ३. अ विलयाई।

वक्ष्ये अहमित्यात्मनिर्देशो, वक्ष्येऽभिधास्ये। समासेन संक्षेपेण, न मूलप्रकृतिभेदस्थितिप्रतिपादन-प्रपञ्चेनेति ॥२७॥

आइल्लाणं तिन्हं चरमस्स य तीस कोडिकोडीओ।
आयराण मोहणिज्जस्स सत्तरी होइ विन्नेया ॥२८॥

आद्यानां त्रयाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीयानां चरमस्य च सूत्रक्रमप्रामाण्यात्[1] पर्यन्त-वर्तिनोऽन्तरायस्येति त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यः[2]। अतराणामिति सागरोपमानाम्। मोहनीयस्य सप्ततिर्भवति विज्ञेया सागरोपमकोटिकोट्य इति ॥२८॥

नामस्स य गोयस्स य वीसं उक्कोसिया ठिई भणिया।
तित्तीससागराइं परमा आउस्स बोद्धव्वा ॥२९॥

नाम्नश्च गोत्रस्य च विंशतिः, सागरोपमकोटिकोट्य इति गम्यते। उत्कृष्टा स्थितिर्भणिता सर्वोत्तमा स्थितिः प्रतिपादिता तीर्थंकर-गणधरैरिति। त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि परमा प्रधानायुः-कर्मणा बोद्धव्येति ॥२९॥

अधुना जघन्यामाह—

वेयणियस्स य[3] बारस नामागोयाणं[4] अट्ठ उ मुहुत्ता।
सेसाण जहन्नठिई भिन्नमुहुत्तं विणिद्दिट्ठा ॥३०॥

वेदनीयस्य कर्मणो जघन्या स्थितिरिति योगः, द्वादशमुहूर्ताः। नामगोत्रकर्मणोरष्टौ मुहूर्ताः, इत्थं मुहूर्तशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। द्विघटिको मुहूर्तः। शेषाणां ज्ञानावरणादीनाम्। जघन्या स्थितिर्भिन्नमुहूर्तं विनिर्दिष्टान्तर्मुहूर्तं प्रतिपादितेति ॥३०॥ प्रकृतयोजनायाह—

उत्कृष्ट और अनुत्कृष्टके भेदसे दो प्रकारकी स्थिति कही गयी है उसे मैं (ग्रन्थकार) संक्षेपसे—केवल मूल प्रकृतियोंके ही आश्रयसे—कहूँगा ॥२७॥

अब कृत प्रतिज्ञाके अनुसार उस कर्मस्थितिका निरूपण करते हुए यहाँ प्रथम तीन कर्मोंके साथ अन्तिम अन्तराय और मोहनीय कर्मकी भी उत्कृष्ट स्थितिका निर्देश किया जाता है—

आदिके तीन—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय—की तथा अन्तिम अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण जानना चाहिए। कर्म जितने समय तक सांसारिक शुभाशुभ फलके दातारूपसे अवस्थित रहता है उतने समय प्रमाणको उसकी स्थिति जानना चाहिए ॥२८॥

आगे शेष तीन कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका निर्देश किया जाता है—

नाम और गोत्र कर्मको उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम कही गयी है। आयु-कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम मात्र जानना चाहिए ॥२९॥

अब उन कर्मोंकी जघन्य स्थितिका निर्देश किया जाता है—

जघन्य स्थिति वेदनीय कर्म बारह मुहूर्त, नाम व गोत्र कर्मकी आठ मुहूर्त तथा शेष—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय—कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त मात्र कही गयी है ॥३०॥

---

१. अ क्रमप्रमाणात्। २. अ कोट्याकोट्य इति। ३. अ 'य' नास्ति। ४. अ नामग्गोयाण।

एवं ठिइयस्स जया घंसण-घोलणनिमित्तओ कहवि ।
खविया कोडाकोडी सव्वा इक्कं पमुत्तूणं[1] ॥३१॥

एवंस्थितेरस्य कर्मणः । यदा यस्मिन् काले । घर्षण घूर्णननिमित्ततो नानायोनिषु चित्रसुख-दुःखानुभवनेनेत्यर्थः । कथमपि केनचित्प्रकारेण । क्षपिताः प्रलयं नीताः । कोटिकोट्यः[2] सर्वाज्ञानावरणादिसंबन्धिन्यः एकां विमुच्य विहायेति ॥३१॥

नीइ[3] वि य थोवमित्ते[4] खविए इत्थंतरम्मि[5] जीवस्स ।
हवइ हु अभिन्नपुव्वो गंठी एवं जिणा बेंति[6] ॥३२॥

तस्या अपि च सागरोपमकोटिकोट्याः स्तोकमात्रे पल्योपमासङ्ख्येयभागे । क्षपितेऽपनीते । अत्रान्तरेऽस्मिन् भागे । जीवस्यात्मनः । भवति अभिन्नपूर्वो [हु] शब्दस्यावधारणार्थत्वाद्व्यवहितोपन्यासाच्चाभिन्नपूर्व एव । ग्रन्थिरिव ग्रन्थिर्दुःखेनोद्भेद्यमानत्वात् । एवं जिना ब्रुवत एवं तीर्थंकराः प्रतिपादयन्तीति । उक्तं च तत्समयज्ञैः—

गंठि त्ति सुदुब्भेउ कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ घणरागद्दोसपरिणामो ॥ इति ॥३२॥

भिन्नंमि तंमि लाभो जायइ परमपयहेउणो नियमा ।
सम्मत्तस्स पुणो तं बंधेण न बोलइ कयाइ ॥३३॥

भिन्नेऽपूर्वकरणेन विदारिते । तस्मिन् ग्रन्थावात्मनि लाभः प्राप्तिर्जायते संपद्यते । परमपदहेतोर्मोक्षकारणस्य । नियमान्नियमेनावश्यंभावतयेत्यर्थः । कस्य ? सम्यक्त्वस्य वक्ष्यमाणस्वरूपस्य ।

इस प्रकार प्रसंगप्राप्त कर्मकी संक्षेपमें प्ररूपणा करके अब आगेकी दो गाथाओंमें प्रकृतकी योजनाके लिए यह कहा जाता है—

इस प्रकारकी स्थितिवाले उस कर्मकी स्थितिमें जब किसी प्रकारसे घर्षण और घोलन (घूर्णन) के निमित्तसे एक कोडाकोडीको छोड़कर शेष सब कोडाकोडियोंको क्षीण कर दिया जाता है तथा शेष रही उस एक कोडाकोड़ी मात्र स्थितिमें भी जब स्तोक मात्र—पल्योपमके असंख्यातवें भागको और भी—क्षीण कर दिया जाता है; इस बीचमें ग्रन्थि अभिन्नपूर्व ही रहती है, ऐसा जिन भगवान् कहते हैं ॥३१-३२॥

आगे यह सूचित किया जाता है कि सम्यक्त्वकी प्राप्ति इस ग्रन्थिके भेदे जानेपर ही सम्भव है—

उस ग्रन्थिके भेदे जानेपर नियमसे मोक्षके कारणभूत सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् सम्यग्दर्शनसे युक्त हुआ जीव उस ग्रन्थिका कर्मबन्धके द्वारा कभी अतिक्रमण नहीं करता है—उत्कृष्ट स्थितिसे युक्त कर्मोंको नहीं बाँधता है।

विवेचन—ग्रन्थिका अर्थ गाँठ होता है। जिस प्रकार किसी वृक्षविशेषकी कठोर व सघन सूखी गाँठ तोडनेके लिए अतिशय कष्टप्रद होती है, अथवा रस्सी आदिमें लगायी गयी दृढ़तर गाँठ खोलनेमें क्लेशकर होती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकी सहायतासे मोहनीयकर्मके द्वारा निर्मित जो दृढ़तर राग-द्वेषरूप परिणाम अतिशय दुर्भेद्य होता है उसे यहाँ ग्रन्थिके समान दुर्भेद्य होनेके कारण ग्रन्थि कहा गया है। पूर्वमें (२८-२९) जो ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति निर्दिष्ट की गयी है उसे अधःकरण परिणामको प्राप्त यह जीव जब घर्षण-

---

१. अ एक्क पमोत्तूण । २. अ कोटीकोट्यः । ३. अ तिय । ४. थेवम्मिते । ५. इत्थंतरम्मि । ६. अ बिन्ति ।

पुनस्तं ग्रन्थिमवाप्तसम्यग्दर्शनः सन् बन्धेन कर्मबन्धेन । न व्यवलीयते नातिक्रामयति । कदाचित्क-स्मिश्चित्काले । न ह्यसावुत्कृष्टस्थितीनि कर्माणि बध्नाति, तथाविधपरिणामाभावादिति ॥३३॥

अत्राह—

तं जाविह संपत्ती न जुज्जए तस्स निग्गुणत्तणओ ।
बहुतरबंधाओ खलु सुत्तविरोहा जओ भणियं ॥३४॥

तं ग्रन्थिम् । यावदिह विचारे । संप्राप्तिर्न युज्यते न घटते । कुतः ? तस्य निर्गुणत्वात्तस्य जीवस्य सम्यग्दर्शनादिगुणरहितत्वात् । निर्गुणस्य च बहुतरबन्धात् । खलुशब्दोऽवधारणे—बहुतर-बन्धादेव । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम् । सूत्रविरोधादन्यथा सूत्रविरोध इत्यर्थः । कथमिति आह—यतो भणितं यस्मादुक्तमिति ॥३४॥ किमुक्तमित्याह—

पल्ले महइमहल्ले कुंभं पक्खिवइ सोहए नालिं ।
अस्संजए अविरए बहु बंधइ निज्जरे थोवं ॥३५॥

पल्लवत्पल्यस्तस्मिन् पल्ये । महति महल्ले अतिशयमहति । कुम्भं लाटदेशप्रसिद्धमानरूपम्, धान्यस्येति गम्यते । प्रक्षिपति स्थापयति । सोधयति नालिं गृह्णाति सेतिकाम् । एष दृष्टान्तोऽय-मर्थोपनयः—योऽसंयतः सकलसम्यक्त्वादिगुणस्थानेष्वसंयतत्वान्मिथ्यादृष्टिः परिगृह्यते । अविरतः काकमांसादेरप्यनिवृत्तः । बहु बध्नाति निर्जरयति स्तोकं स्तोकतरं क्षपयति, निर्गुणत्वात् । गुणनिबन्धना हि विशिष्टनिर्जरेति ॥३५॥

घूर्णनके निमित्तसे—नाना योनियोंमें अनेक प्रकारके दुख-सुखका अनुभव करते हुए—उत्तरोत्तर क्षीण करता हुआ जब एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण कर देता है तथा शेष रही इस एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थितिमें भी जब पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्रको और भी क्षीण कर देता है तब-तक भी वह ग्रन्थि अभिन्नपूर्व—पूर्वमें कभी न भेदी गयी के रूपमें—ही अवस्थित रहती है। पश्चात् जो जीव उसके भेदनेमें समर्थ होता है वह जब उसे अपूर्वकरण परिणामके द्वारा भेदता है—निर्मूल कर देता है—तब कहीं उसे अनिवृत्तिकरणके आश्रयसे मुक्तिका कारणभूत वह सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इस सम्यक्त्वके प्राप्त हो जानेपर फिर कभी वह उपर्युक्त उत्कृष्ट स्थितिसे संयुक्त कर्मको नहीं बांधता है ॥३३॥

यहाँ शंकाकार कहता है—

ग्रन्थि तक यहाँ उसकी प्राप्ति घटित नहीं होती, क्योंकि तब तक जीवके निर्गुण—सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे रहित—होनेके कारण अधिकसे अधिक कर्मबन्ध होनेवाला है। और यदि ऐसा न माना जाये तो आगमका विरोध दुर्निवार होगा, क्योंकि आगममें ऐसा कहा गया है ॥३४॥

आगममें क्या कहा गया है, इसे आगे तीन गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हुए प्रथमतः उदा-हरणपूर्वक असंयतके कर्मबन्धको प्रकट किया जाता है—

अतिशय महान् पल्य (कुठिया—धान्य रखनेके लिए मिट्टीसे निर्मित एक बड़ा बर्तन) में कुम्भ (लाट देश प्रसिद्ध धान्य मापनेका एक उपकरण) को तो स्थापित करता है और नालि

---

१. अ 'च' नास्ति । २. अ कथमित्यत्राह । ३. अ पक्खिवए सोहइ । ४. अ अविरइ । ५. महते । ६. अ साधयति ।

पल्ले महइमहल्ले कुंभं सोहेइ पक्खिवे नालिं ।
जे संजए[1] पमत्ते बहु निज्जरे बंधए थोवं ॥३६॥

पल्ले अतिशयमहति । कुम्भं सोधयति प्रक्षिपति नालिम् । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—यः संयतः सम्यग्दृष्टिरीषत्प्रमादवान् प्रमत्तसंयत एव, नान्ये । बहु निर्जरयति बध्नाति स्तोकं, सगुणत्वादिति ॥३६॥

पल्ले महइमहल्ले कुंभं सोहेइ पक्खिवइ न किंचि ।
जे संजए अपमत्ते बहु निज्जरे बंधइ न किंचि ॥३७॥

पल्लेऽतिशयमहति कुम्भं सोधयति प्रक्षिपति न किंचित् । एष दृष्टान्तो ऽयमर्थोपनयः—यः संयतोऽप्रमत्तः प्रमादरहितः साधुरित्यर्थः । बहु निर्जरयति, बध्नाति न किंचिद्विशिष्टतरगुणत्वात्

(एक छोटा माप) को निकालता है । इसी प्रकारसे असंयत—मिथ्यादृष्टि जीव—जो काकमांस आदिके व्रतसे भी रहित है वह बहुत कर्मको बांधता है और निर्जरा थोड़े कर्मको करता है ॥३५॥

प्रमत्त संयतके लिए एक दूसरा उदाहरण—

अतिशय महान् पल्यके भीतरसे कुम्भको निकालता है और नालिको स्थापित करता है। ठीक इसी प्रकारसे प्रमत्त संयत जीव बहुत कर्मकी निर्जरा करता है, पर बांधता थोड़े कर्मको है ॥३६॥

अप्रमत्त संयतके लिए अन्य एक उदाहरण—

अतिशय महान् पल्यके भीतरसे कुम्भको निकालता है, पर स्थापित उसमें कुछ नहीं करता है। ठीक इसी प्रकारसे अप्रमत्त संयत जीव कर्मको निर्जरा तो बहुत करता है, पर बांधता कुछ भी नहीं है ॥३७॥

विवेचन—शंकाकारका अभिप्राय यह है कि जब तक वह अभिन्नपूर्व ग्रन्थि विद्यमान है इस बीच जो कर्मकी उत्कृष्ट स्थितिको क्षीण करते हुए उसे एक कोड़ाकोड़ी सागरोपममें भी कुछ (पल्योपमका असंख्यातवां भाग) हीन करनेकी प्रक्रिया दिखलायी गयी है (३१-३२) वह योग्य नहीं है। इसका कारण यह है कि जीव जबतक सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे हीन रहता है तबतक उसके अधिकाधिक ही कर्मबन्ध हुआ करता है। ऐसी स्थितिमें उसके लिए उक्त प्रकारसे उत्कृष्ट कर्मस्थितिका हीन करना सम्भव नहीं है। ऐसा स्वीकार न करनेपर आगमसे विरोध दुर्निवार होगा। कारण यह कि आगममें ऐसा कहा गया है कि जिस प्रकार किसी धान्य रखनेके बड़े बर्तनमें कुम्भ प्रमाण धान्यके रखने और नालि प्रमाण उसमेंसे निकालने उसमें उत्तरोत्तर नियमसे अधिक धान्यका संचय होता है उसी प्रकार सर्वथा व्रतसे रहित असंयत मिथ्यादृष्टि जीव कर्मको बांधता तो बहुत है और निर्जरा उसकी थोड़ी करता है। अतः उसके कर्मका संचय अधिक ही होनेवाला है। इस स्थितिमें उसके उक्त प्रकारसे कर्मस्थितिका हीन होना सम्भव नहीं है। इसके साथ आगममें यह भी कहा गया है कि उसी धान्यके बर्तनमेंसे यदि कुम्भ प्रमाण धान्यको निकाला जाता है और नालि प्रमाण उसमें रखा जाता है तो जिस प्रकार उस बर्तनमें धान्यका प्रमाण उत्तरोत्तर हीन होता जाता है उसी प्रकार अप्रमत्त संयत जीव कर्मकी निर्जरा तो बहुत करता है, पर बांधता कम है, इस प्रकारसे उसके कर्मकी हानि उत्तरोत्तर अवश्य होनेवाली है।

1. अ संजये ।

बन्धकारणाभावादिति ॥३७॥ गुरुराह—

एयमिह ओहविसयं भणियं सव्वे न एवमेव त्ति ।
अस्संजओ उ एवं पडुच्च ओसन्नभावं तु ॥३८॥

एतदिति पल्ले महइमहल्ले इत्यादि । इहास्मिन् विचारे । ओघविषयं सामान्यविषयम् । भणितमुक्तम् । सर्वे न एवमेवेति सर्वे नैवमेव बध्नन्ति । अस्यैव विषयमुपदर्शयति—असंयतस्त्वेव[1] मिथ्यादृष्टिरेव एवं बध्नाति, नान्य इति । असावपि प्रतीत्याङ्गीकृत्य । ओसन्नभावं बाहुल्यभावम् । तुरवधारणे—ओसन्नभावमेव, न तु नियममिति ॥३८॥ नियमे दोषमाह—

पावइ बंधाभावो उ अन्नहा पोग्गलाणभावाओ ।
इय वुड्ढिगहणओ ते सव्वे जीवेहि जुज्जंति ॥३९॥

प्राप्नोति आपद्यते । बन्धाभावस्तु बन्धाभाव एव । अन्यथान्येन प्रकारेण सर्वे असंयता एवं बध्नन्तीत्येवंलक्षणेन । किमित्यत्रोपपत्तिमाह—पुद्गलानामभावाद् बध्यमानानां कर्मपुद्गलानामसंभवात् । तेषामेवाभावे उपपत्तिमाह—इति वृद्धिग्रहणतः एवमनन्तगुणरूपतया वृद्धिग्रहणेन । ते

इसके अतिरिक्त उसी बर्तनमें-से कुम्भ प्रमाण धान्यको निकाला जाता है और रखा उसमें कुछ भी नहीं जाता है तब जिस प्रकार यथासमय वह बर्तन धान्यसे रहित हो जाता है ठीक उसी प्रकारसे जो अप्रमत्त संयत जीव कर्मकी निर्जरा तो बहुत करता है और बांधता कुछ भी नहीं है वह कर्मसे यथासमय मुक्त हो जाता है। प्रकृत अप्रमत्त संयतके बन्ध इसलिए नहीं होता कि वह बन्धके कारणभूत मिथ्यादर्शनादिसे रहित हो चुका है। इस आगमके आधारसे उक्त शंकाकारका यह कहना है कि मिथ्यादृष्टि जीवके सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे रहित होनेके कारण जब कर्मका अधिकाधिक ही बन्ध होनेवाला है तब ऊपर बतलायी गयी कर्मस्थितिकी हानि उसके सम्भव नहीं है ॥३४-३७॥

आगे इस शंकाका समाधान किया जाता है—

उक्त प्रकारसे आगममें जो बन्ध और निर्जराके क्रमका निर्देश किया है वह सामान्यसे किया गया है। कारण कि सब जीव इसी प्रकारसे कर्मको नहीं बांधते हैं, किन्तु व्रत रहित मिथ्यादृष्टि असंयत ही उस प्रकारसे कर्मको बांधता है। वह भी बहुलताकी अपेक्षासे वैसे बांधता है—सब ही मिथ्यादृष्टि असंयत उस प्रकारसे नहीं बांधते हैं ॥३८॥

वैसा न माननेपर जिस आपत्तिकी सम्भावना है उसे आगे प्रकट करते हैं—

मिथ्यादृष्टि असंयत भी बहुलतासे ही अधिकाधिक कर्मको बांधते हैं, यदि ऐसा न माना जाये तो बन्ध योग्य पुद्गलोंका अभाव हो जानेके कारण बन्धके अभावका प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होगा। इसका कारण यह है कि उक्त प्रकार अनन्तगुणी वृद्धिके साथ कर्मपुद्गलोंके ग्रहण किये जानेपर वे सब पुद्गल जीवोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त हो सकते हैं।

विवेचन—पूर्वोक्त शंकाके समाधानमें यहाँ यह कहा गया है कि आगममें जो असंयतके अधिकाधिक कर्मबन्धका निर्देश किया गया है वह सामान्यसे किया गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सभी असंयत जीव उक्त प्रकारसे कर्मका बन्ध नहीं किया करते हैं, किन्तु असंयत मिथ्यादृष्टि जीव ही उक्त क्रमसे कर्मका बन्ध अधिक और निर्जरा उसकी अल्प मात्रामें किया

---

१. अ असंयतस्त्वेव ।

कर्मपुद्गलाः सर्वे जीवैर्युज्यन्ते कालान्तरेण सर्वे जीवैः संबध्यन्ते, प्रभूततरग्रहणादल्पतरमोक्षाच्च, सहस्रमिव प्रतिदिवसं पञ्चकरूपकग्रहणे[1] एककरूपकमोक्षे[2] च दिवसत्रयान्तः पुरुषशतेनेति ॥३९॥ आह चोदकः—

मोक्खो ऽसंखिज्जाओ कालाओ ते अ जं जिएहिंतो।

भणिया णंतगुणा खलु न एस दोसो तओ जुत्तो ॥४०॥

मोक्षः परित्यागः। असङ्ख्येयात्कालादसङ्ख्येयेन कालेन उत्कृष्टतस्तेषां कर्मपुद्गलानाम्, तत ऊर्ध्वं कर्मस्थितेः प्रतिषिद्धत्वात्। ते च कर्माणवः। यतो यस्माज्जीवेभ्यः सर्वेभ्य एव। भणिताः प्रतिपादिता अनन्तगुणाः। खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वादनन्तगुणा एव। नैव दोषोऽनन्तरोदितो बन्धाभावप्राप्तिकाललक्षणः। ततो युक्तो बहुतरबन्धः, प्रभूततरग्रहणेऽल्पतरमोक्षे च सत्यपि तेषामनन्तत्वात् स्तोककालाच्च मोक्षादिति। न हि शीर्षप्रहेलिकान्तस्य राशेः प्रतिदिवसं पञ्च-

करता है। मिथ्यादृष्टि असंयतके लिए भी यह ऐकान्तिक नियम नहीं है, वह भी बहुलतासे उस प्रकारके अधिक कर्मबन्धको करता है, नियमतः वैसा नहीं करता। यदि ऐसा न मानकर यही माना जाये कि सभी असंयत जीव नियमसे कर्मके बन्धको अधिक और निर्जरा थोड़ी किया करते हैं तो फिर अनन्तगुणित वृद्धिसे कर्मबन्धके होनेपर बध्यमान वे सब कर्मपुद्गल कालान्तरमें जीवोंके साथ सम्बद्ध हो जावेंगे। कारण यह कि उनका ग्रहण तो प्रचुरतर मात्रामें होता है और निर्जरा अल्पतर मात्रामें होती है। तब वैसी अवस्थामें सब कर्मपुद्गलोंके समाप्त हो जानेपर अनिवार्यतः कर्मबन्धके अभावका प्रसंग प्राप्त होगा। उदाहरणस्वरूप हजार संख्यामेंसे प्रतिदिन यदि सौ पुरुषोंके द्वारा पाँच-पाँच अंक ग्रहण किये जाते हैं और एक-एक छोड़ा जाता है तो वह राशि तीन दिनके भीतर ही समाप्त हो जानेवाली है। अतएव उक्त आगमका यही अभिप्राय समझना चाहिए कि सभी असंयत जीव उक्त क्रमसे अधिक कर्मबन्धको नहीं करते है, किन्तु असंयत मिथ्यादृष्टि ही और वह भी बहुलतासे उक्त प्रकार अधिक कर्मबन्धको करता है। इस प्रकार शंकाकारके द्वारा प्रदर्शित वह दोष सम्भव नहीं है ॥३८-३९॥

इसपर शंकाकार पुनः यह कहता है—

उन कर्मपुद्गलोंका मोक्ष तो असंख्यात कालमें ही होता है, जब कि वे (कर्मपुद्गल) सब जीवोंसे अनन्तगुणे कहे गये हैं। ऐसी परिस्थितिमें यह जो दोष दिया गया है कि उन पुद्गलोंके समाप्त हो जानेसे बन्धका अभाव प्राप्त होगा, वह उचित नहीं है।

विवेचन—शंकाकारकी पूर्व शंकाका निरसन करते हुए यह कहा गया था कि आगममें जो वह बन्धकी प्रक्रिया निर्दिष्ट की गयी है वह सामान्यसे निर्दिष्ट की गयी है, विशेषरूपमें केवल कोई-कोई असंयत मिथ्यादृष्टि जीव और वह भी बहुलतासे, न कि नियमसे, प्रचुरतर कर्मपुद्गलोंको बाँधता है, सभी असंयत उस प्रकारसे नहीं बाँधते। ऐसा न होनेपर उक्त प्रकारकी बन्ध प्रक्रियासे कालान्तरमें सब कर्मपुद्गलोंके समाप्त हो जानेसे बन्धके अभावका प्रसंग अनिवार्य होगा। इस समाधानको असंगत ठहराता हुआ वह शंकाकार पुनः यह कहता है कि बन्धयोग्य वे सब पुद्गल जब समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे हैं तथा मोक्ष (निर्जरा) उनका असंख्यात कालके भीतर ही हो जाता है, क्योंकि असंख्यात काल (सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम) से अधिक कर्मस्थिति सम्भव नहीं है, तब वैसी अवस्थामें न वे समाप्त ही हो सकते हैं और न इसीलिए बन्धका अभाव भी

१. अ पंचकरूपक। २. मोक्षेच दिवसः त्रयांतः।

ग्रहणे एकरूपकमोक्षे च सति वर्षशतेनापि पुरुषशतेन योगो भवति, प्रभूतत्वात्। एवं दार्ष्टान्तिके भावनीयमिति ॥४०॥ इत्थं चोदकेनोक्ते सति गुरुराह—

गहणमणंताण न किं जायइ समएण ता कहमदोसो।
आगम संसाराओ न तहा णंताण गहणं तु ॥४१॥

ग्रहणं कर्मपुद्गलानामादानम्। अनन्तानामत्यन्तप्रभूतानाम् न किमिति गाथाभङ्गभयाद्व्यत्ययः—किं न जायते समयेन, जायत एवेत्यर्थः। समयः परमनिकृष्टः काल उच्यते।[2] यतश्चैवं तत्कथमदोषो दोष एव, शीर्षप्रहेलिकान्तस्यापि राशेः प्रतिदिवसं शतभागमात्रमहाराशिग्रहणेऽल्पतरमोक्षे च वर्षशतादारत एव पुरुषशतेन योगोपपत्तेः। एवं दार्ष्टान्तिकेऽपि भावना कार्या। स्यादेतदागमसंसाराच्च तथानन्तानां ग्रहणं तु। आगमस्तावत् "जाव णं अयं जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदइ ताव णं अट्ठविहबन्धए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा" इत्यादि।

सम्भव है। उदाहरणार्थ शीर्ष प्रहेलिकान्त राशि (असंख्येय कालकी पराकाष्ठा) में-से प्रतिदिन सौ पुरुषोंके द्वारा पाँच रूपोंके ग्रहण करने और एक रूपके छोड़नेपर उनका संयोग सौ वर्षमें भी उनके साथ नहीं हो सकता है, क्योंकि वे प्रचुर प्रमाणमें बने रहनेवाले हैं। यही प्रक्रिया उन कर्म-पुद्गलोंके बन्ध-मोक्षकी भी है। तदनुसार प्रचुर कर्मपरमाणुओंके बने रहनेसे बन्धका अभाव कभी हो नहीं सकता—वह निरन्तर चलता रहनेवाला है ॥४०॥

शंकाकारके इस कथनपर उक्त दोषकी असम्भवताका परिहार करते हुए उसकी तदवस्थताको प्रकट करनेपर शंकाकारका पुनः स्पष्टीकरण—

क्या प्रतिसमयमें अनन्त कर्मपुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता है? होता ही है। तब वैसी अवस्थामें पूर्वोक्त बन्धाभाव रूप दोषको कैसे टाला जा सकता है? नहीं टाला जा सकता है—वह तो तदवस्थ रहनेवाला है। इसपर शंकाकार पुनः कहता है कि आगम व संसारसे भी वैसे अनन्त कर्मपुद्गलोंका ग्रहण सम्भव नहीं है।

विवेचन—वादीके द्वारा बहुतर बन्धके स्वीकार करनेपर उस परिस्थितिमें बन्धके अभावका प्रसंग पूर्वमें दिया गया था। इसपर वादीने यह कहकर कि वे कर्मपुद्गल समस्त जीवोंसे अनन्तगुणे हैं और मोक्ष उनका असंख्यात कालमें ही हो जाता है, उक्त बन्धाभावके प्रसंगका निराकरण किया था। इसपर यहाँ उस बन्धाभावके प्रसंगको तदवस्थ ठहराते हुए यह कहा जा रहा है कि जब प्रत्येक समयमें अनन्त कर्म पुद्गलोंका ग्रहण होता है तब उस अवस्थामें उन कर्म पुद्गलोंकी समाप्ति सुनिश्चित है। अतः कालान्तरमें कर्मपुद्गलोंके अभावमें जो बन्धके अभावका प्रसंग दिया गया है उसका निराकरण नहीं किया जा सकता—वह तदवस्थ रहनेवाला है। शीर्ष प्रहेलिकान्त राशिमें-से भी यदि प्रतिदिन सौवें भागमात्र महाराशिको ग्रहण किया जाता है और अल्पतर राशिको छोड़ा जाता है तो वह सौ वर्षके पूर्व ही सौ पुरुषोंसे सम्बद्ध हो जावेगी व आगेके लिए कुछ नहीं रहेगा। इस उदाहरणसे भी पूर्वोक्त बन्धके अभावका प्रसंग निर्बाध सिद्ध होता है। इसपर वादीका कहना है कि आप जो प्रत्येक समयमें अनन्त पुद्गलोंका ग्रहण बतलाते हे वह असंगत है, क्योंकि उसकी सिद्धि न तो आगमसे होती है और न संसारके स्वरूपसे भी होती है। आगममें यही कहा है कि जबतक यह जीव आता-जाता व चलता-फिरता है तबतक वह आठों प्रकारके, सात प्रकार आयुको छोड़ करके, छह प्रकार आयु और मोह को छोड़ करके

---

१. अ °मणंताण किं। २. अ कालोच्यते।

संसारस्तु प्रतिसमयबन्धकसत्त्वसंसृतिरूपः प्रतीत एव। एवमागमात्संसाराच्च[1] न तथानन्तानां ग्रहणमेव भवति यथा बध्यमानकर्मपुद्गलाभावाद् बन्धाभाव एवेति ॥४१॥ एवं पराभिप्राय-माशङ्क्याह—

आगम मुक्खाउ ण किं विसेसविसयत्तणेण[2] सुत्तस्स।
तं जाविह संपत्ती न घडइ तम्हा अदोसो[3] उ ॥४२॥

आगममोक्षात् किं न विशेषविषयत्वेन सूत्रस्य 'पल्ले' इत्यादिलक्षणस्य। तं ग्रन्थि यावदिह विचारे संप्राप्तिर्न घटते।[4] द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयत इति कृत्वा घटत एव। तस्मादवोषस्तु यस्मादेवं तस्मादेष दोष एव न भवति य उक्तस्तं यावदिह संप्राप्तिर्न युज्यते इत्यादि। तत्रागम-स्तावत् "सम्मत्तंमि उ लद्धे" इत्यादि। मोक्षस्तु प्रकृष्टगुणानुष्ठानपूर्वकः प्रसिद्ध एव। अतो

अथवा एक प्रकार (मात्र वेदनीय) के कर्मका बन्धक है; इत्यादि। रहा संसार सो वह प्रतिसमय बन्ध व सत्त्वरूप प्रतीत ही है। इस प्रकार जब उक्त आगम और संसारसे अनन्त कर्म पुद्गलोंका ग्रहण ही सम्भव नहीं है तब भला उन बध्यमान कर्मपुद्गलोंका अभाव कैसे हो सकता है, जिससे प्रसंग प्राप्त उस बन्धके अभावका निराकरण किया जा सके। इस प्रकार उस दोषके बने रहनेसे उपर्युक्त आगमका यही अभिप्राय संगत माना जायेगा कि सभी असंयत जीव बहुतर कर्मका बन्ध नहीं करते, किन्तु असंयत मिथ्यादृष्टि ही, और वह भी बहुलतासे, बहुतर कर्मका बन्ध करता है। इस प्रकार पूर्वोक्त कर्मस्थितिकी हानि निर्बाध सिद्ध होती है ॥४१॥

इस प्रकार शंकाके रूपमें वादीके अभिप्रायको प्रकट करके आगे उसका प्रतिवाद किया जाता है—

पूर्वोक्त आगम (३५-३७) का विशेष विषय होनेके कारण आगम और मोक्षसे उस ग्रन्थि पर्यन्त इस विचार कोटिमें क्या उसकी प्राप्ति घटित नहीं होती है? अवश्य घटित होती है। इस कारण उसकी प्राप्तिमें जो दोष दिया गया था वह चरितार्थ नहीं होता।

विवेचन—पूर्वमें (३४) वादीने कहा था कि ग्रन्थि पर्यन्त विचार किये जानेके प्रसंगमें कर्मकी पूर्वोक्त हानिके साथ अपूर्वकरण परिणामके द्वारा उस ग्रन्थिके भेदे जानेपर सम्यक्त्वका लाभ होता है, यह जो कहा गया है वह योग्य नहीं है, क्योंकि वैसा माननेपर आगम (३५-३७) से विरोध होनेवाला है। इस प्रकार वादीके द्वारा प्रदर्शित उस आगम विरोधका निरसन करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि पूर्वोक्त आगममें जो प्रचुरतर कर्मबन्धका निर्देश किया गया है वह सामान्यसे कहा गया है। विशेष रूपमें उसका यही अभिप्राय है कि असंयत मिथ्यादृष्टि ही उक्त प्रकारसे प्रचुरतर कर्मका बन्धक है और वह भी बहुलतासे (अधिकांशमें) है, न कि नियमतः। अतएव आगमसे जो विरोध दिखलाया गया है वह उचित नहीं है। इसके विपरीत आगम (३८९-९१) से ही यह सिद्ध है कि गुणोंके सामर्थ्यसे बन्धके ह्रास और पूर्वबद्ध कर्मके क्षयसे मोक्ष होता है। इस प्रकार सम्यक्त्वका लाभ हो जानेपर पल्योपम पृथक्त्व कालमें श्रावक भी हो जाता है, इत्यादि। मोक्ष प्रकृष्ट गुणोंके अनुष्ठान पूर्वक होता है, यह भी प्रमाणसिद्ध है। इससे यही स्वीकार करना चाहिए कि उक्त आगमका विशेष विषय रहा है, जिसका कि पूर्वमें निर्देश किया जा चुका है। यदि ऐसा न हो तो आगे (३७) उसी आगममें जो यह भी कहा गया

---

१. अ बंधकर्मत्वसंसृतिरूपः प्रतीत एवमात्संसाराच्च। २. अ विसयत्तेणेण। ३. अ आदोसो।
४. अ संप्राप्तिमं घटते।

यथोक्तविशेषविषयमेव तत्सूत्रमिति इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम्। अन्यथा तदधिकारोक्तमेव "पविखवे न किंचि" इत्येतद्विरुध्यते। अप्रमत्तसंयतस्यापि बन्धकत्वात्। यथोक्तम्—

अपमत्तसंजयाणं बंधट्ठिती होइ अट्ठमुहुत्ता।[1]
उक्कोसा उ जहन्ना भिन्नमुहुत्तं नु विन्नेया ॥१॥ इत्यादि

तस्माद्दोषविषयमेवैतदिति ॥४२॥

अवसितमानुषङ्गिकम्, अधुना प्रकृतं सम्यक्त्वमाह—

संमत्तं पि य तिविहं खओवसमियं तहोवसमियं च।
खइयं च कारगाइ व पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥४३॥

सम्यक्शब्दः प्रशंसार्थः अविरोधार्थो वा, तद्भावः सम्यक्त्वम्, प्रशस्तः मोक्षाविरोधी[2] वात्मधर्म इत्यर्थः। अपि तत्त्रिविधं एतच्चोपाधिभेदात् त्रिप्रकारम्। अपि-शब्दाच्छ्रावकधर्मस्य प्रकृतत्वात्तच्चारित्रमप्योघतोऽणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षापदभेदात् त्रिविधमेव। च-शब्दः स्वगतानेकभेद-समुच्चयार्थः। उक्तं च—तं च पंचहा सम्मत्तं उवसमं सासायणं खओवसमं वेदयं खइयं। त्रैविध्यमुपदर्शयति—क्षायोपशमिकं तथौपशमिकं क्षायिकं च। कारकादि वा कारकं आदि ख ३ शब्दाद्रोचक-व्यञ्जकपरिग्रहः। एतच्च वक्ष्यत्येवेति न प्रतन्यते। इदं च प्रज्ञप्तं प्ररूपितं वीतरागै-रर्हद्भि-रिति ॥४३॥

है कि अप्रमत्त संयत निर्जरा बहुत करता है और बांधता कुछ भी नहीं है वह विरोधको प्राप्त होता है, क्योंकि आगममें अप्रमत्तसंयतको भी बन्धक कहा गया है (गा. ४२ की टीका)। इससे यही सिद्ध होता है कि आगममें वैसा सामान्य से ही निर्देश किया गया है। यदि उक्त प्रकारसे होनेवाली कर्मकी हानि व ग्रन्थिभेदको न माना जाये तो सम्यक्त्वके साथ मोक्ष भी असम्भव हो जायेगा, क्योंकि अन्यथा उस बन्धकी परम्परा तो चलती ही रहेगी। इस प्रकारसे विचार करनेपर वादीके द्वारा प्रदर्शित दोष प्रकृतमें लागू नहीं होता ॥४२॥

इस प्रकार प्रसंगप्राप्त जीव और कर्मके सम्बन्धकी प्ररूपणा करके प्रकृत सम्यक्त्वका विवेचन करते हुए उसके तीन भेदोंका निर्देश किया जाता है—

वीतराग सर्वज्ञके द्वारा सम्यक्त्वको भी तीन प्रकारका कहा गया है—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक। अथवा वह कारक आदि (रोचक और व्यंजक) के भेदसे भी तीन प्रकारका कहा गया है।

विवेचन—'सम्यक्' शब्दके आगे 'भाव' अर्थमें 'त्व' प्रत्यय होकर 'सम्यक्त्व' शब्द निष्पन्न हुआ है। सम्यक् शब्दका अर्थ प्रशंसा अथवा अविरोध है। तदनुसार प्रशस्त अथवा मोक्षके अविरोधी आत्मधर्मको सम्यक्त्वका स्वरूप समझना चाहिए। वह सम्यक्त्व कर्मरूप उपाधिके भेदसे तीन प्रकारका है—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक। गाथामें जो 'अपि (भी)' शब्द प्रयुक्त हुआ है उससे यहाँ श्रावक धर्मका प्रकरण होनेसे उसके चारित्रके भी इन तीन भेदोंकी सूचना कर दी गयी है—अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षापद। प्रकृत गाथामें ही उस 'अपि' शब्दके आगे जो 'च' शब्दका भी उपयोग किया गया है वह सम्यक्त्वके अन्तर्गत अन्य अनेक भेदोंका समुच्चायक है। जैसे उसके ये पांच भेद—उपशम, सासादन, क्षयोपशम, वेदक और क्षायिक; इत्यादि ॥४३॥

---

१. अ अट्ठ उ मुहुत्ताउ। २. अ मोक्षविरोधी। ३. अ वेदयीयं खईयं। ४. अ 'च' नास्ति।

सांप्रतं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमभिधित्सुराह—

मिच्छत्तं जमुदिन्नं तं खीणं अणुइयं[1] च उवसंतं ।
मीसीभाव[2]परिणयं वेयिज्जंतं[3] खओवसमं ॥४४॥

मिथ्यात्वं नाम मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म तत्। यदुदीर्णं यदुद्भूतशक्ति, उदयावलिकायां व्यवस्थितमित्यर्थः। तत्क्षीणं प्रलयमुपगतम्। अनुदितं च अनुदीर्णं चोपशान्तम्। उपशान्तं नाम विष्कम्भितोदयमपनीतमिथ्यात्वस्वभावं च, विष्कम्भितोदयं शेषमिथ्यात्वमपनीतमिथ्यात्वस्वभावं मदनकोद्रवोदाहरणत्रिपुञ्जिन्यायशोधितं सम्यक्त्वमेव। आह—इह विष्कम्भितोदयस्य मिथ्यात्वस्यानुदीर्णता युक्ता, न पुनः सम्यक्त्वस्य, विपाकेन वेदनात्। उच्यते—सत्यमेतत्, किं त्वपनीतमिथ्यात्वस्वभावत्वात्स्वरूपेणानुदयात्तस्याप्यनुदीर्णोपचार इति। यद्वानुदीर्णत्वं मिथ्यात्वस्यैव युज्यते, न तु[4] सम्यक्त्वस्य। कथम्? मिथ्यात्वं यदुदीर्णं तत् क्षीणम्। अनुदीर्णमुपशान्तं चेति च-शब्दस्य

आगे गाथामें निर्दिष्ट सम्यक्त्वके उन तीन भेदोंमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्वके स्वरूपका निर्देश किया जाता है—

जो मिथ्यात्व मोहनीय उदयको प्राप्त है वह क्षीण हो चुका और जो उदयको प्राप्त नहीं है व उपशान्त है, इस प्रकार मिश्रभाव—क्षय व उपशमरूप उभय अवस्था—में परिणत होकर अनुभवमें भी जो आ रहा है उसका नाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

विवेचन—जो सम्यक्त्व अपने रोधक मिथ्यात्वके क्षयोपशमसे प्रादुर्भूत होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। गाथामें उस मिथ्यात्वके क्षयोपशमके स्वरूपको प्रकट करते हुए कहा गया है कि जो मिथ्यात्व उदयावलीमें प्रविष्ट है वह क्षयको प्राप्त हो चुका और अनुदित है—उदयावलीमें प्रविष्ट नहीं है वह उपशान्त है। उपशान्तका अर्थ है उदयका निरोध व उसके मिथ्यात्व स्वभाव—सम्यक्त्वके प्रतिबन्धक स्वरूप—का हट जाना। जिस प्रकार चक्कीमें दलनेसे कोदों (एक तुच्छ धान्य) के तीन भाग हो जाते हैं—भूसा, कण और चूरा; उसी प्रकार परिणाम विशेषसे उस मिथ्यात्वके भी तीन भाग हो जाते हैं—मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व)। इनमें जो मिथ्यात्व स्वभावको छोड़कर शुद्धिको प्राप्त होता हुआ प्रदेशरूपसे उदयको प्राप्त है वह सम्यक्त्व ही है। अभिप्राय यह है कि उदय प्राप्त मिथ्यात्वके क्षय, उदयमें नहीं प्राप्त हुए उसीके उपशम तथा मिथ्यात्व स्वभावसे रहित होकर प्रदेशोदयके रूपमें वर्तमान उसके उदय; इस प्रकारकी उस मिथ्यात्वकी अवस्थाका नाम क्षयोपशम है। इस क्षयोपशमके आश्रयसे होनेवाले सम्यक्त्वको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि जिस मिथ्यात्वका उदय रुका हुआ है उसे तो अनुदीर्ण कहना संगत है, किन्तु जो सम्यक्त्व विपाकरूपसे अनुभवमें आ रहा है उसे अनुदीर्ण कैसे कहा जा सकता है? इसके समाधानमें कहा गया है कि यह ठीक है, परन्तु उसे जो अनुदीर्ण कहा गया है वह मिथ्यात्व स्वभावसे रहित होकर अपने स्वरूपसे उदयमें न आनेके कारण उपचारसे कहा गया है। वस्तुतः अनुदीर्ण तो मिथ्यात्वको ही कहना चाहिए, न कि सम्यक्त्वको। इस अभिप्रायके अनुसार गाथाकी संगतिको बैठाते हुए टीकामें कहा गया है कि जो मिथ्यात्व उदीर्ण है वह क्षयको प्राप्त है और जो उदयको प्राप्त नहीं है वह उपशान्त है, इस प्रकार अनुदीर्ण एवं उपशान्त मिथ्यात्वको सम्यक्त्व कहा गया है। तदनुसार

---

१. अ अणुदीयं। २. अ मीसभाव। ३. अ वेयज्जंतं। ४. अ 'न तु' अतोऽग्रे 'मिथ्यात्वमुपशान्तं च' पर्यन्तः पाठो नोपलभ्यते।

व्यवहितप्रयोगः। ततश्चानुदीर्णं मिथ्यात्वमुपशान्तं च सम्यक्त्वं परिगृह्यते। भावार्थः पूर्ववत्। तदेवं मिश्रीभावपरिणतं क्षयोपशमस्वभावमापन्नम्। वेद्यमानमनुभूयमानं मिथ्यात्वं प्रदेशानुभवेन सम्यक्त्वं विपाकेन क्षयोपशमाभ्यां निवृ[र्वृ]त्तमिति कृत्वा क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमुच्यते। आह–इदं सम्यक्त्वमौदयिको भावः, मोहनीयोदयभेदत्वात्, अतोऽयुक्तमस्य क्षायोपशमिकत्वम्? न, अभिप्रायापरिज्ञानात्सम्यक्त्वं हि सांसिद्धिकमात्मपरिणामरूपं ज्ञानवत्, न तु क्रोधादिवत् कर्माणुसंपर्कजम्। तथा हि –तावति मिथ्यात्वघनपटले[1] क्षीणे तथानुभवतोऽपि स्वच्छाभ्रकल्पान् सम्यक्त्वपरमाणून् तथाविधसवितृप्रकाशवत् सहज एवासौ तत्परिणाम इति। क्षायोपशमनिष्पन्नश्चायम्, तमन्तरेणाभावात् न ह्युदीर्णक्षयादनुदीर्णोपशमव्यतिरेकेणास्य भावः। क्रोधादिपरिणामः पुनरुपधानसामर्थ्यापादितस्फटिकमणिरक्ततावदसहज इति। आह –यदि परिणामः सम्यक्त्वं ततो मिश्रीभावपरिणतं वेद्यमानं क्षायोपशमिकमित्येतद्विरुध्यते मोहनीयभेदयोरेव मिश्रीभावपरिणतयोर्वेद्यमानत्वात्? न विरुध्यते, तथाविधपरिणामहेतुत्वेन तयोरेव सम्यक्त्वोपचारात्। कृतं विस्तरेणेति ॥४४॥

क्षायोपशमिकानन्तरमौपशमिकमाह—

> उवसमगसेढिगयस्स[2] होइ उवसामियं तु सम्मत्तं।
> जो वा अकयतिपुंजो अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥४५॥

मिश्र अवस्थासे परिणत—क्षय व उपशम स्वभावको प्राप्त—एवं वेद्यमान—प्रदेशानुभवसे अनुभूयमान सम्यक्त्वको क्षय और उपशमसे निवृत्त होनेके कारण क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा गया है। यहाँ फिर यह शंका होती है कि मोहनीयका उदयभेद होनेके कारण उस सम्यक्त्वको औदयिक भावके अन्तर्गत होना चाहिए, तब ऐसी अवस्थामें उसे क्षायोपशमिक कहना असंगत है। इसके उत्तरमें कहा गया है कि सम्यक्त्व ज्ञानके समान आत्माका परिणाम है, वह कुछ क्रोधादिके समान कर्मपरमाणुओंके सम्पर्कसे नहीं उत्पन्न होता है। इसीलिए उसे औदयिक नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार सघन काले मेघसमूहके हट जानेपर कुछ स्वच्छ मेघोंके रहते हुए भी सूर्यका कुछ स्वाभाविक प्रकाश फैला रहता है उसी प्रकार मिथ्यात्वके हट जानेपर सम्यक्त्वपरमाणुओंका अनुभव होनेपर भी वह सम्यक्त्वरूप आत्माका स्वाभाविक परिणाम क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, उदीर्णके क्षय और अनुदीर्णके उपशमरूप क्षयोपशमके बिना उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इससे भिन्न कर्मरूप उपाधिके सामर्थ्यसे उत्पन्न होनेवाले क्रोध आदि परिणाम स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु जपाकुसुम आदि उपाधिके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाली स्फटिक मणिकी लालिमाके समान वे अस्वाभाविक है। यहाँ फिर यह शंका होती है कि यदि सम्यक्त्व आत्माका परिणाम है तो उसे क्षायोपशमिक कहना असंगत है, क्योंकि मिश्रीभावपरिणत उक्त दोनों मोहनीयके भेद ही तो उसमें वेद्यमान हैं। इसके समाधानमें कहा गया है कि उस प्रकारके आत्मपरिणामके हेतु होनेसे उन दोनोंको ही उपचारसे सम्यक्त्व कहा गया है, अतः उसमें कुछ विरोध नहीं है ॥४३-४४॥

अब औपशमिक सम्यक्त्वका निरूपण करते हुए वह किसके होता है, यह आगेकी गाथामें दिखलाते हैं—

जो उपशम श्रेणिपर आरूढ़ है उसके औपशमिक सम्यक्त्व होता है, अथवा जिसने मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और उभय (सम्यग्मिथ्यात्व) रूपसे तीन पुंज नहीं किये हैं या मिथ्यात्वका क्षय नहीं किया है वह औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥४५॥

१. अ ताविधि मिथ्यात्वघटनपटले। २. अ सामग।

उपशमकश्रेणिगतस्य औपशमिकीं श्रेणिमनुप्रविष्टस्य । भवत्यौपशमिकमेव सम्यक्त्वम् । तुरवधारणे । अनन्तानुबन्धिनां दर्शनमोहनीयस्य चोपशमेन निर्वृतमिति कृत्वा औपशमिकम् । यो वा अकृतत्रिपुञ्जस्तथाविधपरिणामोपेतत्वात्सम्यङ्मिथ्यात्वोभयानिर्वर्तितत्रिपुञ्ज एव । अक्षपित-मिथ्यात्वोऽक्षीणमिथ्यात्वदर्शनः, क्षायिकव्यवच्छेदार्थमेतत् । लभते प्राप्नोति सम्यक्त्वम्, तदप्यौपशमिकमेवेति ॥४५॥

अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

खीणंमि उइन्नंमि अ अणुइज्जंते अ सेसमिच्छत्ते ।
अंतोमुहुत्तमित्तं उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥४६॥

क्षीण एवोदीर्णे, अनुभवेनैव भुक्त इत्यर्थः । अनुदीर्यमाणे च मन्दपरिणामतया उदयम-गच्छति सति । कस्मिन् ? शेषमिथ्यात्वे, विष्कम्भितोदय इत्यर्थः । अन्तर्मुहूर्तमात्रं कालम्, तत ऊर्ध्वं नियामकाभावेन नियमेन मिथ्यात्वप्राप्तेः । एतावन्तमेव कालमिति किम् ? औपशमिकं सम्यक्त्वं लभते जीव इति ॥४६॥

इदमेव दृष्टान्तेन स्पष्टतरमभिधित्सुराह—

ऊसरदेसं दड्ढिल्लयं व विज्झाइ वणदवो पप्प ॥
इय मिच्छस्साणुदए उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥४७॥

ऊषरदेशं ऊषरविभागम् । ऊषरं नाम यत्र तृणादेरसंभवः । दग्धं वा पूर्वमेवाग्निना । विध्यायति वनदवो दावानलः प्राप्य । कुतः ? तत्र दाह्याभावात् । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—

औपशमिक सम्यक्त्व कब और कितने कालके लिए होता है, यह आगे स्पष्ट किया जाता है—

उदयावलीमें प्रविष्ट मिथ्यात्वके क्षीण हो जाने और शेष मिथ्यात्वके उदयको न प्राप्त होने-पर जीव अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥४६॥

आगे औपशमिक सम्यक्त्वको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

जिस प्रकार ऊषर—तृणादिकी उत्पत्तिके अयोग्य—अथवा जले हुए प्रदेशको पाकर दावानल स्वयं बुझ जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्वके उदयाभावमें जीव उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥४७॥

विवेचन—चार अनन्तानुबन्धी कषायों और दर्शनमोहनीयका उपशम होनेपर जो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यक्त्व प्रादुर्भूत होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है। वह उपशम श्रेणिपर आरूढ़ हुए जीवके होता है। गा. ४५ में जो 'तु' शब्दको ग्रहण किया गया है उससे यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि उपशम श्रेणिमें वह औपशमिक ही सम्यक्त्व होता है, न क्षायिक व क्षायोपशमिक। इसके अतिरिक्त जिस जीवने उस प्रकारके परिणामसे युक्त होनेके कारण दर्शन-मोहनीयके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और उभय (सम्यग्मिथ्यात्व) रूप तीन खण्ड नहीं किया है और मिथ्यात्वका क्षय भी नहीं किया है उसके भी वह औपशमिक सम्यक्त्व होता है। मिथ्यात्वका क्षय-कर देनेपर क्षायिक सम्यक्त्व होता है, न कि औपशमिक। अतः उस क्षायिक सम्यक्त्वकी व्यावृत्ति-के लिए यहाँ 'जिसने मिथ्यात्वका क्षय नहीं किया है' इतना विशेष कहा गया है। यह सम्यक्त्व उस अवस्थामें होता है जब कि उदयावलीमें प्रविष्ट मिथ्यात्वका अनुभवपूर्वक क्षय हो जाता है तथा शेष मिथ्यात्व उदयमें नहीं रहता है। काल उसका अन्तर्मुहूर्त मात्र है। कारण इसका यह

इव एवं तथाविधपरिणामात् मिथ्यात्वस्यानुदये सति औपशमिकं सम्यक्त्वं लभते जीव इति। वनदवकल्पं ह्यत्र मिथ्यात्वम्, ऊषरादिदेशस्थानीयं तथाविधपरिणामकण्डकमिति। आह—क्षायोपशमिकादस्य को विशेष इति उच्यते—तत्रोपशान्तस्यापि मिथ्यात्वस्य प्रदेशानुभवोऽस्ति, न त्वौपशमिके। अन्ये तु व्याचक्षते—श्रेणिमध्यवर्तिन्येवौपशमिके प्रदेशानुभवो नास्ति, न तु द्वितीये; तथापि तत्र सम्यक्त्वाण्वनुभवाभाव एव विशेष इति ॥४७॥

औपशमिकानन्तरं क्षायिकमाह—

खीणे दंसणमोहे [2]तिविहंमि वि भवनियाणभूयंमि।
निप्पच्चवायमउलं सम्मत्तं खाइयं होइ ॥४८॥

क्षपकश्रेणिमनुप्रविष्टस्य सतः क्षीणे दर्शनमोहनीये एकान्तेनैव प्रलयमुपगते। त्रिविधेऽपि मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व[3]-सम्यक्त्वभेदभिन्ने। किंविशिष्टे? भवनिदानभूते भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः संसारस्तत्कारणभूते। निःप्रत्यपायम्। अतिचारापायरहितम्। अतुलमनन्यसदृशम्, आसन्नतया मोक्षकारणत्वात्। सम्यक्त्वं प्राङ्निरूपितशब्दार्थं क्षायिकं भवति, मिथ्यात्वक्षयनिबन्धनत्वात् इति ॥४८॥

है कि अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् नियामक न होनेसे जीव नियमसे मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है। उक्त औपशमिक सम्यक्त्वको स्पष्ट करते हुए यहाँ यह दृष्टान्त दिया गया है कि जिस प्रकार ऊषर देशको अथवा पूर्वमें जले हुए भूमिप्रदेशको पाकर वनाग्नि दाह्य तृणादिके अभावमें स्वयमेव शान्त हो जाती है उसी प्रकार ऊषर देश जैसे परिणामको पाकर मिथ्यात्वरूप वनाग्निके उपशान्त हो जानेपर जीव औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। पूर्वोक्त क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें उपशमको प्राप्त हुए मिथ्यात्वका प्रदेशोदय रहता है, परन्तु प्रकृत औपशमिक सम्यक्त्वमें वह नहीं रहता, यह इन दोनोंमें विशेषता है, अन्य आचार्योंकी व्याख्याके अनुसार उस उपशान्त मिथ्यात्वका प्रदेशोदय केवल उपशम श्रेणिके मध्यवर्ती औपशमिक सम्यक्त्वमें नहीं रहता है, किन्तु द्वितीय औपशमिकमें वह रहता ही है। फिर भी उसमें सम्यक्त्व परमाणुओंके अनुभागका अभाव विशेष ही हुआ करता है ॥४५-४७॥

आगे क्रमप्राप्त क्षायिक सम्यक्त्वके स्वरूपका निर्देश किया जाता है—

संसारके कारणभूत तीनों ही प्रकारके दर्शन मोहके क्षयको प्राप्त हो जानेपर अपाय रहित (निर्बाध) अनुपम क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

विवेचन—संसारपरिभ्रमणका कारण दर्शनमोहनीय कर्म है। कारण यह कि सम्यक्त्वका विघातक होनेसे वह जीवको सत्-असत् व हेय-उपादेयका विवेक प्रकट नहीं होने देता। गाथामें संसारका पर्यायवाची भव शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'भवन्ति अस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः इति भवः' इस निरुक्तिके अनुसार जिसमें प्राणी कर्मके वशीभूत हुआ करते हैं उसका सार्थक नाम भव है। उक्त दर्शनमोहनीय मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके भेदसे तीन प्रकारका है। क्षपकश्रेणिपर आरूढ़ हुए जीवके जब यह तीनों प्रकारका दर्शन मोहनीय कर्म सर्वथा विलीन हो जाता है तब उसके प्रकृत क्षायिक सम्यक्त्व प्रादुर्भूत होता है। यह निर्मल सम्यक्त्व सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रहित होकर मोक्षका निकटवर्ती कारण है, इसीलिए उसे अतुल (अनुपम) कहा गया है। गाथामें यद्यपि सामान्यसे इतना मात्र कहा गया है कि तीनों प्रकारके दर्शनमोहके

---

१. अ श्रेणिमधिवर्तिन्यौप°। २. अ तिविहंमि य भवणिदाणभूयं वि णियच्चवाय। ३. मिथ्यात्वसम्यक्त्वभेद°।

क्षायिकानन्तरं कारकाद्याह—

जं जह भणियं तं तह करेइ सइ जंमि कारगं तं तु।
रोयगसम्मत्तं पुण रुइमित्तकरं मुणेयव्वं ॥४९॥

यद्यथा भणितं सूत्रेऽनुष्ठानं तत्तथा करोति सति यस्मिन्। सम्यग्दर्शने परमशुद्धिरूपे। कारकं तत्तु कारयतीति कारकम्। रोचकसम्यक्त्वं पुनः रुचिमात्रकरं मुणितव्यम्, विहितानुष्ठाने तथाविधशुद्धयभावात्, रोचयतीति रोचकम् ॥४९॥

सयमिह मिच्छद्दिट्ठी [1]धम्मकहाईहि दीवइ परस्स।
सम्मत्तमिणं दीवग कारणफलभावओ नेयं ॥५०॥

स्वयमिह [2]मिथ्यादृष्टिरभव्यो भव्यो वा कश्चिदङ्गारमर्दकवत्। अथ च धर्मकथादिभिर्धर्मकथया मातृस्थानानुष्ठानेनातिशयेन वा केनचिद्दीपयतीति प्रकाशयति। परस्य श्रोतुः। सम्यक्त्वमिदं व्यञ्जकम्। आह—मिथ्यादृष्टेः सम्यक्त्वमिति विरोधः। सत्यम्, किन्तु कारणफलभावतो ज्ञेयं तस्य हि मिथ्यादृष्टेरपि यः परिणामः स खलु प्रतिपत्तृसम्यक्त्वस्य कारणभावं प्रतिपद्यते [3]तद्भावभावित्वात्तस्य, अतः कारणे एव कार्योपचारात्सम्यक्त्वाविरोधः यथायुर्घृतमिति ॥५०॥

क्षीण हो जानेपर क्षायिक सम्यक्त्व होता है। पर उसकी व्याख्या करते हुए हरिभद्र सूरिने इतना विशेष कहा है कि क्षपक श्रेणिमें प्रविष्ट होते हुए जीवके दर्शनमोहनीयका क्षय होनेपर वह क्षायिक सम्यक्त्व होता है। षट्खण्डागम (१, १, १४५—पु. १, पृ ३९६), सर्वार्थसिद्धि (१-८) और तत्त्वार्थवार्तिक (९, ७, १२) आदिमें इस क्षायिक सम्यक्त्वका सद्भाव चतुर्थ असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली (चौदहवें) गुणस्थान तक बतलाया गया है ॥४८॥

अब पूर्वनिर्दिष्ट (४३) कारकादि सम्यक्त्व भेदोंमें कारक और रोचक इन दोका स्वरूप कहा जाता है—

जिस सम्यक्त्वके होनेपर प्राणी आगममें जिस अनुष्ठानको जैसा कहा गया है उसे उसी प्रकारसे करता है उसका नाम कारक सम्यक्त्व है। अभिप्राय यह है कि जो सम्यक्त्व 'कारयतीति कारकम्' इस निरुक्तिके अनुसार आगमविहित अनुष्ठानको उसी रूपमें कराता है उसे कारक सम्यक्त्व कहते हैं। रोचक सम्यक्त्वको रुचिमात्र करनेवाला जानना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि आगमविहित अनुष्ठानके करनेमें जीव यद्यपि उस प्रकार की शुद्धिके अभावमें असमर्थ होता है, तो भी इस सम्यक्त्वके होनेपर उसके उक्त अनुष्ठान-विषयक रुचि अवश्य रहती है। इससे उसका 'रोचक' यह सार्थक ही नाम है ॥४९॥

आगे दीपक सम्यक्त्वका स्वरूप कहा जाता है—

प्राणी यद्यपि स्वयं मिथ्यादृष्टि है, फिर भी वह धर्मकथा आदिके द्वारा दूसरेके सम्यक्त्वको प्रकाशित करता है, ऐसे सम्यक्त्वको कारण-कार्यभावसे दीपक जानना चाहिए।

विवेचन—इसका अभिप्राय यह है कि कोई जीव यद्यपि भव्य या अभव्य होकर स्वयं मिथ्यादृष्टि होता है फिर भी वह धर्मचर्चाके आश्रयसे, माता जैसे विशिष्ट अनुष्ठानसे अथवा किसी अतिशय विशेषसे दूसरेके सम्यक्त्वको प्रकट करता है। उसकी इस प्रकारकी परिणतिको कारणमें

---

१. अ धम्मकहादीहि। २. अ मिथ्यादृष्टिरभव्यो वा। ३. अ °त ताहि भाविस्वात्तस्य।

समस्तस्यैव भावार्थमुपदर्शयति—

तव्विहखओवसमओ तेसिमणूणं अभावओ चेव।
एवं विचित्तरूवं सनिबंधणमो मुणेयव्वं ॥५१॥

तद्विधक्षयोपशमतस्तेषामणूनाम्, मिथ्यात्वाणूनामित्यर्थः। अभावतश्चैव तेषामेवेति वर्तते। एवं विचित्ररूपं क्षायोपशमिकादिभेदेनेति भावः। सनिबन्धनमेव सकारणं मुणितव्यम्। तथाहि— त एव मिथ्यात्वपरमाणवस्तथाविधात्मपरिणामेन क्वचित्तथा शुद्धिमापद्यन्ते यथा क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं भवति, तत्रापि क्वचित्सातिचारं कालापेक्षया, क्वचिन्निरतिचारम्, अपरे तथा यथौपशमिकं, क्षयादेव क्षायिकमिति ॥५१॥

अपरेऽप्यस्य भेदाः संभवन्तीति कृत्वा तानपि सूचयन्नाह—

[3]किं चेहुवाहिभेया दसहावीमं परूवियं समए।
ओहेण तंपिमेसिं भेयाणमभिन्नरूवं तु ॥५२॥

किं चेहोपाधिभेदादाज्ञादिविशेषणभेदादित्यर्थः। दशधापीदं दशप्रकारमप्येतत्सम्यक्त्वं प्ररूपितं समये आगमे। यथोक्तं [4]प्रज्ञापनायाम्—

निसग्गुवएसरुई आणरुई सुत्तबीयरुइमेव।
अभिगमवित्थाररुई किरियासंखेवधम्मरुई ॥

कार्यका उपचार करके दीपक सम्यक्त्व कहा गया है। लोकव्यवहारमें घीको आयु इसीलिए कहा जाता है कि वह उस आयुकी स्थिरताका कारण है, स्वयं आयु नहीं है। यही अभिप्राय इस दीपक सम्यक्त्वके विषयमे भी समझना चाहिए ॥५०॥

आगे इस सभीके आशयको दिखलाते हैं—

उन मिथ्यात्व परमाणुओंके उस प्रकारके अभावसे भी इस प्रकारके विचित्र स्वरूपवाले उस सम्यग्दर्शनको सकारण ही जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जीवके उस जातिके परिणाम विशेषसे मिथ्यात्व मोहनीयके परमाणु किसीके इस प्रकारकी शुद्धिको प्राप्त होते हैं कि जिसके आश्रयसे सातिचार अथवा निरतिचार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्रादुर्भूत होता है। तथा किसीके औपशमिक सम्यक्त्व प्रकट होता है। उनके ही क्षयसे किन्हीके क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है ॥५१॥

आगे इस सम्यक्त्वके जो अन्य भेद भी सम्भव हैं उनकी सूचना की जाती है—

उपर्युक्त भेदोंके अतिरिक्त उपाधिके भेदसे इस सम्यक्त्वको आगममें दस प्रकारका भी कहा गया है। वह भी सामान्यसे पूर्वोक्त क्षायोपशमिकादि भेदोंसे अभिन्न स्वरूपवाला है—उनसे भिन्न नहीं है, उन्हींके अन्तर्गत है।

विवेचन—प्रज्ञापना (गा. ११५) व उत्तराध्ययन (२८-१६) आदि आगम ग्रन्थोंमें दर्शनआर्यके प्रसंगमें सम्यक्त्वके उपर्युक्त क्षायोपशमिकादि व कारकादि भेदोंके अतिरिक्त अन्य दस भेद भी निर्दिष्ट किये गये हैं। उनको पूर्वोक्त भेदोंसे भिन्न नहीं समझना चाहिए—वे यथा-

---

१. अ सुणिबंधणमो। २. अ क्षयोपशमकास्तेषा°। ३. अ किं चेहुवायभेया दसहावि संपरूविहं समए। ४. अ प्रज्ञापनायां आणारुइसुत्तरु इत्यादि। निसग्गुव°।

आह—तदेवेह कस्मान्नोक्तमिति। उच्यते—ओघेन सामान्येन तदपि दशप्रकारममीषां भेदानां क्षायोपशमिकादीनामभिन्नरूपमेव, एतेषामेव केनचिद्भेदेन भेदात्। संक्षेपारम्भश्चायम्, अतो न तेषामभिधानमिति ॥५२॥

सम्भव उक्त क्षायोपशमिकादि भेदोंमें-से किसी-किसीके अन्तर्गत हो सकते हैं। प्रकृत ग्रन्थके संक्षिप्त होनेके कारण उन दस भेदोंका निरूपण यहाँ नहीं किया गया है। वे दस भेद ये हैं—निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि और धर्मरुचि। इनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—(१) जो परमार्थ स्वरूपसे जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव और संवरके विषयमें आत्मसम्मतमतिसे—परोपदेश निरपेक्ष जाति-स्मरणादिरूप प्रतिभासे—रुचि या श्रद्धा करता है वह निसर्गदर्शन आर्य कहलाता है। प्रकारान्तरसे भी इसके लक्षणमें यह कहा गया है कि जो जिनदृष्ट चार प्रकारके पदार्थोंके विषयमें 'वह इसी प्रकारका है, अन्यथा नहीं है' ऐसा श्रद्धान करता है उसे निसर्गरुचि दर्शन आर्य जानना चाहिए। यह लक्षण प्रज्ञापना व उत्तराध्ययनके अनुसार निर्दिष्ट किया गया है। तत्त्वार्थाधिगम-भाष्य (१-३) में निसर्गसम्यग्दर्शनके स्वरूपको दिखलाते हुए कहा गया है कि जीव स्वकृत कर्मके वश अनादिकालसे चतुर्गतिस्वरूप संसारमें परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकारसे पुण्य-पापके फलका अनुभव कर रहा है, ज्ञान-दर्शनोपयोगरूप स्वभाववाले उसके उन-उन परि-णामाध्यवसायस्थानान्तरोंको प्राप्त होते हुए अनादि मिथ्यादृष्टि होनेपर भी परिणामविशेषसे उस प्रकारका अपूर्वकरण होता है कि जिससे बिना किसी प्रकारके उपदेशके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, उसके इस सम्यग्दर्शनका नाम ही निसर्गसम्यग्दर्शन है। तत्त्वार्थवार्तिक (१, ३, ८) में कहा गया है कि जिस प्रकार कुरुक्षेत्रमें कहीं पर बाह्य पुरुषप्रयत्नके बिना ही सुवर्ण उत्पन्न होता है उसी प्रकार बाह्य पुरुषके उपदेशपूर्वक जो जीवादि पदार्थोंका अधिगम होता है उसके बिना ही जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे निसर्गजसम्यग्दर्शन कहते हैं। (२) अन्य किसी छद्मस्थ या जिनके द्वारा उपदिष्ट जीव-अजीवादि पदार्थोंका जो श्रद्धान करता है उसे उपदेशरुचि जानना चाहिए। तत्त्वार्थवार्तिक (३-३६) के अनुसार तीर्थंकर और बलदेव आदिके चरितके उपदेशके आश्रयसे जिनके तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न होती है उन्हें उपदेशरुचि दर्शनआर्य कहा जाता है। (३) जिसका राग, द्वेष, मोह व अज्ञान हट चुका है तथा जिसके जिनवाणीके आश्रयसे तत्त्वविषयक रुचि प्रादुर्भूत हुई है उसका नाम आज्ञारुचि है। (४) जो सूत्रका अध्ययन करता हुआ अंगश्रुतसे अथवा बाह्यश्रुतसे सम्यक्त्वका अवगाहन करता है उसे सूत्ररुचि जानना चाहिए। (५) एक पदके आश्रयसे जिसका सम्यक्त्व—तत्त्वरुचि—पानीमें डाले गये एक तेलबिन्दुके समान अनेक पदोंमें फैलती है उसे बीजरुचि कहा जाता है। (६) जिसने अर्थस्वरूपसे ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवादरूप श्रुतज्ञानको देख लिया है—अभ्यस्त कर लिया है—उसे अभिगमरुचि कहते हैं। (७) अंग-पूर्व श्रुतके विषयभूत जीवादि पदार्थ विषयक प्रमाण-नयादिके आश्रयसे विस्तारपूर्वक किये जानेवाले निरूपणसे जिन्हें श्रद्धान प्राप्त हुआ है वे विस्ताररुचि दर्शन आर्य कहलाते हैं (त. वा. ३, ३६, २)। (८) दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और तपविनयके विषयमें तथा समिति व गुप्तियोंके विषयमें जो अन्तःकरणपूर्वक अनुष्ठानविषयक रुचि होती है उसका नाम क्रियारुचि है। (९) अनभिगृहीत मिथ्यादृष्टिको संक्षेपरुचि जानना चाहिए। वह प्रवचनमें विशारद (कुशल) न होकर शेष मिथ्यामतोंके विषयमें अनभिगृहीत होता है—उनके आश्रयसे मिथ्यात्वको नहीं ग्रहण करता है। (१०) जो जिनप्रणीत श्रुतधर्म, अस्तिकायधर्म, और चारित्रधर्मका श्रद्धान करता है उसे धर्मरुचि जानना चाहिए ॥५२॥

इदं च सम्यक्त्वमात्मपरिणामरूपत्वाच्छद्मस्थेन दुर्लक्ष्यमिति लक्षणमाह—

तं उवसमसंवेगाइएहि लक्खिज्जई[1] उवाएहिं ।
आयपरिणामरूवं बज्झेहिं[2] पसत्थजोगेहिं ॥५३॥

तत्सम्यक्त्वमुपशमसंवेगादिभिरिति—उपशान्तिरुपशमः, संवेगो मोक्षाभिलाषः, आदिशब्दान्निर्वेदानुकम्पास्तिक्यपरिग्रहः । लक्ष्यते चिह्न्यते एभिरुपशमादिभिर्बाह्यैः प्रशस्तयोगैरिति संबन्धः । बाह्यवस्तुविषयत्वाद्बाह्याः, प्रशस्तयोगाः शोभनव्यापारास्तैः । किंविशिष्टं तत्सम्यक्त्वम् ? आत्मपरिणामरूपं जीवधर्मरूपमिति ॥५३॥ तथा चाह—

इत्थं[3] य परिणामो[4] खलु जीवस्स सुहो उ होइ विन्नेओ ।
किं मलकलंकमुक्कं कणगं भुवि सामलं[5] होइ ॥५४॥

अत्र च[6] सम्यक्त्वे सति । किम् ?, परिणामोऽध्यवसायः । खलुशब्दोऽवधारणार्थः—जीवस्य शुभ एव भवति विज्ञेयो न त्वशुभः । अथवा किमत्र चित्रमिति ? प्रतिवस्तूपमामाह—कि मलकलङ्करहितं कनकं भुवि श्यामलं भवति ? न भवतीत्यर्थः । एवमत्रापि मलकलङ्कस्थानीयं प्रभूतं क्लिष्टं कर्म, श्यामलत्वतुल्यस्त्वशुभपरिणामः, स प्रभूते क्लिष्टे कर्मणि क्षीणे जीवस्य न भवति ॥५४॥

प्रशमादीनामेव बाह्ययोगत्वमुपदर्शयन्नाह—

आगे दुर्लक्ष्य आत्मपरिणामरूप उस सम्यक्त्वके अनुमापक कुछ चिह्नोंका निर्देश किया जाता है—

आत्मपरिणामस्वरूप वह सम्यक्त्व बाह्य प्रशस्त व्यापाररूप उपशम व संवेग आदि उपायोंसे लक्षित होता है—जाना जाता है ॥५३॥

इसे स्पष्ट करते हुए आगे उसके कारणका निर्देश किया जाता है—

कारण इसका यह है कि इस सम्यक्त्वके होनेपर जीवका परिणाम (व्यापार या आचरण) उत्तम ही होता है—निन्द्य आचरण उसका कभी नहीं होता है । सो ठीक भी है, क्या लोकमें कभी मल-कलंक—कीट-कालिमासे रहित सुवर्ण मलिन हुआ है ? नहीं ।

विवेचन—प्रकृत सम्यक्त्व अतीन्द्रिय आत्माका परिणाम है, अतः छद्मस्थके लिए उसका परिज्ञान नहीं हो सकता । इससे यहाँ उसके परिचायक कुछ बाह्य चिह्नोंका निर्देश किया गया है । वे चिह्न ये हैं—प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य । ये सब बाह्य प्रवृत्ति रूप हैं । जिस जीवके उक्त सम्यक्त्व प्रादुर्भूत हो जाता है उसकी बाह्य प्रवृत्ति प्रशस्त होती है, वह कभी निन्द्य आचरण नहीं करता । इसीसे उक्त प्रशम-संवेगादिरूप प्रवृत्तिको देखकर उसके आश्रयसे किसीके उस सम्यक्त्वका अनुमान किया जा सकता है । इनके होते हुए वह सम्यक्त्व हो भी सकता है और कदाचित् नहीं भी हो सकता है, पर इनके बिना उस सम्यक्त्वका अभाव सुनिश्चित समझना चाहिए । कारण इसका यह है कि वैसी प्रवृत्ति अन्तःकरण पूर्वक न होकर कदाचित् कपटसे भी की जा सकती है ॥५४॥

आगे उन प्रशमादिकोंके स्वरूपका निरूपण करते हुए प्रथमतः प्रशमके स्वरूपको प्रकट किया जाता है—

---

१. अ लक्खिज्जए । २. अ जोएहिं । ३. अ एत्थ । ४. अ परिणामः । ५. अ स्यामलं । ६. अ 'च' नास्ति ।

पयईइ व कम्माणं वियाणिउं वा विवागमसुहं ति ।
अवरद्धे वि न कुप्पइ उवसमओ सव्वकालं पि ॥५५॥

प्रकृत्या वा सम्यक्त्वाणुवेदकजीवस्वभावेन वा । कर्मणां कषायनिबन्धनानाम् । विज्ञाय वा विपाकमशुभमिति । तथाहि—कषायाविष्टोऽन्तर्मुहूर्तेन यत्कर्म बध्नाति तदनेकाभिः सागरोपमकोटाकोटिभिरपि दुःखेन वेदयतीत्यशुभो विपाकः, एतत् ज्ञात्वा, किम् ? अपराद्धेऽपि न कुप्यति अपराध्यत इति अपराध्यः प्रतिकूलकारी, तस्मिन्नपि कोपं न गच्छत्युपशमतः उपशमेन हेतुना । सर्वकालमपि यावत्सम्यक्त्वपरिणाम इति ॥५५॥ तथा—

नरविबुहेसरसुक्खं दुक्खं चिय भावओ य मन्नंतो ।
संवेगओ न मुक्खं मुत्तूणं किंचि पत्थेइ ॥५६॥

नर-विबुधेश्वरसौख्यं चक्रवर्तीन्द्रसौख्यमित्यर्थः । अस्वाभाविकत्वात् कर्मजनितत्वात्सावसानत्वाच्च दुःखमेव । भावतः परमार्थतो मन्यमानः । संवेगतः संवेगेन हेतुना । न मोक्षं स्वाभाविकजीवरूपमकर्मजमपर्यवसानं[4] मुक्त्वा किंचित्प्रार्थयतेऽभिलषतीति ॥५६॥

सम्यक्त्वसे विभूषित जीव उपशम (प्रशम) के आश्रयसे स्वभावतः अथवा कर्मोंके अशुभ विपाकको जानकर सदा अपराधी प्राणीके ऊपर भी क्रोध नहीं किया करता है ।

विवेचन—सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेनेपर जीवका स्वभाव इस प्रकारका हो जाता है कि यदि कोई प्राणी प्रतिकूल होकर उसका अनिष्ट भी करता है तो भी वह उसके ऊपर कभी क्रोध नहीं करता । ऐसे समयमें वह यह भी करता है कि क्रोधादि कषाय ही तो कर्मबन्धके कारण हैं । कषायके वशीभूत होकर प्राणी अन्तर्मुहूर्तमें जिस कर्मको बाँधता है उसके फलको वह अनेक कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल तक कष्टके साथ सहता है । इस प्रकार कर्मके अशुभ फलको जानकर वह अपराध करनेवालेके ऊपर भी जब क्रोध नहीं करता है तब भला वह निरपराध प्राणीके ऊपर तो क्रोध कर ही कैसे सकता है ? इस प्रकारसे जो सम्यक्त्वके प्रभावसे उसके क्रोधादि कषायोंकी स्वभावतः उपशान्ति होती है उसीका नाम प्रशम है ॥५५॥

अब क्रमप्राप्त संवेगका स्वरूप कहा जाता है—

सम्यग्दृष्टि जीव संवेगके निमित्तसे चक्रवर्ती और इन्द्रके सुखको भी यथार्थमें दुख ही मानता है । इसीसे वह मोक्षको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं चाहता है ।

विवेचन—यथार्थ सुख उसे ही कहा जा सकता है जहाँ कुछ भी आकुलता न हो । चक्रवर्ती और इन्द्र आदिका सुख स्थायी नहीं है—विनश्वर है, अतः वह आकुलतासे रहित नहीं हो सकता । इसीलिए सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्र व चक्रवर्ती आदिके सातावेदनीयजन्य उस सुखको विनश्वर व पापका मूल जानकर दुख ही मानता है । वास्तविक सुख परावलम्बनके बिना होता है । कर्मोदयके बिना प्राप्त होनेवाला स्वाधीन व शाश्वतिक वह सुख मोक्षमें ही सम्भव है । अतएव सम्यग्दृष्टि जीव क्षणनश्वर, पराधीन व परिणाममें दुःखोत्पादक सांसारिक सुखकी अभिलाषा न करके निर्बाध व शाश्वतिक सुखके स्थानभूत मोक्षकी ही अभिलाषा करता है । इस मोक्षकी अभिलाषाका नाम ही संवेग है जो उस सम्यक्त्वके प्रकट होनेपर स्वभावतः होता है ॥५६॥

---

१. अ पइती इव । २. अ अविद्धे । ३. अ उ । ४. अ मकर्म्मजपर्यवसाना (अत्र 'मुक्त्वा किंचि' इत्यतोऽग्रे ५७ तमगाथायाः टीकान्तर्गतु 'सर्वेष्वेव निर्वेद' पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति) ।

नारयतिरियनरामरभवेसु निव्वेयओ वसइ दुक्खं ।
अकयपरलोयमग्गो ममत्तविसवेगरहिओ वि ॥५७॥

नारक-तिर्यङ्नरामरभवेषु सर्वेष्वेव। निर्वेदतो निर्वेदेन कारणेन वसति दुःखम् । किंविशिष्टः सन् ? अकृतपरलोकमार्गः अकृतसदनुष्ठान इत्यर्थः । अयं हि जीवलोके परलोकानुष्ठानमन्तरेण सर्वमेवासारं मन्यते इति । ममत्वविषवेगरहितोऽपि तथा ह्ययं प्रकृत्या[1] निर्ममत्व एव भवति, विदिततत्त्वत्वादिति[2] ॥५७॥ तथा—

दट्ठूण पाणिनिवहं भीमे भवसागरंमि दुक्खत्तं ।
अविसेसओ णुकंपं दुहावि सामत्थओ कुणइ ॥५८॥

दृष्ट्वा प्राणिनिवहं जीवसंघातम् । क्व ? भीमे भयानके । भवसागरे संसारसमुद्रे । दुःखार्त्तं शारीर-मानसैर्दुःखैरभिभूतमित्यर्थः । अविशेषतः सामान्येनात्मीयेतरविचाराभावेनेत्यर्थः । अनुकम्पां दयाम् द्विधापि द्रव्यतो भावतश्च—द्रव्यतः प्रासुकपिण्डादिदानेन, भावतो मार्गयोजनया। सामर्थ्यतः स्वशक्त्यनुरूपं करोतीति ॥५८॥

मन्नइ तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहि पन्नत्तं ।
सुहपरिणामो सव्वं कंक्खाइविसुत्तियारहिओ[3] ॥५९॥

आगे निर्वेदका स्वरूप कहा जाता है—

ममतारूप विषके वेगसे रहित भी प्राणी परलोकके मार्गको न करके—उत्तम परलोकके कारणभूत सदाचरणको न करके निर्वेदके आश्रयसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव पर्यायोंमें दुखपूर्वक रहता है।

विवेचन—नारक, तिर्यंच और कुमानुष अवस्थाका नाम निर्वेद है (दशवै. निर्युक्ति २०३)। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकी सिद्धसेन गणि विरचित वृत्ति (१-३) के अनुसार विषयोंमें जो अनासक्ति होती है उसे निर्वेद कहा गया है। यहींपर आगे (७-७) पुनः यह कहा गया है कि शरीर, भोग, संसार और विषयोंसे जो विमुखता, उद्वेग अथवा विरक्ति होती है उसका नाम निर्वेद है। प्रकृत गाथाका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव निर्वेदके आश्रयसे नारक आदि भवोंमें दुखपूर्वक रहता है। वह ममत्वभावसे रहित होता हुआ भी यद्यपि उत्तम परलोकके योग्य आचरण नहीं कर पाता है, फिर भी वह उन्हें कष्टकर मानता है व उनकी ओरसे विमुख रहता है ॥५७॥

आगे अनुकम्पाके स्वरूपको दिखलाते हैं—

सम्यग्दृष्टि जीव भयानक संसाररूप समुद्रमें दुःखोंसे पीड़ित प्राणीसमूहको देखकर बिना किसी विशेषताके—समानरूपसे—यथाशक्ति द्रव्य व भावके भेदसे दोनों प्रकारकी अनुकम्पाको करता है। अभिप्राय यह है कि चारों गतियोंमें परिभ्रमण करते हुए प्राणी अनेक प्रकारके शारीरिक व मानसिक दुखोंसे पीड़ित रहते हैं। उन्हें इस प्रकार दुखी देखकर सम्यग्दृष्टि जीव स्वभावतः उनके दुखको अपना समझता हुआ यथायोग्य उन्हें प्रासुक भोजनादि देकर जहाँ द्रव्यसे अनुकम्पा करता है वहाँ उन्हें सन्मार्गमें लगाकर वह भावसे भी अनुकम्पा करता है। यह अनुकम्पाका कार्य वह अपना व परका भेद न करके सभीके प्रति समान रूपसे करता है। उपर्युक्त प्रशमादिकके समान यह भी उसके सम्यक्त्वका परिचायक है ॥५८॥

---

१. अ तथा प्र° । २. अ तत्त्वादिति । ३. अ विसोत्तियारहिय ।

मन्यते प्रतिपद्यते। तदेव सत्यं निःशङ्कं शङ्कारहितम्। यज्जिनैः प्रज्ञप्तं यत्तीर्थकरैः प्रतिपादितम्। शुभपरिणामः सन् साकल्येनानन्तरोदितसमस्तगुणान्वितः। सर्वं समस्तं मन्यते, न तु किंचिन्मन्यते किंचिन्नेति; भगवत्यविश्वासायोगात्। पुनरपि स एव विशिष्यते। किंविशिष्टः सन्? कांक्षादिविश्रोतसिकारहितः कांक्षा अन्योन्यदर्शनग्राह इत्युच्यते, आदिशब्दाद्विचिकित्सापरिग्रहः, विश्रोतसिका तु संयम-शस्यमङ्गीकृत्याध्यवसायसलिलस्य विश्रोतो गमनमिति ॥५९॥

उपसंहरन्नाह—

> एवंविहपरिणामो सम्मद्दिट्ठी जिणेहिं पन्नत्तो।
> एसो य भवसमुद्दं लंघइ थोवेण कालेण ॥६०॥

एवंविधपरिणाम इत्यनन्तरोदितप्रशमादिपरिणामः। सम्यग्दृष्टिर्जिनैः प्रज्ञप्त इति प्रकटार्थः। अस्यैव फलमाह—एष च भवसमुद्रं लंघयति अतिक्रामति। स्तोकेन कालेन, प्राप्तबीजत्वादुत्कृष्टतोऽप्युपार्धपुद्गलपरावर्तान्तः सिद्धिप्राप्तेरिति ॥६०॥

अब सम्यग्दृष्टिके आस्तिक्य गुणके अस्तित्वको दिखलाते हैं—

आस्तिक्य आदि रूप शुभ परिणामसे युक्त सम्यग्दृष्टि जीव कांक्षा आदि विश्रोतसिका—प्रतिकूल प्रवाह—से रहित होकर जिनदेवके द्वारा जो भी वस्तुका स्वरूप कहा गया है उस सभीको सत्य मानता है।

विवेचन—जीवादि पदार्थ यथासम्भव अपने-अपने स्वभावके साथ वर्तमान हैं, इस प्रकारकी बुद्धिका नाम आस्तिक्य है, (त. वा. १, २, ३०। 'आत्मा आदि पदार्थ समूह है' इस प्रकारकी बुद्धि जिसके होती है उसे आस्तिक और उसकी इस प्रकारकी परिणतिको आस्तिक्य कहा जाता है। यह गुण सम्यग्दृष्टि जीवमें स्वभावतः होता है। जिन भगवान्के द्वारा जीवादि पदार्थोंका जैसा स्वरूप कहा गया है उसे ही वह यथार्थ मानता है। कारण यह कि वह यह जानता है कि जिन भगवान् सर्वज्ञ व वीतराग हैं, अतः वे वस्तुस्वरूपका अन्यथा कथन नहीं कर सकते। असत्य वही बोलता है जो या तो अल्पज्ञ हो या राग-द्वेषके वशीभूत हो। सो जिन भगवान्में इन दोनोंका ही अभाव है। अतएव उनसे असत्यभाषणकी सम्भावना नहीं की जा सकती। ऐसा सम्यग्दृष्टिके दृढ़ विश्वास हुआ करता है। यही आस्तिक्य गुणका लक्षण है। सम्यग्दृष्टि जीव इस आस्तिक्य गुण के साथ पूर्वनिर्दिष्ट प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पासे संयुक्त होता है। साथ ही वह सम्यक्त्वको मलिन करनेवाले कांक्षा व विचिकित्सा आदि अतिचारोंसे रहित भी होता है। इन अतिचारोंका स्वरूप ग्रन्थकारके द्वारा आगे स्वयं निर्दिष्ट किया जानेवाला है। (८७-८८)। यहाँ कांक्षा आदिको विश्रोतसिका कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार खेतमें बोयी गयी फसलकी वृद्धिके लिए उसका जलसे सिंचन किया जाता है, पर सिंचनके लिए उपयुक्त जलका प्रवाह यदि विपरीत दिशामें जानेवाला हो तो उससे फसलका संरक्षण व संवर्धन नहीं हो सकता है, ठीक इसी प्रकार संयमका संरक्षण व संवर्धन करनेवाला वह सम्यक्त्व यदि कांक्षा आदिसे मलिन हो रहा हो तो उससे स्वीकृत संयमका संरक्षण व संवर्धन नहीं हो सकता है। इसीसे सम्यग्दृष्टिको उनसे रहित कहा गया है ॥५९॥

अब इस सबका उपसंहार किया जाता है—

इस प्रकार जिन देवके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीवको उक्त प्रकारके प्रशम-संवेगादिरूप शुभ परिणामोंसे युक्त कहा गया है। इस प्रकारकी उत्तम परिणतिसे युक्त यह सम्यग्दृष्टि ही थोड़े

एवंविधमेव सम्यक्त्वं इत्येतत्प्रतिपादयन्नाह—

जं मोणं तं सम्मं जं सम्मं तमिह होइ मोणं ति।
निच्छयओ इयरस्य उ सम्मं सम्मत्तहेऊ वि ॥६१॥

मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः तपस्वी, तद्भावो मौनम्, अविकलं मुनिवृत्तमित्यर्थः। यन्मौनं तत्सम्यक् सम्यक्त्वम्। यत्सम्यक् सम्यक्त्वं तदिह भवति मौनमिति। उक्तं चाचाराङ्गे—

जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा।
जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा ॥ इत्यादि

निश्चयतः परमार्थेन निश्चयनयमतेनैव एतदेवमिति,

जो जहवायं[1] न कुणइ मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्नो।
वड्ढेइ य मिच्छत्तं परस्स संकं जणेमाणो ॥

इत्यादिवचनप्रामाण्यात्। इतरस्य तु व्यवहारनयस्य सम्यक्त्वं सम्यक्त्वहेतुरपि अर्हच्छासनप्रीत्यादि, कारणे कार्योपचारात्। एतदपि शुद्धचेतसां पारम्पर्येणापवर्गहेतुरिति। उक्तं च—

समयमें अधिकसे अधिक उपार्धपुद्गलपरावर्त कालके भीतर ही संसाररूप समुद्रको लांघता है—वह भयानक चतुर्गतिस्वरूप संसारसे शीघ्र मुक्त हो जाता है ॥६०॥

आगे मुनिधर्मको ही सम्यक्त्वका निर्देश किया जाता है—

यथार्थमें यहाँ निश्चयनयकी अपेक्षा जो मुनिका चारित्र है वह सम्यक्त्व है और जो सम्यक्त्व है वह मुनिका चारित्र है। पर व्यवहार नयकी अपेक्षा सम्यक्त्वका जो कारण है उसे भी सम्यक्त्व कहा जाता है।

विवेचन—प्रकृत गाथामें निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयोंकी अपेक्षा सम्यक्त्वके स्वरूपको दिखलाते हुए कहा गया है कि निश्चयसे जो मुनिधर्म है वही सम्यक्त्व है और जो सम्यक्त्व है वही मुनिधर्म है—दोनोंमें कुछ भेद नहीं है। कारण यह कि निश्चयसे आत्म-पर-विवेकका होना ही सम्यक्त्व है जो उस मुनिधर्मसे भिन्न नहीं है। इस आत्म-परविवेकके प्रकट हो जानेपर प्राणीको हेय और उपादेयका ज्ञान होता है, जिसके आश्रयसे वह पापाचरणको छोड़कर संयममें प्रवृत्त होता है। 'मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः' इस निरुक्तिके अनुसार मुनिका अर्थ है तीनों कालकी अवस्थाको समझनेवाला तपस्वी। इसीसे निश्चयनयकी अपेक्षा इन दोनोंमें भेद नहीं किया गया। टीकामें इसकी पुष्टि आचारांग सूत्र (१५६, पृ. १९२) से की गयी है। जो यथार्थ आचरण नहीं करता है उससे अन्य मिथ्यादृष्टि और कौन हो सकता है? उसे ही मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए। ऐसा मिथ्यादृष्टि शंकाको उत्पन्न करता हुआ दूसरेके भी मिथ्यात्वको बढ़ाता है। व्यवहारनयसे जो जिनशासन विषयक अनुराग आदि सम्यक्त्वके कारण हैं उन्हें भी कारणमें कार्यके उपचारसे सम्यक्त्व कहा जाता है, क्योंकि परम्परासे वे भी मुक्तिके कारण हैं। जैनशासनकी यह एक विशेषता है कि वहाँ वस्तुतत्त्वका विचार दुराग्रहको छोड़कर अनेकान्त दृष्टिसे—निश्चय व व्यवहार नयोंके आधारसे—किया गया है। परस्पर सापेक्ष इन दोनों नयोंके बिना वस्तुके स्वरूपको यथार्थमें समझा ही नहीं जा सकता। इसीसे आगम में यह कहा गया है कि जो आत्महितैषी भव्य जीव जिनमतको स्वीकार करता

---

[1] अ जहावायं।

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारनिच्छए मुयह ।
ववहारनयउच्छेए तित्थुच्छेओ जओऽवस्सं ॥ इत्यादीनि ॥६१॥

वाचकमुख्येनोक्तम्—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । तदपि प्रशमादिलिङ्गमेवेति दर्शयन्नाह—

तत्तत्थसद्दहाणं सम्मत्तं तंमि पसममाईया ।
पढमकसाओवसमादविक्खया हुंति नियमेण ॥६२॥

तत्त्वार्थश्रद्धानं[1] सम्यक्त्वम् । तस्मिन् प्रशमादयोऽनन्तरोदिताः । प्रथमकषायोपशमाद्यपेक्षया भवन्ति नियमेन । अयमत्र भावार्थः—न ह्यनन्तानुबन्धिक्षयोपशमादिमन्तरेण तत्त्वार्थश्रद्धानं भवति । सति च तत्क्षयोपशमे तदुदयवद्भ्यः सकाशादपेक्षयास्य प्रशमादयो विद्यन्त एवेति तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमित्युक्तम् ॥६२॥

के एते तत्त्वार्था इत्येतदभिधित्सयाह[2]—

जीवाजीवासवबंधसंवरा निज्जरा य मुक्खो य ।
तत्तत्था इत्थं[3] पुण दुविहा जीवा समक्खाया ॥६३॥

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरा निर्जरा च मोक्षश्च तत्त्वार्था इति । एषां स्वरूपं वक्ष्यत्येव । असमासकरणं गाथाभंगभयार्थं निर्जरामोक्षयोः फलत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थं चेति । अत्र पुनस्तत्त्वार्थचिन्तायाम् । द्विविधा जीवाः समाख्यातास्तीर्थंकरगणधरैरिति ॥६३॥

है उसे व्यवहार और निश्चयनयोंको नहीं छोड़ना चाहिए। इसका कारण यह है कि व्यवहार नयके छोड़ देनेपर जैसे तीर्थका—धर्मप्रवर्तनका—विनाश अवश्यम्भावी है वैसे ही निश्चयनयके छोड़ देनेपर तत्त्वका—वस्तुव्यवस्थाका—विनाश भी अनिवार्य है। अतः तत्त्वको समझनेके लिए मुख्यता व गौणता या विवक्षा व अविवक्षाके आधारसे यथासम्भव उक्त दोनों नयोंका उपयोग अवश्य करना चाहिए ॥६१॥

आगे वाचक उमास्वातिके द्वारा जिस सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान निर्दिष्ट किया गया है वह प्रशम-संवेगादिका हेतु है, इसे दिखलाते हैं—

जीवाजीवादि तत्त्वार्थोंके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है। उसके हो जानेपर प्रथम कषायके उपशम आदिकी अपेक्षासे पूर्वोक्त प्रशम-संवेग आदि नियमसे होते हैं।

विवेचन—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (१-२) में जीव-अजीव आदि सात तत्त्वार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा गया है। जिस जीवके तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है उसके पूर्वोक्त प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये गुण नियमसे होते हैं। इसका कारण यह है कि वह तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन प्रथम अनन्तानुबन्धी कषायके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके होनेपर ही होता है—उसके बिना नहीं होता। उक्त प्रशमादि भी प्रकृत कषायके उपशमादिकी अपेक्षा रखते हैं। यही कारण है जो उसके उदय युक्त जीवोंके असम्भव वे प्रशमादि भाव सम्यग्दृष्टिके नियमसे होते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शनके अविनाभावी वे प्रशमादिक उस (सम्यग्दर्शन) के परिचायक होते हैं ॥६२॥

आगे उन तत्त्वार्थोंका निर्देश किया जाता है—

---

१. अ 'तत्त्वार्थश्रद्धानं' इत्यतोऽग्रेऽग्रिम-'तत्त्वार्थश्रद्धानं' पदपर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति । २. अ त एते तत्त्वार्थाः इति तदभि° । ३. अ एत्थ ।

द्वैविध्यमाह—

संसारिणो य मुत्ता संसारी छव्विहा समासेण ।
पुढवीकाइअमादि तसकायंता पुढोभेया ॥६४॥

च-शब्दस्य व्यवहित उपन्यासः—संसारिणो मुक्ताश्चेति । तत्र संसारिणः षड्विधाः षट्प्रकाराः । समासेन जातिसंक्षेपेणेति भावः । षड्विधत्वमेवाह—पृथिवीकायिकादयस्त्रसकायान्ताः । यथोक्तम्[1]—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया पृथग्भेदा इति स्वातन्त्र्येण पृथग्भिन्नस्वरूपाः, न तु परमपुरुषविकारा इति ॥६४॥

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये वे तत्त्वार्थ हैं। इनमें जीव दो प्रकारके कहे गये हैं। इनका स्वरूप आगे कहा जानेवाला है ॥६३॥

आगे वे दो प्रकारके जीव कौनसे हैं, इसका निर्देश किया जाता है—

जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और मुक्त। इनमें संसारी जीव संक्षेपमें पृथिवीकायिकको आदि लेकर त्रसकाय पर्यन्त पृथक्-पृथक् भेदवाले छह प्रकारके हैं।

विवेचन—यहाँ जीवोंके सामान्यसे दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—संसारी और मुक्त। जन्म और मरणका नाम संसार है। जो जीव निरन्तर जन्म और मरणको प्राप्त होते हुए तिर्यंच, मनुष्य, नारक और देव भवोंका अनुभव किया करते हैं उन्हें संसारी कहा जाता है। इसके विपरीत जो जीव समस्त ज्ञानावरणादि कर्मोंसे रहित होकर उस जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो चुके हैं वे मुक्त—सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। उनमें यहाँ जातिकी अपेक्षा संसारी जीवोंके छह भेद कहे गये हैं—पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। इस प्रकारसे यहाँ सामान्यसे संसारी जीवोंके छह भेदोंका निर्देश करके उनमें स्थावर जीव कौन हैं और त्रस कौन हैं, इसे स्पष्ट नहीं किया गया। उनके विषयमें कुछ मतभेद रहा है। यथा—तत्त्वार्थभाष्यसम्मत सूत्रपाठके अनुसार जहाँ तत्त्वार्थसूत्र (२, १३-१४)में पृथिवी, अम्बु और वनस्पति इनको स्थावर तथा तेज, वायु और द्वीन्द्रिय आदि जीवोंको त्रस कहा गया है वहाँ उसी तत्त्वार्थसूत्र (२, १३-१४) में सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठके अनुसार पृथिवी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति इनको स्थावर तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवोंको त्रस कहा गया है। प्रकृत तत्त्वार्थसूत्र व उसके भाष्यमें उन दोनोंके स्वरूपका कोई निर्देश नहीं किया गया है। सर्वार्थसिद्धि (२, १३-१४) में त्रस व स्थावर जीवोके स्वरूपका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि जो जीव त्रस नामकर्मके वशीभूत हैं वे त्रस और जो स्थावर नामकर्मके वशीभूत हैं वे स्थावर कहलाते हैं। इन नामकर्मोंके भी स्वरूपको दिखलाते हुए यही कहा गया है कि जिसके उदयसे द्वीन्द्रिय आदि जीवोंमें जन्म होता है उसे त्रस नामकर्म और जिसके उदयसे एकेन्द्रिय जीवोंमें जन्म होता है उसे स्थावर नामकर्म कहा जाता है। लगभग यही अभिप्राय तत्त्वार्थवार्तिककारका भी रहा है (२, १२, १ व ३ तथा ८, ११, २१-२२)। इन दोनों ग्रन्थोंमें इस मान्यताका निषेध किया गया है कि जो जीव चलते हैं वे त्रस और जो स्थानशील—गमनक्रियासे रहित—होते हैं वे स्थावर कहलाते हैं। इसका कारण वहाँ आगमका विरोध बतलाया गया है। इसे स्पष्ट करते हुए वहाँ यह कहा गया है कि आगममें कायमार्गणाके द्वीन्द्रियसे लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त त्रस जीवोंका अस्तित्व कहा गया है। तत्त्वार्थवार्तिक (२, १२, २-५) में

---

१. अ तथोक्तं ।

संसारिण एव प्रतिपादयन् द्वारगाथामाह—

भव्वाहारगपज्जत्तसुक्कसोवक्कमाउया चेव ।
सप्पडिपक्खा एए भणिया कमद्दमहणेहिं ॥६५॥

त्रस्त—'उद्वेगके वश—होकर अन्यत्र गमन करनेवालोंको त्रस कहना चाहिए' इस शंकाका समाधान करते हुए कहा गया है कि वैसा माननेपर जो जीव गर्भमें स्थित हैं, अण्डज हैं, मूर्छित हैं अथवा सोये हुए हैं; इत्यादिके बाह्य भयके निमित्तके उपस्थित होनेपर गमन क्रिया चूँकि सम्भव नहीं है, अतएव उनके अत्रसत्व (त्रसभिन्नता) का प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होगा। इसी प्रकार स्थानशील—एक ही स्थानपर स्वभावतः स्थित रहनेवाले—जीवोंको स्थावर मान लेनेपर वायु, तेज और जल इनका देशान्तरमें गमन देखे जानेसे उनके अस्थावरत्व (स्थावरभिन्नता) का प्रसंग भी दुर्निवार होगा। इसपर यदि यह कहा जाये कि वायु आदिके अस्थावरता तो अभीष्ट ही है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस अवस्थामें उनके आगमको अनभिज्ञता प्रकट होती है। इसका कारण यह है कि सत्प्ररूपणामें कायानुवादसे द्वीन्द्रियसे लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त त्रस जीवोंका सद्भाव कहा गया है, ऐसी आगमकी व्यवस्था है। वह सत्प्ररूपणाका सूत्र इस प्रकार है—

तसकाइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलित्ति। षट्खण्डागम १, १, ४४—प्र. १, पृ. २७५।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके आधारसे तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (२-१२) के टीकाकार सिद्धसेन गणिका भी यही अभिप्राय रहा है कि त्रस नामकर्मके उदयसे जीव त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे जीव स्थावर होते हैं। इस प्रकारसे उन्होंने पृथिवी आदि पाँचोंको ही स्थावर माना है।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (८-१२) में त्रस व स्थावर नामकर्मोंके प्रसंगमें इतना कहा गया है कि जो कर्म त्रस पर्यायका निवर्तक है उसे त्रस नामकर्म और जो स्थावर पर्यायका निवर्तक है उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं। वहाँ त्रस और स्थावर पर्यायका कुछ स्पष्टीकरण नहीं किया गया।

योगशास्त्रके स्वो. विवरण (१-१६) में भूमि, अप्, तेज, वायु और महीरुह (वनस्पति) इन एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहा गया है। इसी प्रकार प्रज्ञापनाकी मलयगिरि विरचित वृत्ति (२९३, पृ. ४७४) में स्थावर नामकर्मके स्वरूपका निर्देश करते हुए कहा गया है कि जिसके उदयसे उष्णतासे सन्तप्त होनेपर भी उस स्थानके छोड़नेमें असमर्थ पृथिवी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति जीव हुआ करते हैं वह स्थावर नामकर्म कहलाता है। जीवाभिगम सूत्रकी मलयगिरि विरचित वृत्ति (९, पृ. ९) में त्रस जीवोंके स्वरूपको दिखलाते हुए कहा गया है कि जो उष्ण आदिसे सन्तप्त होते हुए विवक्षित स्थानसे त्रस्त—उद्विग्न होकर छाया आदिके आसेवनार्थ स्थानान्तरको जाते हैं वे त्रस कहलाते हैं। इस व्युत्पत्तिसे त्रस नामकर्मके उदयके वशवर्ती जीव ही त्रसरूपसे ग्रहण किये जाते है, शेष—स्थावर नामकर्मके उदयके वशवर्ती जीव नहीं ॥६४॥

अब आगेकी गाथामें उन दस द्वारोंका निर्देश किया जाता है जिनके द्वारा प्रकृत संसारी जीवोंकी यथा-क्रमसे प्ररूपणा की जानेवाली है—

भव्या आहारकाः पर्याप्ताः, शुक्ला इति शुक्लपाक्षिकाः, सोपक्रमायुषश्चैव सप्रतिपक्षा एते भणिताः। तद्यथा—भव्याश्चाभव्याश्चाहारकाश्चेत्यादि। कैर्भणिता इत्याह। अष्टकर्ममथनैः तीर्थंकरैरिति गाथाक्षरार्थः॥ भावार्थं तु स्वयमेव वक्ष्यति॥६५॥

तत्राद्यद्वारमाह—

भव्वा जिणेहि भणिया इह खलु जे सिद्धिगमणजोगाउ[1]।
ते पुण अणाइपरिणामभावओ हुंति नायव्वा॥६६॥

भव्या जिनैर्भणिता इह खलु ये सिद्धिगमनयोग्यास्तु—इह लोके य एव सिद्धिगमनयोग्याः खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् तुशब्दोऽप्येवकारार्थः—योग्या एव। न तु सर्वे सिद्धिगामिन एव। यथोक्तम् "भव्वा वि न सिज्झिस्सन्ति केइ" इत्यादि। भव्यत्वे निबन्धनमाह—ते पुनरनादिपरिणामभावतो भवन्ति ज्ञातव्याः। अनादिपारिणामिकभव्यभावयोगाद् भव्या इति॥६६॥

विवरीया उ अभव्वा न कयाइ भवन्नवस्स ते पारं।
गच्छिसु जंति व तहा तत्तु च्चिय भावओ नवरं॥६७॥

विपरीतास्त्वभव्याः। तदेव विपरीतत्वमाह—न कदाचिद्भवार्णवस्य संसारसमुद्रस्य ते पारं पर्यन्तं गतवन्तो यान्ति वा, वाशब्दस्य विकल्पार्थत्वात् यास्यन्ति वा। तथेति कुतो निमित्ता-

---

आठ कर्मोंको निर्मूल कर देनेवाले तीर्थंकरोंके द्वारा ये संसारी जीव यथाक्रमसे अपने प्रतिपक्ष—अभव्य, अनाहारक, अपर्याप्त, कृष्णपाक्षिक और निरुपक्रमायु—के साथ भव्य, आहारक, पर्याप्त, शुक्ल (शुक्लपाक्षिक) और सोपक्रमायुके भेदसे दस प्रकारके कहे गये हैं॥६५॥

आगे भव्यत्व द्वारका निरूपण करते हुए प्रथमतः भव्योंका स्वरूप निर्दिष्ट किया जाता है—

यहाँ लोकमें जो जीव सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करनेके योग्य हैं उन्हें जिन भगवान्ने भव्य कहा है। वे अनादि पारिणामिक भावसे भव्य होते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

विवेचन—जिन जीवोंमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको प्रकट करके मोक्ष करनेकी योग्यता है उन्हें भव्य कहा जाता है। वे अनादि पारिणामिक भावभूत भव्यत्वके आश्रयसे भव्य होते हैं, न कि किसी कर्मके उदयादिकी अपेक्षा। यहाँ गाथामें उपयुक्त 'खलु' और 'तु' शब्द अवधारणार्थक हैं। इससे यह समझना चाहिए कि जो मुक्ति गमनके योग्य ही होते हैं उन्हें यहाँ भव्य कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि मुक्ति गमनके योग्य उन भव्योंमें सभी मुक्तिको जाननेवाले नहीं हैं। आगममें भी यह कहा गया है कि मुक्ति प्राप्त करने योग्य होते हुए कुछ भव्य भी उस मुक्तिको प्राप्त नहीं करेंगे॥६६॥

अब अभव्योंका स्वरूप कहा जाता है—

पूर्वोक्त भव्योंसे विपरीत अभव्य हैं। वे कभी संसाररूप समुद्रके पार न गये हैं और न जाते हैं। भव्योंके समान वे अभव्य भी उसी भावसे—अनादि पारिणामिक अभव्यत्व भावसे—होते हैं।

विवेचन—जिन जीवोंमें मुक्ति प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है वे अभव्य कहलाते हैं। वैसी योग्यता न होनेसे वे तीनों कालोंमें कभी भी मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकते। गाथामें यद्यपि मुक्ति प्राप्त न करनेके विषयमें अतीत और वर्तमान कालका ही निर्देश किया गया है, फिर भी उसमें प्रयुक्त विकल्पार्थक 'वा' शब्दसे भविष्यत् कालकी भी सूचना कर दी गयी है। इससे यही समझना

---

१. अ जोगो उ।

विति आह—सत एव भावात् तस्मादेव अनादिपारिणामिकाद्भव्यत्वभावादिति भावः। नवरमिति साभिप्रायकम्, अभिप्रायश्च नवरमेतावता वैपरीत्यमिति ॥६७॥

भव्यद्वारानन्तरमाहारकद्वारमाह—

विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥६८॥

विग्रहगतिमापन्ना अपान्तरालगतिवृत्तय इत्यर्थः। केवलिनः समवहताः समुद्घातं गताः। अयोगिनश्च केवलिन एव शैलेश्यवस्थायामिति। सिद्धाश्च मुक्तिभाजः। एतेऽनाहारकाः, ओजआहाराणामन्यतमेनाप्यमी नाहारयन्तीत्यर्थः। शेषा उक्तविलक्षणाः। आहारका जीवा ओज-लोम-प्रक्षेपाहाराणां यथासंभवं येन केनचिदाहारेणेति ॥६८॥ तेऽपि यावन्तं कालमनाहारकाः तांस्तथाभिधातुकाम आह—

चाहिए कि अभव्य जीव उस प्रकारकी योग्यता न होनेसे तीनों ही कालोंमें कभी मुक्त नहीं हो सकते, उनका संसार अनादि अनन्त है ॥६७॥

आगे कौन जीव आहारक होते हैं और कौन अनाहारक, इसे स्पष्ट किया जाता है—

विग्रहगतिको प्राप्त, समुद्घातगत केवली, अयोगिकेवली और सिद्ध जीव ये अनाहारक होते हैं। शेष सब जीव आहारक होते हैं।

विवेचन—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों तथा छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलपिण्डका नाम आहार है। जो जीव इस आहारको ग्रहण करते हैं वे आहारक और जो उसे नहीं ग्रहण करते हैं वे अनाहारक कहलाते हैं। विग्रहका अर्थ शरीर है, शरीरके लिए—पूर्व शरीरको छोड़कर नवीन शरीर धारण करनेके लिए जो जीवकी गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। अथवा विग्रहका अर्थ मोड़ भी होता है, इस मोड़से युक्त या उसकी प्रधानतासे जो गति होती है उसे विग्रहगति जानना चाहिए। इस विग्रहगतिमें वर्तमान जीव उस आहारको नहीं ग्रहण करते हैं। दण्ड, कपाट, प्रतर (मन्थ) और लोकपूरणके भेदसे केवलिसमुद्घात चार प्रकारका है। उनमें प्रतर, लोकपूरण और पुनःप्रतर (लौटते हुए) इनमें वर्तमान सयोगिकेवली प्रकृत समुद्घातके तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें आहारको ग्रहण नहीं करते। शैलेश्य-शैलेश (मेरु पर्वत) के समान निश्चलता—अवस्थाको प्राप्त अयोगिकेवली और सिद्ध परमात्मा भी उक्त आहारको नहीं ग्रहण किया करते हैं। इनको छोड़कर शेष सब जीव ओज, लोम और प्रक्षेप इन आहारोंमें-से यथासम्भव किसी आहारके ग्रहण करनेके कारण आहारक होते हैं। जिस प्रकार अतिशय तपे हुए बर्तनको पानीमें डालनेपर वह सब प्रदेशोंके द्वारा पानीको ग्रहण किया करता है, अथवा तपे हुए घीमें प्रथम समयमें छोड़ा गया अपूप (पुआ) जिस प्रकार सब प्रदेशोंसे घीको ग्रहण किया करता है, उसी प्रकार अपर्याप्त अवस्थामें प्रथमोत्पत्तिके समय जीव अन्तर्मुहूर्त काल तक कार्मण शरीरके द्वारा जो सब प्रदेशोंसे पुद्गलोंको ग्रहण किया करता है; इसका नाम ओज आहार है। शरीर पर्याप्तिके पश्चात् जीव बाहरी चमड़ीसे रोमोंके द्वारा जिस आहार (पुद्गल-पिण्ड) को ग्रहण किया करता है उसे लोमाहार कहा जाता है। कवल (ग्रास) के रूपमें जिस भोजन-पान आदिका मुखके भीतर प्रक्षेप किया जाता है वह प्रक्षेपाहार या कवलाहार कहलाता है। उपर्युक्त विग्रहगतिमें वर्तमान आदि चार प्रकारके जीवोंको छोड़कर अन्य सब जीव इन तीन प्रकारके आहारोंमें-से किसी न किसी आहारको ग्रहण किया करते हैं, इसीसे उन्हें आहारक कहा जाता है ॥६८॥

एगाइ तिन्निसमया तिन्नेवऽन्तोमुहुत्तमित्तं[1] च ।
साई अपज्जवसियं कालमणाहारगा[2] कमसो ॥६९॥

एकाद्यांस्त्रीन् समयान् विग्रहगतिमापन्ना अनाहारकाः । उक्तं च—एकं द्वौ वानाहारकः इति । वाशब्दास्त्रिसमयग्रहः । त्रीनेव समयाननाहारकाः समुद्घाते केवलिनः । यथोक्तम्—

कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।
समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥१॥

अन्तर्मुहूर्तं चानाहारका अयोगिकेवलिनः, तत ऊर्ध्वमयोगिकेवलित्वाभावादपवर्गप्राप्तेः । साद्यपर्यवसितं कालमनाहारकाः सिद्धा व्यक्त्यपेक्षया तेषां सादित्वादपर्यवसितत्वाच्च । अत एवाह क्रमश एवंभूतेनैव क्रमेणेति गाथार्थः ॥६९॥

व्याख्यातमाहारकद्वारम्, सांप्रतं पर्याप्तकद्वारमाह—

नारयदेवा तिरिमणुय गब्भया जे असंखवासाऊ[3] ।
एए यँ[4] अपज्जत्ता उववाए चेव बोद्धव्वा ॥७०॥

नारकाश्च देवाश्च नारकदेवास्तथा तिर्यङ्मनुष्याः तिर्यञ्चश्च मनुष्याश्चेति विग्रहः । गर्भजा गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, संमूर्च्छिमव्यवच्छेदार्थमेतत् । ते च सङ्ख्येयवर्षायुषोऽपि भवन्ति, तद्व्यवच्छेदार्थमाह—येऽसङ्ख्येयवर्षायुष[5] इति । एते चापर्याप्ता आहार-शरीरेन्द्रिय-प्राणापान-भाषा-मनःपर्याप्तिभी रहिताः । उपपात एव उत्पद्यमानावस्थायामेव बोद्धव्या विज्ञेयाः, न तूत्तरकालं पर्याप्ता लब्धितोऽपीति ।

पूर्वगाथामें निर्दिष्ट विग्रहगतिको प्राप्त आदि वे जीव कितने समय तक अनाहारक रहते हैं, इसे आगेकी गाथा द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

वे क्रमसे एकको आदि लेकर तीन समय तक, तीन ही समय, अन्तर्मुहूर्त मात्र और सादि-अपर्यवसित काल अनाहारक रहते हैं ।

विवेचन—पूर्व गाथामें जिस क्रमसे अनाहारक जीवोंका निर्देश किया गया है, प्रकृत गाथामें उसी क्रमसे उनके अनाहारक कालका निर्देश किया गया है । तदनुसार यह अभिप्राय हुआ कि विग्रहगतिको प्राप्त जीव एक समय, दो समय अथवा तीन समय अनाहारक रहते हैं । इसकी पुष्टि "एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकाः" इस सूत्र (त. सू. २-३१) से भी होती है । प्रशमरति प्रकरण (२७५-७६) के अनुसार समुद्घातको प्राप्त केवली कार्मण काययोगसे युक्त होते हुए तीसरे, चौथे और पाँचवें इन तीन समयोंमें अनाहारक होते हैं । अयोगिकेवली अन्तर्मुहूर्त काल अनाहारक होते हैं, तत्पश्चात् वे मुक्तिको प्राप्त कर लेते हैं । सिद्ध (मुक्त) जीव मुक्त होनेके अनन्तर अनन्त-काल अनाहारक रहते हैं । इस प्रकार उनका अनाहारक रहनेका काल सादि अपर्यवसित है ॥६९॥

आगे पर्याप्तक द्वारकी प्ररूपणा करते हुए जो जीव उपपात कालमें ही अपर्याप्त होते हैं, उनका निर्देश करते हैं—

नारक, देव और असंख्येय वर्षायुष्क (भोगभूमिज) गर्भज तिर्यंच व मनुष्य ये उपपात कालमें ही—उत्पन्न होते समय अपर्याप्त होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥७०॥

---

१. अ तिन्निवि गुत्तोमुहुत्तमेतं वा । २. अ सादी अपज्जवसीयं काले मणाहारणा । ३. अ 'असंखवासाऊ' नास्ति । ४. अ 'य' नास्ति । ५. अतोऽग्रेऽग्रिमगाथायाष्टीकान्तर्गतः 'संख्येयवर्षायुषश्च' पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति ।

सेसा उ तिरियमणुया लद्धिं पप्पोववायकाले य ।
उभओ वि अ भइअव्वा पज्जत्तियरेत्ति जिणवयणं ॥७१॥

शेषास्तु तिर्यङ्मनुष्याः संमूर्छनजाः सङ्ख्येयवर्षायुषश्च गर्भजाः । किम् ? लब्धि प्राप्य पर्याप्तकलब्धिमधिकृत्य । उपपातकाले चोत्पद्यमानावस्थायां च । किम् ? उभयतोऽपि भाज्या विकल्पनीयाः पर्याप्तका इतरे वापर्याप्तकाः । एतदुक्तं भवति—लब्धितोऽपि पर्याप्ता अपर्याप्तका अपि भवन्ति । उपपातावस्थायां त्वपर्याप्तका एव । इति जिनवचनं इत्येष आगम इति ॥७०-७१॥

व्याख्यातं पर्याप्तकद्वारं, तदनन्तरं शुक्लपाक्षिकद्वारमाह—

जेसिमवड्ढोपुग्गलपरियट्टो सेसओ उ संसारो ।
ते सुक्कपक्खिओ खलु अहिए पुण किन्हपक्खीया ॥७२॥

येषामुपार्धपुद्गलपरावर्त एव शेषः संसारस्तत ऊर्ध्वं सेत्स्यन्ति ते शुक्लपाक्षिकाः क्षीणप्रायसंसाराः । खलुशब्दो विशेषणार्थः—प्राप्तदर्शना वा अप्राप्तदर्शना वा सन्तीति विशेषयति । अधिके पुनरुपार्धपुद्गलपरावर्ते संसारे कृष्णपाक्षिकाः, क्रूरकर्माण इत्यर्थः । पुद्गलपरावर्तो नाम त्रैलोक्य-

अब उन शेष जीवोंका निर्देश किया जाता है जो लब्धिको प्राप्त होकर और उपपात कालमें भी पर्याप्त व अपर्याप्त होते हैं—

शेष—सम्मूर्छन जन्मवाले और संख्येय वर्षायुष्क—तिर्यंच व मनुष्य लब्धिको प्राप्त करके और उत्पत्तिकालमें भी पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों रूपोंमें विकल्पके योग्य हैं—वे कदाचित् पर्याप्त भी होते हैं व कदाचित् अपर्याप्त भी होते हैं, ऐसा आगम वचन है।

विवेचन—जो जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय, प्राणापान, भाषा और मन इन पर्याप्तियोंसे रहित होते हैं वे अपर्याप्त तथा जो यथासम्भव उनसे सहित होते हैं वे पर्याप्त कहलाते हैं। नारक, देव और असंख्यात वर्षकी आयुवाले (भोगभूमिज) तिर्यंच व मनुष्य ये उत्पन्न होनेके समयमें ही अन्तर्मूहूर्त काल तक अपर्याप्त (निर्वृत्यपर्याप्त) होते हैं, तत्पश्चात् वे उक्त पर्याप्तियोंसे पूर्ण होकर पर्याप्त हो जाते हैं। उपर्युक्त देवादिकोंको छोड़कर शेष रहे सम्मूर्छन जन्मवाले तथा संख्यात वर्षकी आयुवाले (कर्मभूमिज) गर्भज तिर्यंच और मनुष्य ये उत्पत्तिकालमें तो अपर्याप्त ही होते हैं, पर पर्याप्तकलब्धिकी अपेक्षा वे पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं—उनमेंसे कितने ही जन्म ग्रहणके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें अपने योग्य पर्याप्तियोंको पूरा करके पर्याप्त हो जाते हैं और कितने ही मरणको प्राप्त होते हुए उन पर्याप्तियोंको पूर्ण न कर सकनेके कारण अपर्याप्त (लब्ध्यपर्याप्त) ही बने रहते हैं ॥७०-७१॥

आगे शुक्लपाक्षिक द्वारका निरूपण करते हुए शुक्लपाक्षिक व कृष्णपाक्षिक जीवोंका स्वरूप कहा जाता है—

जिनका संसार उपार्धपुद्गलपरावर्त मात्र शेष रहा है वे शुक्लपाक्षिक और जिनका संसार उससे अधिक शेष रहा है वे कृष्णपाक्षिक कहलाते हैं।

विवेचन—तीनों लोकोंमें अवस्थित समस्त पुद्गलोंको औदारिक आदि शरीरोंके रूपसे ग्रहण कर लेनेमें जितना काल बीतता है उतने कालका नाम पुद्गलपरावर्त है। अर्धपुद्गल परावर्तसे कुछ कम कालको उपार्धपुद्गल परावर्त कहा जाता है। जिन जीवोंका संसार प्रायः

१. अ जेसि अवढो । २. अ सक्कुपक्षिया । ३. अ अहिगे पुण किण्हपक्खीउ ।

गतपुद्गलानामौदारिकादिप्रकारेण ग्रहणम् । उपार्धपुद्गलपरावर्तस्तु किञ्चिन्न्यूनोऽर्धपुद्गलपरावर्त इति ॥७२॥

एतद्द्वारोपयोग्ये च वक्तव्यताशेषमाह—

पायमिह कूरकम्मा भवसिद्धिया वि दाहिणिल्लेसु ।
नेरइय-तिरिय-मणुया सुरा य ठाणेसु गच्छंति ॥७३॥

प्राय इह क्रूरकर्माणः, बाहुल्येनैतदेवमिति दर्शनार्थं प्रायोग्रहणम् । भवसिद्धिका अप्येकभवमोक्षयायिनोऽपि । दक्षिणेषु नारकतिर्यङ्मनुष्याः सुराश्च स्थानेषु गच्छन्ति । अत एवोक्तम्—"दाहिणदिसिगामिए किण्हपक्खिए नेरइए" इत्यादि । एतदुक्तं भवति—नरक-भवन-द्वीप-समुद्र-विमानेषु दक्षिणदिग्भागव्यवस्थितेषु कृष्णपाक्षिका नारकादय उत्पद्यन्त इति । आह—भारतादितीर्थंकरादिभिर्व्यभिचारः ? न, तेषां प्रायोग्रहणेन व्युदासादिति ॥७३॥

शुक्लपाक्षिकद्वारानन्तरं सोपक्रमायुर्द्वारमाह—

देवा नेरइया वा असंखवासाउआ य तिरि-मणुया ।
उत्तमपुरिसा[1] य तहा चरमसरीरा य निरुवकमा ॥७४॥

क्षयको प्राप्त होनेवाला है उनका नाम शुक्लपाक्षिक है । ऐसे शुक्लपाक्षिक जीव, चाहे सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर चुके हैं अथवा उसे न भी प्राप्त किया हो, अधिकसे अधिक कुछ कम अर्धपुद्गलपरावर्तकाल तक ही संसारमें रहते हैं, तत्पश्चात् वे नियमसे मुक्तिको प्राप्त कर लेते हैं । इनके विपरीत जो अतिशय क्रूर कर्म करनेवाले जीव हैं उन्हें कृष्णपाक्षिक कहा जाता है । उनके संसार-परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गलपरावर्तसे अधिक होता है ॥७२॥

आगे कृष्णपाक्षिक जीवोंके उत्पत्तिस्थानका निर्देश किया जाता है—

भवसिद्धिक होते हुए भी जो नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव प्रायः क्रूर कर्म करनेवाले होते हैं वे दक्षिण स्थानोंमें जाते हैं ।

विवेचन—इसका अभिप्राय यह है कि प्रायः क्रूर कर्म करनेवाले नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवोंमें यदि एक भवमें मोक्षगामी भी हों तो भी वे दक्षिण दिशाभागमें अवस्थित नारकबिलों, भवनवासी देवोंके भवनों, द्वीपों, समुद्रों और विमानोंमें उत्पन्न हुआ करते हैं । यहाँ यह शंका हो सकती थी कि द्वीपके दक्षिण दिशागत भरत क्षेत्रादिमें तो तीर्थंकर आदि भी उत्पन्न होते हैं, पर वे क्रूर कर्म करनेवाले नहीं होते; अतः यह कहना ठीक नहीं है कि दक्षिणदिशागत स्थानोंमें क्रूर कर्म करनेवाले जीव उत्पन्न होते हैं । इस शंकाको लक्ष्यमें रखते हुए गाथामें 'प्रायः' शब्दको ग्रहण किया गया है । उसका अभिप्राय है कि अधिकांशमें क्रूर कर्म करनेवाले जीव उन स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं । इससे प्रकृतमें उत्तम प्रवृत्ति करनेवाले उन तीर्थंकरों आदिकी व्यावृत्ति हो जाती है ॥७३॥

अब क्रमप्राप्त सोपक्रमायु द्वारका निरूपण करते हुए निरुपक्रम कौन होते हैं, इसका निर्देश करते हैं—

देव, नारक, असंख्यातवर्षायुष्क तिर्यंच व मनुष्य, उत्तम पुरुष और चरमशरीरी ये सब जीव निरुपक्रमायुष्क होते हैं ।

---

१. मु पुरिहा ।

देवा नारकाश्चैते सामान्येनैव। असङ्ख्येयवर्षायुषश्च तिर्यङ्मनुष्या एतेन सङ्ख्येयवर्षायुषां व्यवच्छेदः। उत्तमपुरुषाश्चक्रवर्त्यादयो गृह्यन्ते। चरमशरीराश्चाविशेषेणैव तीर्थकरादयः। निरुपक्रमा इत्येते निरुपक्रमायुष एव अकालमरणरहिता इति ॥७४॥

सेसा संसारत्था भइया सोवक्कमा व इयरे वा।
सोवक्कम-निरुवक्कमभेओ भणिओ समासेणं ॥७५॥

शेषाः संसारस्था अनन्तरोदितव्यतिरिक्ताः संख्येयवर्षायुष अनुत्तमपुरुषा अचरमशरीराश्च। च एते भाज्या विकल्पनीयाः। कथम्? सोपक्रमा वा इतरे वा कदाचित् सोपक्रमाः कदाचिन्निरुपक्रमा उभयमप्येतेषु संभवतीति सोपक्रम-निरुपक्रमभेदो भणितः। समासेन संक्षेपेण, न तु कर्मभूमिजादिविभागविस्तरेणेति ॥७५॥

विवेचन—आयुके विघातक विष, अग्नि व शस्त्र आदिरूप कारणकलापका नाम उपक्रम है। इस उपक्रमसे जो जीवरहित होते है उन्हें निरुपक्रमायुष्क कहा जाता है। वैसे कारणकलापसे भी उनका कभी अकालमें मरण सम्भव नही है। गाथामें निर्दिष्ट देव आदि इसी प्रकारके जीव हैं, जिनका कभी अकालमें मरण सम्भव नही है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीप इन अढ़ाई द्वीपोंमें स्थित पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु, लवण और कालोद समुद्रोमे अवस्थित एकोरुक आदि मनुष्योंके निवासस्थानभूत अन्तरद्वीप, पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच रम्यक और पाँच हैरण्यवत इन अकर्मभूमियोंमें उत्पन्न होनेवाले, मनुष्य व तिर्यंच, अढाई द्वीपोंके आगे असंख्यात द्वीप-समुद्रोंमें अवस्थित तिर्यंच तथा पाँच भरत और पाँच ऐरावत रूप कर्मभूमियोके भीतर भी प्रथम, द्वितीय और तृतीय कालवर्ती मनुष्य व तिर्यंच ये सब असंख्यात वर्षका आयुवाले होते हैं जो नारकी और देवोंके समान कभी अकालमे मरणको प्राप्त नही होते। चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव ये उत्तम पुरुष माने जाते हैं। चरम शरीरसे अभिप्राय उस अन्तिम शरीरसे उसी भवमें मुक्तिको प्राप्त कर लेनेवाले जीवोंका है। चरमशरीरी उन्हे इसलिए कहा जाता है कि अब आगे उन्हें अन्य शरीर नही धारण करना पड़ेगा, यही उनका अन्तिम शरीर है जिससे वे मुक्तिको प्राप्त कर लेनेवाले हैं। टीकामें चरमशरीरियोंमे सामान्यसे तीर्थंकर आदिकोंको ग्रहण किया गया है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (२-५२) मे तीर्थंकरोका उत्तम पुरुषोंमे सम्मिलित किया गया है। साथ ही वहाँ चरमशरीरियोका सोपक्रमायु और निरुपक्रमायु दानो कहा गया है, जब कि प्रकृत गाथामे उत्तम पुरुष और चरमशरीरी दानोंको निरुपक्रम ही कहा गया है। यह गाथा मूल तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका अनुसरण करनेवाली प्रतीत होती है ॥७४॥

आगे उपर्युक्त देवादिकोंके अतिरिक्त शेष सब संसारी जीवोंमे दोनों प्रकारके होते हैं, इसे स्पष्ट किया जाता है—

उपर्युक्त देवादिकोंसे शेष रहे संसारी जीव—संख्यात वर्षको आयुवाले (कर्मभूमिज) मनुष्य व तिर्यंच, अनुत्तम पुरुष तथा अचरम शरीरी ये—सोपक्रम और निरुपक्रम दानोमे विकल्पनीय है - वे कदाचित् सोपक्रम (अकालमरणवाले) और कदाचित् निरुपक्रम भी होते है। इस प्रकार संक्षेपमें यहाँ सोपक्रम और निरुपक्रमका भेद कहा गया है ॥७५॥

१. अ कर्म्मभूनुजादि।

उक्तं सोपक्रमद्वारम्, तदभिधानाच्च संसारिणो जीवाः। सांप्रतं मुक्तानभिधित्सुराह—

मुत्ता अणेगभेया तित्थ-तित्थयर-तदियरा चेव।
सय-पत्तेयविबुद्धा बुद्धबोहिय सन्नगिहिलिंगे ॥७६॥

मुक्ताश्च सिद्धाः, ते चानेकभेदा अनेकप्रकाराः तीर्थतीर्थंकरतदितरे चेति, अनेन सूचनात्-सूत्रमिति कृत्वा तीर्थसिद्धा अतीर्थसिद्धास्तीर्थंकरसिद्धा अतीर्थंकरसिद्धाश्च गृह्यन्ते। तत्र तीर्थे सिद्धास्तीर्थसिद्धाः। तीर्थं पुनश्चातुर्वर्णः श्रमणसंघः प्रथमगणधरो वा। तथा चोक्तं—तित्थं भंते तित्थं तित्थगरे तित्थं गोयमा अरहं ताव नियमा तित्थंकरे तित्थं पुण चाउव्वन्नो समणसंघो पढमगणधरो वा इत्यादि। ततश्च तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धास्ते तीर्थसिद्धाः। अतीर्थे सिद्धा अतीर्थसिद्धास्तीर्थान्तरसिद्धा इत्यर्थः। श्रूयते च—जिणंतरे साहुवोच्छेउ त्ति। तत्रापि जातिस्मरणादिना अवाप्तापवर्गमार्गाः सिध्यन्ति एवम्, मरुदेवीप्रभृतयो वा अतीर्थसिद्धास्तदा तीर्थस्यानुत्पन्नत्वात्। अतीर्थंकरसिद्धा अन्ये सामान्यकेवलिनः। स्वयंप्रत्येकबुद्धा इत्यनेन स्वयंबुद्धसिद्धाः प्रत्येकबुद्ध-सिद्धाश्च गृह्यन्ते। तत्र स्वयंबुद्धसिद्धाः स्वयंबुद्धाः सन्तो ये सिद्धाः।[1] प्रत्येकबुद्धसिद्धाः प्रत्येकबुद्धा-स्सन्तो ये सिद्धा इति। अथ स्वयंबुद्ध-प्रत्येकबुद्धयोः कः प्रतिविशेष इति। उच्यते—बोध्युपधि-श्रुतलिङ्गकृतो विशेषः। तथाहि—स्वयंबुद्धा[2] बाह्यप्रत्ययमन्तरेणैव[3] बुध्यन्ते, प्रत्येकबुद्धास्तु न

इस प्रकार उपर्युक्त पाँच द्वारोंमे संसारी जीवोंकी प्ररूपणा करके अब मुक्त जीवोंका निरूपण किया जाता है—

मुक्त जीव अनेक प्रकारके हैं—तीर्थसिद्ध, तीर्थंकरसिद्ध, तदितरसिद्ध—अतीर्थसिद्ध व अतीर्थंकरसिद्ध, स्वयंबुद्धसिद्ध, प्रत्येकबुद्धसिद्ध, बुद्धबोधितसिद्ध, स्वलिंगसिद्ध, अन्यलिंगसिद्ध और गृहिलिंगसिद्ध।

विवेचन—जो जीव आठ प्रकारके कर्मरूप बन्धनसे छूट चुके हैं वे मुक्त कहलाते हैं। यह मुक्त जीवोंका सामान्य लक्षण है, इस सामान्य स्वरूपकी अपेक्षा उनमें परस्पर कुछ भेद नहीं है। पर सिद्धिके अन्य-अन्य कारणोंकी अपेक्षा उनमे कुछ भेद भी है। वह इस प्रकारसे—(१) **तीर्थसिद्ध**—जो किसी तीर्थंकरके तीर्थमे सिद्ध हुए हैं—आठ कर्मोंसे निर्मुक्त हुए है—वे तीर्थसिद्ध कहलाते हैं। तीर्थनाम चातुर्वर्ण श्रमणसंघ अथवा प्रथम गणधरका है। इस प्रकारके तीर्थके उत्पन्न होनेपर जो सिद्ध हुए है उन्हें तीर्थसिद्ध कहा जाता है। (२) **अतीर्थसिद्ध**—जो अतीर्थमे, तीर्थके अन्तरालमे, सिद्ध हुए हैं वे अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं। आगममे भी सुना जाता है कि जिनोंके अन्तरालमे साधुओंका व्युच्छेद—उनकी परम्पराका अभाव—हुआ है। इस प्रकारके अतीर्थमे जो जातिस्मरण आदिके आश्रयसे मोक्षमार्गको पाकर सिद्ध होते हैं उन्हें, अथवा मरुदेवी आदिके समान जो तीर्थके उत्पन्न होनेके पूर्व ही मुक्तिको प्राप्त हुए है उन्हे अतीर्थसिद्ध कहा जाता है। (३) **तीर्थंकरसिद्ध**—तीर्थंकरसिद्ध तीर्थंकर ही हुआ करते हैं। (४) **अतीर्थंकरसिद्ध**—तीर्थंकरसे भिन्न जो अन्य सामान्य केवली मुक्तिको प्राप्त हुए हैं वे अतीर्थंकरसिद्ध कहलाते हैं। (५) **स्वयंबुद्धसिद्ध**—जो स्वयं ही प्रबोधको प्राप्त होकर मुक्तिको प्राप्त होते हैं उन्हें स्वयंबुद्धसिद्ध कहा जाता है। (६) **प्रत्येकबुद्ध सिद्ध**—प्रत्येक बुद्ध होकर—एक अपनी आत्माके आश्रयसे—जो सिद्ध होते हैं वे प्रत्येकबुद्धसिद्ध कहलाते हैं। यहाँ शंका हो सकती है कि इस प्रकारका लक्षण करने पर स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्धमें क्या विशेषता रहेगी? इसके

१. अ अतोऽग्रे 'तथाहि—स्वयंबुद्धा' पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति। २. अ बुद्धा न बाह्य। ३. अ मंतरेणाव।

तद्विरहेण, श्रूयते च बाह्यप्रत्ययवृषभादिसव्यपेक्षा करकंड्वादीनां प्रत्येकबुद्धानां बोधिरिति। उपधिस्तु स्वयंबुद्धानां द्वादशविधः पात्रादिः, प्रत्येकबुद्धानां तु नवविधः प्रावरणवर्जः। स्वयंबुद्धानां पूर्वाधीतश्रुतेऽनियमः, प्रत्येकबुद्धानां नियमतो भवत्येव। लिङ्गप्रतिपत्तिः स्वयंबुद्धानामाचार्यसन्निधावपि भवति, प्रत्येकबुद्धानां तु देवता प्रयच्छतीत्यलं विस्तरेण। बुद्धबोधिता इति बुद्धबोधितसिद्धाः, बुद्धा आचार्यास्तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धास्ते इह गृह्यन्ते। स्वान्य-गृहिलिङ्गा इति स्वलिङ्गसिद्धा अन्यलिङ्गसिद्धा गृहिलिङ्गसिद्धाः। तत्र स्वलिङ्गसिद्धा द्रव्यलिङ्गं प्रति रजोहरण-गोच्छकधारिणः। अन्यलिङ्गसिद्धाः परिव्राजकादिलिङ्गसिद्धाः। गृहिलिङ्गसिद्धा मरुदेवीप्रभृतय इति ॥७६॥

इत्थीपुरिसनपुंसग एगाणेग तह समयभिन्ना य ।
एसो जीवसमासो इतो इयरं पवक्खामि ॥७७॥

एते च सर्वेऽपि केचित् स्त्रीलिङ्गसिद्धाः केचित् पुँल्लिङ्गसिद्धाः केचिन्नपुंसकलिङ्गसिद्धाः। आह—किं तीर्थंकरा अपि स्त्रीलिङ्गसिद्धा भवन्ति? भवन्तीत्याह—यत उक्तं सिद्धप्राभृते—सव्वत्थोवा तित्थगरिसिद्धा, तित्थगरितित्थे नोतित्थसिद्धा असङ्खेयगुणा, तित्थगरितित्थे णोतित्थगरिसिद्धाउ असङ्खेयगुणाउ तित्थगरितित्थे णोतित्थगरसिद्धा असङ्खेयगुणा इति। न

समाधानमें कहा गया है कि उन दोनोंमे बोधि, उपाधि, श्रुत और लिंग जनित विशेषता होती है। जैसे—स्वयंबुद्ध जहां बाह्य निमित्तके बिना ही प्रबोधको प्राप्त होते हैं, वहां प्रत्येकबुद्ध बिना बाह्य निमित्तके प्रबुद्ध नही होते, करकण्डु आदि प्रत्येकबुद्धोंके बोधिकी प्राप्ति बाह्य निमित्तभूत वृषभ आदिकी अपेक्षासे सुनी भी जाती है। उपधि जहां स्वयंबुद्धोंके पात्र आदि बारह प्रकारकी होती है वहां प्रत्येकबुद्धोके वह प्रावरणको छोड़कर नौ प्रकारकी होती है। स्वयंबुद्धोके पूर्व अधीत श्रुतके विषयमें कुछ नियम नहीं है, प्रत्येकबुद्धोंके वह नियमसे होता ही है। स्वयंबुद्धोंके लिंगकी प्रतिपत्ति आचार्यके समीपमें भी होती है, पर प्रत्येक बुद्धोंके लिए उसे देवता प्रदान करती है। इस प्रकार उन दोनोंमें भेद है ही। (७) **बुद्धबोधितसिद्ध**—जो बुद्धों (आचार्यों) से प्रबोधको प्राप्त होते हुए मुक्तिको प्राप्त हुए है उन्हे बुद्धबोधितसिद्ध कहा जाता है। (८) **स्वलिंगसिद्ध**—जो द्रव्यलिंगकी अपेक्षा रजोहरण और गोच्छक (पात्र पोंछनेका वस्त्रखण्ड) को धारण करते हुए मुक्त हुए हैं उन्हे स्वलिंगसिद्ध जानना चाहिए। (९) **अन्यलिंगसिद्ध**—जो परिव्राजक आदि अन्य साधुओंके वेषको धारण करते हुए सिद्धिको प्राप्त हुए है वे अन्यलिंगसिद्ध कहलाते है। (१०) जो गृहस्थके वेषमें मुक्त हुए हैं उन्हें गृहिलिंगसिद्ध कहा जाता है - जैसे मरुदेवी आदि ॥७६॥

आगे उपर्युक्त सभी मुक्त जीवोंका कुछ अन्य भी विशेषताओंको प्रकट किया जाता है—

उनमे कुछ स्त्रीलिंगसिद्ध, पुरुषलिंगसिद्ध व नपुंसकलिंगसिद्ध, कुछ एकसिद्ध व अनेकसिद्ध तथा समय भिन्न - कुछ प्रथमसमयसिद्ध व अप्रथमसमयसिद्ध; इस प्रकारसे भी उनमें भेद है। इस प्रकार जीवोंका यह संक्षेप है। आगे अजीव समासको कहता हूं।

विवेचन—इन सब मुक्त जीवोंमे कुछ स्त्रीलिंगसे सिद्ध हुए है, कुछ पुल्लिंगसे सिद्ध हुए हैं और कुछ नपुंसकलिंगसे सिद्ध हुए हैं। यहां शंका की जा सकती है कि तीर्थंकर भी क्या स्त्रीलिंगसे सिद्ध होते हैं? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि हां, तीर्थंकर भी स्त्रीलिंगसे सिद्ध होते है। कारण यह कि सिद्धप्राभृतमें सिद्धोके अल्पबहुत्वके प्रसंगमें ऐसा कहा गया है—तीर्थंकरीसिद्ध सबसे

१. अ °सो एत्तो इयं प। २. अ केचिन्नपुंसगसिद्धा प्रहिलिंगसिद्धा इत्याह किं। ३. अ असंखेज्जगुणा।

नपुंसकलिङ्गे सिद्धाः। प्रत्येकबुद्धास्तु पुंलिङ्ग एव। एकानेक इति—एकसिद्धा अनेकसिद्धाश्च[1]। तत्रैकसिद्धा एकस्मिन् समये एक एव सिद्धः। अनेकसिद्धा एकस्मिन् समये द्व्यादयो यावदष्टशतं सिद्धमिति। उक्तं च—

बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोधव्वा।
चुलसीई छन्नउइ दुरहिय अट्ठुत्तरसयं च॥

तथा समयभिन्नाश्चेति—प्रथमसमयसिद्धा अप्रथमसमयसिद्धा इत्यादि। तत्र अप्रथमसमयसिद्धाः परस्परसिद्धिविशेषणप्रथमसमयवर्तिनः सिद्धत्वद्वितीयसमयवर्तिन इत्यर्थः, त्र्यादिषु तु द्विसमयसिद्धादयः प्रोच्यन्ते। यद्वा सामान्येन प्रथमसमयसिद्धाभिधानं[2] विशेषतो द्विसमयादिसिद्धाभिधानमिति। आह—तीर्थातीर्थसिद्धभेदद्वय एवान्तर्भावादलं शेषभेदैरिति, न आद्यभेदद्वयादेवोत्तरभेदाप्रतिपत्तेः, शिष्यमतिविकाशार्थश्च शास्त्रारम्भ इति। एष उक्तलक्षणो जीवसमासो जीवसंक्षेप, उक्त इति वाक्यशेषः। अत ऊर्ध्वमजीवसमासं प्रवक्ष्यामीति गाथार्थः॥७७॥

धम्माधम्मागासा पुग्गल चउहा अजीव मो एए[3]।
गइठिइअवगाहेहिं फासाईहिं च गम्मंति॥७८॥

अल्प हैं, तीर्थंकरीतीर्थमें नोतीर्थसिद्ध उनसे असंख्यातगुणे हैं, तीर्थंकरीतीर्थमें नोतीर्थंकरीसिद्ध उनसे असंख्यातगुणे हैं, तीर्थंकरीतीर्थमें नोतीर्थंकरसिद्ध उनसे असंख्यातगुणे हैं। इससे सिद्ध है कि तीर्थंकरीके रूपमें स्त्रीलिंगसे भी सिद्ध होते हैं व उनका तीर्थ भी चलता है। उन्हीं मुक्त जीवोंमें कितने ही एकसिद्ध व कितने ही अनेकसिद्ध होते हैं—एक समयमें जो एक ही सिद्ध होता है उसे एकसिद्ध तथा एक समयमें जो दोको आदि लेकर एक सौ आठ तक सिद्ध होते हैं उन्हें अनेकसिद्ध कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि सिद्धिगमनमें जब अधिकसे अधिक छह मासका अन्तर होता है तब शेष आठ समयोंमें छह सौ आठ जीव निरन्तर सिद्ध होते हैं। वे इस प्रकारसे—प्रथम समयमें बत्तीस, द्वितीय समयमें अड़तालीस, तृतीय समयमें साठ, चतुर्थ समयमें बहत्तर, पाँचवें समयमें चौरासी, छठे समयमें छियानबे, सातवें समयमें एक सौ आठ और आठवें समयमें एक सौ आठ (३२ + ४८ + ६० + ७२ + ८४ + ९६ + १०८ + १०८ = ६०८)। यहाँ अन्तमें ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकारसे जीव तत्त्वका संक्षेपमें निरूपण किया गया है (६३-७७)। आगे अजीव तत्त्वका वर्णन किया जाता है। साक्षात् सिद्धिकी अपेक्षा प्रथमसमयसिद्ध कहलाते हैं तथा परम्परासिद्धिकी अपेक्षा सिद्ध होनेके द्वितीय आदि समयवर्ती जीवोंको अप्रथमसमयसिद्ध कहा जाता है। अथवा सामान्यसे प्रथमसमयसिद्ध और विशेषरूपसे द्वितीयादि समयसिद्ध कहा गया है, यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए। यहाँ शंका उपस्थित होती है कि जब उपर्युक्त मुक्त जीवोंका अन्तर्भाव तीर्थसिद्ध और अतीर्थसिद्ध इन दो प्रथम भेदोंमें ही होता था तब शेष भेदोंका निरूपण क्यों किया गया? उसका उत्तर यह है कि आदिके उन दो भेदोंसे आगेके भेदोंका ज्ञान नहीं हो सकता था तथा शास्त्रका आरम्भ शिष्योंकी बुद्धिके विकासके लिए किया जाता है। इसीलिए उनका पृथक्से कथन किया गया है॥७७॥

अब कृत प्रतिज्ञाके अनुसार अजीव तत्त्वका व्याख्यान करते हुए धर्माधर्मादि चार अजीव द्रव्योंका परिचय कराया जाता है—

---

१. मु अनेकसिद्धाः। २. अ प्रथमसमयवर्त्तिनः सिद्धाभिधानं। ३. अ अजीवा ए चैते।

तत्र धर्माधर्माकाशा गति-स्थित्यवगाहैर्गम्यन्ते, पुद्गलाश्च स्पर्शादिभिः। असमासकरणं धर्मादीनां त्रयाणामप्यमूर्तत्वेन भिन्नजातीयख्यापनार्थम् । इत्येष गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु धर्मादिग्रहणेन पदैकदेशेऽपि पदप्रयोगदर्शनाद्धर्मास्तिकायादयो गृह्यन्ते । स्वरूपं चैतेषाम् –

जीवानां पुद्गलानां च गत्युपष्टम्भकारणम् ।
धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥
जीवानां पुद्गलानां च स्थित्युपष्टम्भकारणम् ।
अधर्मः पुरुषस्येव तिष्ठासोरवनिस्समा ॥
जीवानां पुद्गलानां च धर्माधर्मास्तिकाययोः ।
बादरापां घटो यद्वदाकाशमवकाशदम् ॥
स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दा मूर्तस्वभावकाः ।
संघातभेदनिष्पन्नाः पुद्गला जिनदेशिताः ॥

इति कृतं विस्तरेण ॥७८॥

उक्ता अजीवाः सांप्रतमास्रवद्वारमाह –

काय-वय-मणोकिरिया जोगो सो आसवो सुहो सो अ ।
पुन्नस्स मुणेयव्वो विवरीओ होइ पावस्स ॥७९॥

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इस प्रकारसे अजीव चार प्रकारका है। ये धर्मादि अजीव यथाक्रमसे गति, स्थिति, अवगाह और स्पर्श आदिकोंसे जाने जाते हैं।

विवेचन—गाथामें उपयुक्त धर्म आदि शब्दोंसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकायको ग्रहण करना चाहिए। कारण यह कि पदके एक देशमें भी पदका प्रयोग देखा जाता है। धर्मास्तिकायका परिज्ञान जीव-पुद्गलोंकी गतिसे, अधर्मास्तिकायका उनकी स्थितिसे, आकाशका उनके अवगाहनसे तथा पुद्गलोंका स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णके द्वारा होता है। यहाँ गाथामें धर्म, अधर्म और आकाश इन पदोंके मध्यमें द्वन्द्व समास करके भी जो पुद्गल शब्दको पृथक् रखा गया है—उसके साथ समास नहीं किया गया है। उससे यह सूचित किया गया है कि उक्त धर्मादि तीन अमूर्त अस्तिकाय उस मूर्त पुद्गल अस्तिकायसे भिन्न है। उनका स्वरूप इस प्रकार है—जिस प्रकार चक्षु इन्द्रियसे युक्त प्राणीके लिए पदार्थोंके देखनेमें दीपक उदासीन कारण होता है उसी प्रकार जो गतिपरिणत जीवों और पुद्गलोंके गमनमें अप्रेरक कारण होता है उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। इसी प्रकार जैसे ठहरनेके इच्छुक पुरुषके लिए पृथिवी अप्रेरक कारण होती है वैसे ही जो स्थितिपरिणत जीवों व पुद्गलोंके स्थित होनेमें अप्रेरक कारण होता है उसका नाम अधर्मास्तिकाय है। जिस प्रकार घड़ा स्थूल जलको स्थान दिया करता है उसी प्रकार जो जीवों, पुद्गलों तथा धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको स्थान देता है वह आकाश कहलाता है। जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दसे युक्त होते हुए मूर्त स्वभावके धारक होकर संघात, भेद और संघात-भेदसे उत्पन्न होते हैं उन्हें जिन देवने पुद्गल कहा है ॥७८॥

आगे क्रमप्राप्त आस्रव तत्त्वका स्वरूप कहा जाता है—

काय, वचन और मनकी क्रियाका नाम योग है। इस योगको आस्रव कहा जाता है। पुण्य कर्मके उस आस्रवको शुभ और पापके उस आस्रवको विपरीत (अशुभ) जानना चाहिए।

कायवाङ्मनःक्रिया योगः क्रिया कर्म—व्यापार इत्यनर्थान्तरम्। युज्यत इति योगः, युज्यते वानेन करणभूतेनात्मा[1] कर्मणेति योगो व्यापार एव। स आस्रवः, आस्रवत्यनेन कर्मेत्यास्रवः सरःसलिलावाहिस्रोतोवत्। शुभः स आस्रवः पुण्यस्य मुणितव्यो विपरीतो भवति पापस्येति। आत्मनि कर्माणुप्रवेशमात्रहेतुरास्रव इति ॥७९॥

उक्त आस्रवः, सांप्रतं बन्ध उच्यते[2]—

> सकषायत्ता जीवो जोगे कम्मस्स पुग्गले लेइ।
> सो बंधो पयइठिईअ[3]णुभागपएसभेओ ओ[4] ॥८०॥

कषायाः क्रोधादयः, सह कषायैः सकषायः, तद्भावः तस्मात् सकषायत्वाज्जीवो योग्यानुचितान्। कर्मणः ज्ञानावरणादेः। पुद्गलान् परमाणून्। लात्यादत्ते गृह्णातीत्यनर्थान्तरम्। स बन्धः—योऽसौ तथास्थित्या स्वादानविशेषः स बन्ध इत्युच्यते। स च प्रकृतिस्थित्यनुभाव-प्रदेशभेद एव भवति। प्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणादिप्रकृतिरूपः। स्थितिबन्धोऽस्यैव जघन्येतरा स्थितिः। अनुभावबन्धो यस्य यथायस्यां विपाकानुभवनमिति। प्रदेशबन्धस्त्वात्मप्रदेशैर्योगस्तथा कालेनैव विशिष्टविपाकरहितं वेदनमिति ॥८०॥

विवेचन—क्रियाका अर्थ व्यापार है। 'युज्यते अनेनेति योगः' इस निरुक्तिके अनुसार जीव जिस व्यापारके द्वारा कर्मसे सम्बद्ध होता है उस काय, वचन और मनके व्यापारका नाम योग है। इस योगको ही आस्रव कहा जाता है। कारण यह कि 'आस्रवति अनेन कर्म इति आस्रवः' इस निरुक्तिके अनुसार जिसके द्वारा तालाबमें पानीको लानेवाले स्रोतके समान आत्मामें कर्म आता है उसे आस्रव कहा जाता है। यह आस्रव शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें पुण्य कर्मका जो आस्रव होता है उसे शुभ और पाप कर्मका जो आस्रव होता है उसे अशुभ आस्रव कहते हैं। यह आस्रव केवल आत्मामें कर्मपरमाणुओंका प्रवेश कराता है ॥७९॥

आगे बन्ध तत्त्वका स्वरूप कहा जाता है—

कषाय सहित होनेके कारण जीव जो कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण किया करता है उसे बन्ध कहते हैं। वह प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका है।

विवेचन—जिस प्रकार सन्तप्त लोहेके गोलेको पानीमें डालनेपर वह सब ओरसे पानीको ग्रहण किया करता है उसी प्रकार क्रोधादि कषायोंसे सन्तप्त हुआ जीव जो सब ओरसे कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण किया करता है उसे बन्ध कहा जाता है। वह चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनमें ज्ञानावरणादि रूप स्वभावको लिये हुए जो कर्म पुद्गलोंका जीवके साथ सम्बन्ध होता है, इसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। ज्ञानावरणादि रूप उन पुद्गलोंके मूल व उत्तर प्रकृतियोंके रूपमें आत्माके साथ सम्बद्ध रहनेके उत्कृष्ट और जघन्य कालको स्थितिबन्ध कहा जाता है। उन्हीं कर्मपुद्गलोंमें जो हीनाधिक फलदान शक्तिका प्रादुर्भाव होता है, जिसे आगामी कालमें यथासमय भोगा जाता है, उसका नाम अनुभागबन्ध है। इन्हीं कर्मपरमाणुओंका आत्माके प्रदेशोंके साथ जो एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होता है तथा समयानुसार विशिष्ट विपाकसे रहित वेदन किया जाता है, यह प्रदेशबन्ध कहलाता है। उक्त चार प्रकारके बन्धमें प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगके आश्रयसे तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायके आश्रयसे हुआ करते हैं ॥८०॥

---

१. अ वानेन प्रकारेण भूतेनात्मा। २. अ बंधोभ्यते। ३. अ पयतिट्ठितिअणु। ४. अ भेउ उ।

उक्तो बन्ध इदानीं संवरमाह—

आसवनिरोह संवर समिईगुत्ताइएहि नायव्वो ।
कम्माणणुवायाणं भावत्थो होइ एयस्स[1] ॥८१॥

आश्रवनिरोधः संवरः—आश्रव उक्त एव, तन्निरोधः कात्स्न्येन निश्चयतः सर्वसंवर उच्यते । शेषो व्यवहारसंवर इति । स समिति-गुप्त्यादिभिर्ज्ञातव्यः । उक्तं च—स समितिगुप्ति-धर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः इत्यादि । कर्मणामनुपादानं भावार्थो भवत्येतस्य संवरस्य । इह यावानेवांशः कर्मणामनुपादानहेतुर्धर्मादीनां[2] तावानेवेह गृह्यते, शेषस्य तपस्येवान्तर्भावात् तस्य च प्रागुपात्तक्षयनिमित्तत्वादिति । अत्र बहु वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रत्वादारम्भस्येति ॥८१॥

उक्तः संवरः, सांप्रतं निर्जरोच्यते—

तवसा उ निज्जरा इह निज्जरणं खवणनासमेगट्ठा ।
कम्माभावापायणमिह निज्जरमो जिणा[3] बिंति ॥८२॥

तपसा तु निर्जरा इह—अनशनादिभेदभिन्नं तपः तेन प्रागुपात्तस्य कर्मणो निर्जरा भवति । निर्जराशब्दार्थमेवाह—निर्जरणं क्षपणं नाश इत्येकार्थाः पर्यायशब्दा इति । नानादेशजविनेयगण-प्रतिपत्त्यर्थं अज्ञातज्ञापनार्थं चैतेषामुपादानमदुष्टमेव । अस्या एव भावार्थमाह—कर्माभावापादान-मिह निर्जरा जिना ब्रुवते प्रकटार्थमेतदिति ॥८२॥

अब बन्धके अनन्तर संवरके स्वरूपका निर्देश किया जाता है—

समिति और गुप्ति आदिके द्वारा जो पूर्वोक्त आस्रवका निरोध होता है उसे संवर जानना चाहिए । नवीन कर्मोंका ग्रहण न होना संवर है, यह उसका भावार्थ है ।

विवेचन—जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र (९-२) में निर्देश किया गया है, वह संवर—कर्मा-गमनका निरोध—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रके आश्रयसे होता है । वह सर्वसंवर और व्यवहारसंवरके भेदसे दो प्रकारका है । कर्मागमके कारणभूत मिथ्यात्वादि परिणामोंका पूर्णतया अभाव हो जानेपर जो संवर होता है उसे निश्चयसे सर्वसंवर कहा जाता है, जो बादर व सूक्ष्म योगके निरोधके समय होता है । शेष—चारित्रप्रतिपत्तिके प्रारम्भसे लेकर शेष समयमें जो संवर होता है वह—व्यवहारसंवर कहलाता है । यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि उक्त गुप्ति-समिति आदिका जितना अंश कर्मोंके न आनेका कारण होता है उतने मात्र अंशको ही संवरके रूपमें ग्रहण करना चाहिए, शेष अंशको—जो कर्मनिर्जराका कारण हो—तपके अन्तर्गत जानना चाहिए ॥८१॥

अब निर्जराका निरूपण करते हैं—

तपसे निर्जरा होती है । निर्जरण, क्षपण और नाश ये समानार्थक शब्द हैं । तदनुसार कर्मोंके अभावके आपादनको यहाँ जिन भगवान् निर्जरा कहते हैं ।

विवेचन—इच्छाके निरोधको तप कहा जाता है । वह बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है । उनमें अनशन व ऊनोदर आदिको बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त व विनय आदिको अभ्यन्तर तप जानना चाहिए । इस तपके द्वारा जो पूर्वसंचित कर्मका देशतः क्षय—आत्मासे पृथग्भाव—होता है उसे निर्जरा कहा गया है ॥८२॥

---

१. अ होइ कायस्स । २. सर्व्वसंवरोच्यते । ३. अ हेतोर्धर्म्मादीनां । ४. अ णियर सो जिणा ।

उक्ता निर्जरा, इदानीं मोक्षमाह—

नीसेसकम्मविगमो मुक्खो जीवस्स सुद्धरूवस्स[1] ।
साइ[2] अपज्जवसाणं अव्वाबाहं अवत्थाणं ॥८३॥

निःशेषकर्मविगमो मोक्षः, कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष[3] इति वचनात् जीवस्य शुद्धस्वरूपस्य कर्मसंयोगापादितरूपरहितस्येत्यर्थः। साद्यपर्यवसानं अव्याबाधं व्याबाधावर्जितमवस्थानमवस्थितिः जीवस्यासौ मोक्ष इति। साद्यपर्यवसानता चेह व्यक्त्यपेक्षया, न तु सामान्येन। मोक्षस्यापि अनादिमत्त्वमिति ॥८३॥

उक्तं तत्त्वम्, अधुना प्रकृतं[4] योजयति—

एयमिह सद्दहंतो सम्मद्दिट्ठी तओ अ नियमेण ।
भवनिव्वेयगुणाओ पसमाइगुणासओ होइ ॥८४॥

एतदनन्तरोदितं जीवाजीवादि, इह लोके प्रवचने वा, श्रद्दधानः एवमेवेदमित्यार्द्रान्तःकरणतया प्रतिपद्यमानः सम्यग्दृष्टिरभिधीयते अविपरीतदर्शनादिति, तकश्च नियमेनासाववश्यंतया, भवनिर्वेदगुणात् संसारनिर्वेदगुणेन, प्रशमादिगुणाश्रयो भवति उक्तलक्षणानां प्रशमादिगुणानामाधारो भवति। भवति चेत्थंज्ञाने संसारनिर्वेदगुणः, तस्माच्च प्रशमादयः। प्रतीतमेतदिति ॥८४॥

अस्यैव व्यतिरेकमाह—

आगे अन्तिम मोक्ष तत्त्वका स्वरूप कहा जाता है—

समस्त कर्मोंके विगम—आत्मासे पृथक् हो जाने—का नाम मोक्ष है जो शुद्धरूप—कर्मके संयोगसे प्राप्त विभाव भावसे रहित स्वाभाविक स्वरूपसे युक्त—जीवके सादि-अपर्यवसन निर्बाध अवस्थानरूप है।

विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जीवके साथ जबतक कर्मका सम्बन्ध रहता है तबतक उसका स्वाभाविक स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता, वह समस्त ज्ञानावरणादि कर्मोंके आत्मासे पृथक् हो जानेपर ही प्रादुर्भूत होता है। यह जो जीवके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति है उसीका नाम मोक्ष है। यह मोक्षरूप जीवकी अवस्था सादि होकर अनन्तकाल तक रहनेवाली है तथा बाधक कर्मोंके हट जानेसे वह निराकुल निर्बाध सुखसे सम्पन्न है ॥८३॥

इस प्रसंगप्राप्त जीवादि तत्त्वोंका व्याख्यान करके अब सम्यग्दृष्टिके स्वरूपका निर्देश करते हुए उसके गुणोंको प्रकट किया जाता है—

इस प्रकारसे यहाँ श्रद्धान करता हुआ—प्रवचनमें प्रतिपादित जीवादि तत्त्व 'इसी प्रकार हैं, अन्यथा नहीं हैं' इस प्रकार निर्मल अन्तःकरणसे श्रद्धान करनेवाला—जीव सम्यग्दृष्टि होता है। वह संसारसे होनेवाली विरक्तिरूप गुणसे नियमतः पूर्वोक्त (५३–६०) प्रशमादि गुणोंका आश्रय (भाजन) होता है ॥८४॥

आगे इससे विपरीत अवस्थामें क्या स्थिति होती है, इसे स्पष्ट किया जाता है—

---

१. अ अद्धरूवस्स। २. अ सोइ। ३. अ अतोऽग्रे 'जीवस्यासौ मोक्ष'पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति। ४. अ प्रकृते।

विवरीयसद्दहाणे मिच्छाभावाओ नत्थि केइ गुणा ।
अणभिनिवेसो उ कयाइ होइ सम्मत्तहेऊ वि ॥८५॥

विपरीतश्रद्धाने उक्तलक्षणानां जीवादिपदार्थानामन्यथा श्रद्धाने । मिथ्याभावान्न सन्ति केचन गुणाः, सर्वत्रैव विपर्ययादिति भावः । विपरीतश्रद्धानेऽप्यनभिनिवेशस्तु[एवमेवैतदित्यनध्यवसायस्तु कदाचित्कस्मिंश्चित्काले, यद्वा कदाचित् न नियमेनैव भवति । सम्यक्त्वहेतुरपि जायते सम्यक्त्वकारणमपि । यथेन्द्र-नागादीनामिति ॥८५॥

इदं च सम्यक्त्वमतिचाररहितमनुपालनीयमिति अतस्तानाह—

सम्मत्तस्सइयारा संका कंखा तहेव वितिगिच्छा ।
परपासंडपसंसा संथवमाई[1] य नायव्वा ॥८६॥

सम्यक्त्वस्य प्राङ्निरूपितशब्दार्थस्यातिचारा अतिचरणानि अतिचारा असदनुष्ठानविशेषाः यैः सम्यक्त्वमतिचरति विराधयति वा । ते च शंकादयः । तथा चाह—शंका कांक्षा तथैव विचिकित्सा परपाषण्डप्रशंसा संस्तवादयश्च ज्ञातव्याः । आदिशब्दादनुपबृंहणास्थिरीकरणादि-परिग्रहः । शंकादीनां स्वरूपं वक्ष्यत्येवेति ॥८६॥

ससयकरणं संका कंखा अन्नन्नदंसणग्गाहो ।
संतंमि वि वितिगिच्छा सिज्झिज्ज न मे अयं अट्ठो ॥८७॥

संशयकरणं शङ्का—भगवदर्हत्प्रणीतेषु पदार्थेषु धर्मास्तिकायादिष्वत्यन्तगहनेषु मति-दौर्बल्यात्सम्यगनवधार्यमाणेषु संशय इत्यर्थः । किमेवं स्यान्नैवमिति । सा पुनर्द्विभेदा देश-सर्वभेदात् ।

जैसा कि जीवादि तत्त्वोंका स्वरूप कहा गया है, उसके विपरीत श्रद्धान करनेपर मिथ्याभावके कारण कोई भी गुण नहीं होते । किन्तु अनभिनिवेश—विपरीत श्रद्धाके होनेपर भी 'यह इसी प्रकार ही है' ऐसे दुराग्रहरूप अध्यवसायका अभाव—किसी समय या अनियत रूपमें सम्यक्त्वका कारण भी हो जाता है । जैसे—इन्द्र-नागादिकोंके ॥८५॥

आगे सम्यक्त्वके अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

शंका, कांक्षा, उसी प्रकार विचिकित्सा, परपाषण्डप्रशंसा और संस्तव इत्यादि उस सम्यक्त्वके अतिचार—उसको मलिनित करनेवाले दोष जानना चाहिए । अतिचारसे अभिप्राय ऐसे असदाचरणविशेषोंका है जिनसे उस सम्यक्त्वकी विराधना होती है । आदि शब्दसे यहाँ अनुपबृंहण एवं अस्थिरीकरण आदि अन्य अतिचारोंकी भी सूचना की गयी है ॥८६॥

अब आगेकी गाथा द्वारा उक्त अतिचारोंमें प्रथम तीन अतिचारोंका स्वरूप कहा जाता है—

पूर्वोक्त जीवादि तत्त्वोंके विषयमें सन्देह करनेका नाम शंका है । भिन्न-भिन्न दर्शनों (मतों) के विषयमें अभिलाषा रखना, यह कांक्षाका लक्षण है । समीचीन पदार्थके विषयमें भी जो 'यह अर्थ मुझे सिद्ध होगा या नहीं' इस प्रकारसे फलके विषयमें व्यामोह होता है, इसे विचिकित्सा कहा जाता है ।

विवेचन—भगवान् जिनेन्द्र देवके द्वारा उपदिष्ट पदार्थोंमें जो धर्मास्तिकाय आदि अत्यन्त गहन पदार्थ हैं उनके विषयमें बुद्धिकी दुर्बलतासे ठीक-ठीक निश्चय न हो सकनेके कारण 'क्या यह

१. अ संथवमादी । २. अ 'बृंहणास्थि–' इत्यतोऽग्रेऽग्रिमगाथायाष्टीकान्तर्गत 'भगवदर्हत्प्रणीते–' पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति ।

देशशङ्का देशविषया, यथा किमयमात्माऽसङ्ख्येयप्रदेशात्मकः स्यादथ निःप्रदेशो निरवयवः स्यादिति। सर्वशङ्का पुनः सकलास्तिकायव्रात एवं किमेवं स्यान्नैवमिति। कांक्षाऽन्योन्यदर्शनग्राहः सुगतादिप्रणीतेषु दर्शनेषु ग्राहोऽभिलाष इति। सा पुनर्द्विभेदा देश-सर्वभेदात्। देशविषया एकमेव सौगतं दर्शनमाकांक्षति—चित्तजयोऽत्र प्रतिपादितोऽयमेव च प्रधानो मुक्तिहेतुरिति, अतो घटमानकमिदं न दूरापेतमिति। सर्वकांक्षां तु सर्वदर्शनान्येव कांक्षति[2]—अहिंसाप्रतिपादनपराणि सर्वाण्येव कपिल-कणभक्षाक्षपाद-मतानि इह लोके च नात्यन्तक्लेशप्रतिपादनपराणि, अतः शोभनान्येवेति। सत्यपि विचिकित्सा—सिध्येत[3] न मेऽयमर्थ इति। अयमत्र भावार्थः—विचिकित्सा मतिविभ्रमो युक्त्यागमोपपन्नेऽप्यर्थे फलं प्रति संमोहः किमस्य[4] महतस्तपःक्लेशायासस्य सिकताकणकवलकल्पस्य कनकावल्यादेरायत्यां[5] मम फलसंपद्भविष्यति किं वा नेति। उभयथेह क्रियाः फलवत्यो निष्फलाश्च दृश्यन्ते कृषीवलानाम्। न चेयं शङ्कातो न भिद्यते इत्याशङ्कनीयम्, शंका हि सकलासकलपदार्थभाक्त्वेन द्रव्य-गुणविषया, इयं तु क्रियाविषयैव। तत्त्वतस्तु सर्वं एते प्रायो

इसी प्रकार है या वैसा नहीं है' इस प्रकारका जो सन्देह रहता है, इसे शंका कहा जाता है। यह सम्यक्त्वको मलिन करनेवाला उसका एक अतिचार है। अतिचार, व्यतिक्रम और स्खलित ये समानार्थक शब्द हैं। अभिप्राय यह है कि विवक्षित व्रतादिसे देशतः स्खलित होना या उसे प्रतिकूल आचरणके द्वारा मलिन करना, इसे अतिचार समझना चाहिए। वह शंका देशशंका और सर्वशंकाके भेदसे दो प्रकारकी है। 'क्या यह आत्मा असंख्यातप्रदेशवाला है अथवा प्रदेशोंसे रहित निरवयव है' इस प्रकार उक्त अस्तिकायोंमेंसे किसी एकके विषयमें सन्देह बना रहना, इसका नाम देशशंका है। सभी अस्तिकायोंके विषयमें हो 'क्या इस प्रकार है अथवा वैसा नहीं है' इस प्रकारका जो सन्देह बना रहता है उसे सर्वशंका कहते हैं। बुद्ध आदिके द्वारा प्रणीत दर्शनविषयक अभिलाषाका नाम कांक्षा है। वह देशकांक्षा और सर्वकांक्षाके भेदसे दो प्रकारकी है। इन दर्शनोंमें किसी एक ही बौद्ध आदि दर्शनविषयक जो अभिलाषा होती है वह देशकांक्षा कहलाती है। जैसे—बौद्ध दर्शनमें चित्तके जयका प्रतिपादन किया गया है, यही मुक्तिका प्रमुख कारण है, अतः वह युक्तिसंगत है; इस प्रकार एक बौद्ध दर्शनकी ही अभिलाषा करना। कपिल, कणाद और अक्षपाद आदि महर्षियोंके द्वारा प्रणीत सभी दर्शन अहिंसाका प्रतिपादन करनेवाले हैं तथा उनमें अतिशय क्लेशका भी प्रतिपादन नहीं किया गया है, अतः वे उत्तम हैं; इस प्रकार सभी दर्शनविषयक अभिलाषाको सर्वकांक्षा कहा जाता है। यह उस सम्यक्त्वका दूसरा अतिचार है। यह अर्थ मुझे सिद्ध हो सकता है या नहीं, इस प्रकारसे युक्ति व आगमसे संगत यथार्थ भी पदार्थके विषयमें जो फलकी प्राप्तिविषयक बुद्धिभ्रम होता है उसे विचिकित्सा कहते हैं। इस प्रकारकी विचिकित्साके वशीभूत हुआ प्राणी यह विचार करता है कि बालुकणोंके ग्रासके समान महान् तपजनित क्लेश और परिश्रमके जनक जो यह कनकावली आदि तप हैं उनसे भविष्यमें क्या मुझे कुछ फलसम्पत्ति प्राप्त होगी या नहीं, कारण यह कि किसानों आदिकी क्रियाएँ सफल और निष्फल दोनों प्रकारकी देखी जाती हैं, इत्यादि। इस प्रकारके बुद्धिभ्रमसे उस सम्यग्दर्शनकी विराधना होती है। यह सम्यग्दर्शनका तीसरा अतिचार है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि इस प्रकारके बुद्धिभ्रमको शंकासे भिन्न नहीं कहा जा सकता, अतः उससे इसका पृथक् निर्देश करना उचित नहीं है। इसके समाधानमें यह कहा गया है कि वह शंकाके अन्तर्गत नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि

---

१. अ कायव्रतते। २. अ 'सर्वदर्शनान्येव कांक्षति' इत्येतावान् पाठो नास्ति। ३. अ सिद्धित। ४. अ प्रति सम्मो प्रतिपादनपराण्यवाह किमस्य। ५. अ कनकोवल्यो आयात्यां।

मिथ्यात्वमोहनीयोदयतो भवन्तो जीवपरिणामविशेषाः सम्यक्त्वातिचारा उच्यन्ते । न सूक्ष्मेक्षिका अत्र कार्येति । अथवा विचिकित्सा विद्वद्जुगुप्सा—विद्वांसः साधवो विदितसंसारस्वभावाः परित्यक्तसर्वसङ्गास्तेषां जुगुप्सा निन्दा । तथाहि—तेऽस्नानात्प्रस्वेदजलक्लिन्नमलिनत्वात् दुर्गन्धवपुषो भवन्ति, तान्निन्दति, को दोषः स्याद्यदि प्राशुकेन वारिणाङ्गप्रक्षालनं कुर्वीरन् भगवन्त इति । इयमपि न कार्या, देहस्यैव परमार्थतोऽशुचित्वादिति ॥८७॥

परपापंडपसंसा सक्काइणमिह वण्णवाओ उ[1] ।
तेहिं सह परिचओ जो स संथवो होइ नायव्वो ॥८८॥

परपाषण्डानां सर्वज्ञप्रणीतपाषण्डव्यतिरिक्तानां प्रशंसेति समासः,[2] प्रशंसनं प्रशंसा स्तुतिरित्यर्थः । तथा चाह—शाक्यादीनामिह वर्णवादस्तु । शाक्या रक्तभिक्षवः आदिशब्दात्परिव्राजकादिपरिग्रहः । वर्णवादः प्रशंसोच्यते—पुण्यभाज एते सुलब्धमेभिर्मानुजं जन्म दयालव एत इत्यादि । तैः परपाषण्डैरनन्तरोदितैः सह परिचयो यः स संस्तवो भवति ज्ञातव्यः, परपाषण्डसंस्तव इत्यर्थः । संस्तव इह संवादजनितः परिचयः संवसन-भोजनालापादिलक्षणः परिगृह्यते, न स्तवरूपः । तथा च लोके प्रतीत एव[3] संपूर्वः स्तौतिः परिचय इति "असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु" इत्यादौ इति ॥८८॥

शंका जहां समस्त व असमस्त पदार्थोंके आश्रित होनेसे द्रव्य और गुणको विषय करती है वहां यह विचिकित्सा क्रियाको ही विषय करती है, यह उन दोनोंमें भेद समझना चाहिए। वास्तवमें तो मिथ्यात्व मोहनीयके उदयसे होनेवाले ये सब जीवके परिणाम विशेष सम्यक्त्वके अतिचार कहे जाते हैं, अतः उनके विषयमें इतना सूक्ष्म विचार करना योग्य नहीं है। अथवा विचिकित्साको विद्वज्जुगुप्साके रूपमें ग्रहण करना चाहिए। विद्वान्से यहां अभिप्राय उन साधुओंका है जो संसारके स्वभावको जानकर समस्त परिग्रहका परित्याग कर चुके हैं, उनकी इस प्रकारसे निन्दा करना कि स्नान न करनेके कारण इनका शरीर पसीनेके पानीसे मलिन व दुर्गन्धको फैलानेवाला है, यदि ये प्रासुक जलसे शरीरको धो लिया करें तो क्या दोष होगा, इत्यादि। यह विद्वज्जुगुप्सा भी चूँकि उस सम्यक्त्वको मलिन करनेवाली है अतः उसका भी परित्याग करना उचित है। वास्तवमें तो शरीर स्वभावतः स्वयं अपवित्र है, उसे स्नानादिके द्वारा बाह्यमें ही कुछ स्वच्छ किया जा सकता है, भीतरी भागमें तो वह मल-मूत्रादि अपवित्र पदार्थोंसे परिपूर्ण ही रहनेवाला है ॥८७॥

आगे उस सम्यग्दर्शनके अन्य दो अतिचारोंका स्वरूप कहा जाता है—

शाक्य आदिकोंके वर्णवाद (प्रशंसा) का नाम परपाषण्डप्रशंसा है। उन्हींके साथ जो परिचय होता है उसे परपाषण्डसंस्तव जानना चाहिए।

विवेचन—पाषण्डका अर्थ पापको खण्डित करनेवाला सदाचरण या संयम होता है। इस प्रकारके संयमसे जो सम्पन्न होते हैं उन्हें यथार्थतः साधु समझना चाहिए। इनसे भिन्न अन्य शाक्य (रक्तभिक्षु) व परिव्राजक आदिको परपाषण्ड कहा गया है। उनकी जो प्रशंसा की जाती है कि ये बहुत भाग्यशाली हैं, इन्हें सुन्दर मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है, ये दयालु होते हैं, इसे परपाषण्ड-प्रशंसा नामक उस सम्यग्दर्शनका चौथा अतिचार जानना चाहिए। इन्हीं परपाषण्डोंके साथ जो एक साथ रहने, भोजन करने व सम्भाषण करने आदिरूप संवादजनित परिचय किया जाता है उसे परपाषण्डसंस्तव कहा जाता है। संस्तवसे यहां उक्त प्रकारके परिचयको ही ग्रहण करना चाहिए, न कि स्तुतिरूप स्तवको। यह उसका पाँचवां अतिचार है ॥८८॥

---

१. सक्काईणमिह वण्णवादो उ । २. अ प्रसंसेति प्रसंसा समासः । ३. अ 'एव संपू' इत्यतोऽग्रे 'अधुना शंकादीनामतिचारतामाह' पर्यन्तः पाठस्त्रुटितोऽस्ति ।

अधुना शंकादीनामतिचारतामाह—

संकाए मालिन्नं जायइ चित्तस्स पच्चओ अ जिणे।
सम्मत्ताणुचिओ खलु इइ अइआरो[2] भवे संका ॥८९॥

शङ्कायामुक्तलक्षणायां सत्याम् ? मालिन्यं जायतेऽवबोधश्रद्धाप्रकाशमङ्गीकृत्य श्यामलत्वं जायते। कस्य ? चित्तस्य। अन्तःकरणस्याप्रत्ययश्च अविश्वासश्च। क्व ? जिनेऽर्हति। जायत इति वर्तते। न ह्याप्ततया प्रतिपन्नवचने संशयसमुद्भवः। सम्यक्त्वानुचितः खलु अयं च भगवत्यप्रत्ययः सम्यक्त्वानुचित एव, न हि सम्यक्त्वमालिन्यं तदभावमन्तरेणैव भवति। इत्येवमनेन प्रकारेण। अतिचारो भवति शङ्का, सम्यक्त्वस्येति प्रक्रमादवगम्यते। अतिचारश्चेह परिणामविशेषान्नयमत-भेदेन वा सत्येतस्मिन् तस्य स्खलनमात्रं तदभावो वा ग्राह्यः। तथा चान्यैरप्युक्तम्—

एकस्मिन्नप्यर्थे संदिग्धे प्रत्ययोऽर्हति हि नष्टः।
मिथ्या च दर्शनं तत्स चादिहेतुर्भवगतीनाम् ॥ इति ॥८९॥

प्रतिपादितं शङ्काया अतिचार त्वम्। अधुना दोषमाह—

नासइ इमीइ नियमा तत्ताभिनिवेस[3] मो सुकिरिया य।
तत्तो अ बंधदोसो तम्हा एयं विवज्जिज्जा ॥९०॥

आगे शंकाको अतिचार क्यों माना गया, इसे स्पष्ट किया जाता है—

शंकासे चित्तकी मलिनता होती है तथा सर्वज्ञ जिनके विषयमें अविश्वास भी उत्पन्न होता है। यह सम्यक्त्वके लिए अनुचित हो है। इसी कारण वह शंका सम्यग्दर्शनका अतिचार है।

विवेचन—आप्त (विश्वस्त) स्वरूपसे जिस वचनको स्वीकार किया गया है उसके विषयमें कभी अविश्वास नहीं उत्पन्न होता, और यदि वह उत्पन्न होता है तो विश्वास चला जाता है। इस प्रकार जिनवाणीविषयक सन्देह जिनदेवके विषयमें अविश्वासका सूचक है। वह तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप उस सम्यक्त्वका विराधक है। इससे चित्त भी मलिन होता है—उसका ज्ञान व श्रद्धा-रूप प्रकाश धूमिल होता है। कारण यह कि वीतराग सर्वज्ञ जिनके विषयमें जबतक अविश्वास उत्पन्न न हो तबतक सम्यक्त्व मलिन हो नहीं सकता। इस कारण सम्यक्त्वकी विराधक या उसे मलिन करनेवाली होनेसे शंकाको उस सम्यक्त्वका अतिचार कहा गया है। सम्यक्त्वके होते हुए परिणाम विशेषसे अथवा नयविषयक मतभेदके कारण उससे स्खलित होना अथवा उसका अभाव होना, इसे अतिचार समझना चाहिए। अन्योंके द्वारा भी यह कहा गया है कि यदि एक भी अर्थके विषयमें सन्देह उत्पन्न होता है तो अरहन्तके विषयमें विश्वास नष्ट हो जाता है और दर्शन मिथ्या हो जाता है। अरहन्त विषयक वह अविश्वास चतुर्गतिस्वरूप संसारमें भ्रमण करने-का प्रमुख हेतु होता है ॥८९॥

आगे उस शंकाको दोषरूप भी दिखलाते हैं—

इस शंकाके रहनेपर नियमतः तत्त्वविषयक अभिनिवेश—सम्यक्त्वपरिणाम—और उत्तम क्रिया (सदाचरण) भी नष्ट होती है। इस कारण उससे बन्धका दोष—कर्मबन्धका अपराध—होता है, इसलिए उसे छोड़ना चाहिए।

---

१. अ संपाकमालिन्नं जायए। २. अ खलु इति इय आरो। ३. तत्ताहिणिवेस।

नश्यत्यनया शंकया हेतुभूतया, अस्यां वा सत्याम्। नियमान्नियमेनावश्यंतया। तत्त्वाभिनिवेशः सम्यक्त्वाध्यवसायः, श्रद्धाभावादनुभवसिद्धमेतत्। मो इति पूरणार्थो निपातः। सुक्रिया च शोभना चात्यन्तोपयोगप्रधाना क्रिया च। नश्यति, श्रद्धाभावात्। एतदपि अनुभवसिद्धमेव। ततश्च तस्माच्च तत्त्वाभिनिवेश-सुक्रियानाशात्। बन्धदोषः कर्मबन्धापराधः। यस्मादेवं तस्मादेनां शङ्कां विवर्जयेत्। ततश्च मुमुक्षुणा व्यपगतशङ्केन सता मतिदौर्बल्यात्संशयास्पदमपि जिनवचनं सत्यमेव प्रतिपत्तव्यं, सर्वज्ञाभिहितत्वात्तदन्यपदार्थवदिति ॥९०॥

उक्तः पारलौकिको दोषः, अधुनैहलौकिकमाह—

इह लोगम्मि वि दिट्ठो संकाए चेव दारुणो दोसो।
अविसयविसयाए खलु पेयापेया[1] उदाहरणं ॥९१॥

इह लोकेऽप्यास्तां तावत्परलोक इति। दृष्ट उपलब्धः। शङ्काया[2] एव सकाशात्। दारुणो दोषः रौद्रोऽपराधः। किमविशेषणशङ्कायाः। नेत्याह—अविषयविषयायाः खलु[3]। खलुशब्दोऽवधारणे। अविषयविषयाया एव। अविषयो नाम यत्र शङ्का न कार्येव।

पेयापेयावुदाहरणं[4]। तच्चेदम्—जहा एगंमि नगरे एगस्स सेट्ठिस्स दोन्नि पुत्ता लेहसालाए पढन्ति। सिणेहयाए तेसिं[5] माया मा कोइ मुच्छिही अप्पसागारिए महुमेहाकारिं[6] ओसहपेयं देहि। तत्थ परिभुंजमाणो चेव एगो चिंतेइ णूणं मच्छियाउ एयाउ। तस्स य संकाउ पुणो पुणो वमंतस्स

विवेचन—सर्वज्ञ व वीतराग जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वके विषयमें सन्देहके रहनेपर तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व और अशुभके परिहारपूर्वक शुभ प्रवृत्ति रूप चारित्र भी नष्ट होता है। साथ ही सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञानकी यथार्थता भी नष्ट होनेवाली है। इस प्रकार शंकाके द्वारा कर्मबन्धके रोधक रत्नत्रयके अभावमें मिथ्यात्व व अविरति आदिके निमित्तसे कर्मका बन्ध अवश्यम्भावी है। यह जो बड़ा अपराध उस शंकाके द्वारा होनेवाला है वह उस शंकाका दोष है। इस प्रकार शंकाको अनर्थ परम्पराका मूल कारण जानकर उसका परित्याग करना श्रेयस्कर है। छद्मस्थ होनेसे यदि बुद्धिकी मन्दतासे किसी सूक्ष्म तत्त्वका निर्धारण नहीं होता है तो यह समझकर कि सर्वज्ञ वीतराग प्रभु अन्यथा व्याख्यान नहीं कर सकते, अतः उनके द्वारा उपदिष्ट वस्तुस्वरूप यथार्थ है, इस प्रकार सन्देहसे रहित होकर उसपर विश्वास करना योग्य है ॥९०॥

इस प्रकार शंकासे होनेवाले पारलौकिक दोषकी सूचना करके अब उसके द्वारा होनेवाले इस लोक सम्बन्धी अहितको दिखलाते हैं—

अविषय—शंकाके अयोग्य विषय—को विषय करनेवाली उस शंकाके ही आश्रयसे इस लोकमें भी भयानक दोष देखा गया है। इसके लिए पेय-अपेयका उदाहरण प्रसिद्ध है।

विवेचन—जो विषय शंकाके योग्य हो उसमें यदि शंका रहती है तो उचित है। किन्तु जो विषय शंकाके योग्य नहीं है या जहाँ शंका नहीं रहनी चाहिए वहाँ भी यदि वह शंका बनी रहती है तो वह हानिकर ही होती है। इसकी पुष्टिमें यहाँ पेय-अपेयका उदाहरण दिया गया है। यथा—किसी एक नगरमें एक सेठ रहता था। उसकी पत्नी एक पुत्रको जन्म देकर मरणको प्राप्त हो गयी। तब उसने दूसरा विवाह कर लिया। इस दूसरी पत्नीके भी एक पुत्र हुआ। उसके वे दोनों पुत्र लेखशालामें पढ़ते थे। भोजनके समय पाठशालासे आकर वे दोनों घरके भीतर प्रविष्ट

---

१. अ पेयापया। २. अ शंकया। ३. अ 'खलु' नास्ति। ४. अ पेयापायावुदाहरणं। ५. अ सणेहयाए एतेसिं। ६. अ मुच्छिही अत्थसोगारिए या मएमेहाकारिं।

वग्गुलीवाही जाओ, मओ य, इहलोगभोगाण अणाभागी जाओ। अवरो न माया अहियं चिंतेइ त्ति णिस्संको पियइ, णिरुएण य गहिओ विज्जाकलाकलावो, इहलोगियभोगाण य, आभागी जाउ त्ति। उपनयस्तु कृत एवेति ॥९१॥

सांप्रतं कांक्षादिष्वतिचारत्वमाह—

एवं कंखाईसु वि अइयारत्तं तहेव दोषा य।
जोइज्जा नाए पुण पत्तेयं चेव वुच्छामि ॥९२॥

एवं कांक्षादिष्वपि यथा शङ्कायामतिचारत्वम्। तथैव दोषांश्च[1] योजयेत्। यतः कांक्षायामपि मालिन्यं जायते चित्तस्य, अप्रत्ययश्च जिने, भगवता प्रतिषिद्धत्वात्। एवं विचिकित्सादिष्वपि भावनीयम्। तस्मान्न कर्तव्याः कांक्षादयः। ज्ञातानि पुनः प्रत्येकमेव कांक्षादिषु वक्ष्येऽभिधास्य इति[2] ॥९२॥

रायामच्चो विज्जासाहगसड्ढगसुया य चाणक्को।
सोरट्ठसावओ[3] खलु नाया कंखाइसु हवन्ति ॥९३॥

तत्र कांक्षायां राजामात्यो—राजकुमारामच्चो य अस्सेणावहरियाँ[4] अडविं पविट्ठा छुहा-

---

हुए। उस समय माताने उन्हें मासकणोंसे स्फोटित—उड़दके दानोंसे छौंका गया—एक पेय दिया। तब उनमेंसे जिसकी माता मर चुकी थी वह उसे लेकर विचार करता है कि ये निश्चित ही मक्खियाँ हैं। इस शंकाके साथ पान करनेपर उसे बार-बार वान्ति हुई व वग्गुलि व्याधि (रोगविशेष) हो गयी, जिससे वह मरणको प्राप्त होकर इस लोक सम्बन्धी भोगोंसे वंचित हो गया। इसके विपरीत दूसरा पुत्र विचार करता है कि माता कभी अहितको नहीं सोच सकती, अतः वह मक्खियोंको कैसे दे सकती है ? इस प्रकारसे वह उसे उत्तम पेय समझता हुआ निःशंक होकर पी लेता है। ऐसा करनेपर वह नीरोग रहकर विद्याकलापको ग्रहण करता हुआ इस लोक सम्बन्धी भोगोंका भोक्ता होता है ॥९१॥

आगे शंकाके समान अन्य कांक्षा आदिको भी अतिचार व दोषरूप जानना चाहिए, यह निर्देश किया जाता है—

इसी प्रकार—शंकाके समान—कांक्षा आदि अन्य अतिचारोंके विषयमें भी अतिचारता और उसी प्रकारसे दोषोंकी भी योजना करनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शंकासे चित्तकी मलिनता और भगवान् जिनेन्द्रके विषयमें अविश्वासका भाव होनेसे वह सम्यक्त्वके अतिचाररूप है उसी प्रकार उस चित्तकी मलिनता और जिन भगवान्पर अविश्वासके जनक होनेसे उन कांक्षा आदिकोंको भी सम्यक्त्वके अतिचाररूप जानना चाहिए। गाथाके अन्तमें ग्रन्थकार उनमेंसे प्रत्येकके उदाहरण कहनेका निर्देश करते हैं ॥९२॥

तदनुसार आगे क्रमसे उन कांक्षा आदिके उदाहरणोंका निर्देश किया जाता है—

पूर्वोक्त कांक्षा आदिकोंके विषयमें ये उदाहरण हैं—राजा व अमात्य, विद्यासाधक श्रावक व श्रावकसुता, चाणक्य और सौराष्ट्रश्रावक।

विवेचन—गाथोक्त इन उदाहरणोंमें प्रथम राजा और अमात्यका उदाहरण कांक्षासे सम्बद्ध है। उसकी कथा इस प्रकार है—किसी समय राजा और उसका कुमार अमात्य घोड़ेके

---

१. मु दोषाश्च। २. अ °षु विधास्य इति। ३. अ °दृसदृ [ड्ढ] गो। ४. अ राजाकुमारामयो यः आसेणा।

परद्धा वणफलाणि[1] खायंति। पडिणियत्ताणं राया चिंतेइ लड्डुय-पूयलगमाईणि सव्वाणि खामि। आगया दोवि जणा। रन्ना सूयारा भणिया जं लोए पयरइ तं सव्वं सव्वे[2] रंधेह। तेहिं रंधित्ता उवट्ठवियं[3] रन्नो सो राया पेच्छरायेविट्ठंतं करेइ कप्पडियाबलिएहिं[4] धाडिज्जंति एवं मिट्ठस्स अवगासे होइ त्ति कणग कुंडगाईणि उंडेराणि वि खइयाणि। तेहिं सूलेण मओ। अमच्चेण पुण वमण-विरेयणाणि कयाणि सो[5] भोगाणं आभागी जाओ त्ति।

विचिकित्सायां विद्यासाधकसावगो नंदीसरवरगमणं दिव्वगंधाणं देवसंसग्गेणं[6] मित्तस्स पुच्छणं विज्जाए पदाणं साहणं मसाणे चउपायगसिक्कयं हेट्ठा इंगालखायरोयसूलो अट्ठसयवारा परिजवित्ता पादो सिक्कगस्स छिंदिज्जइ। एवं बीओ तइओ य छिंदिज्जइ। चउत्थे छिन्ने आगासेण वच्चइ। तेण सा विज्जा गहिया। कालचउद्दसिरत्ति साहेइ मसाणे[7]। चोरो य णयरारक्खिएहिं पारद्धो (पेल्लिओ)[8] परिभममाणो तत्थेव अइगओ। ताहे वेढेउं मसाणं ठिया पभाए घिप्पिही।

द्वारा अपहृत होकर जंगलके भीतर प्रविष्ट हुए। वहां दोनों भूखसे व्याकुल होकर वनके फलोंको खाते हैं। वापस आते समय राजा सोचता है कि लड्डू और पूयलग आदि सब खाऊँगा। दोनोंके घर आ जानेपर राजाने रसोइयोंको बुलाकर कहा कि जो-जो लोकमें उत्तम भोज्य पदार्थ प्रचलित हैं उन सबको रांधो। आज्ञानुसार उन रसोइयोंने सब रांधकर राजाके सामने उपस्थित कर दिया। तब राजा कांक्षाके वश होकर................ (?) इस प्रकारसे मीठेके लिए अवकाश प्राप्त होगा, ऐसा विचार करते हुए कणग व कुंडग आदि तथा उंडेरों (?) को भी खा डाला। उनसे उत्पन्न हुई शूलकी वेदनासे व्यथित होकर वह मर गया। परन्तु अमात्यने कांक्षासे रहित होकर वमन व विरेचन करते हुए उन दूषित फलों आदिको उदरसे बाहर निकाल दिया। इससे वह जीवित रहकर भोगोंका भोक्ता हुआ। इस उदाहरणमें उक्त प्रकारसे कांक्षा और अनाकांक्षाके फलको प्रगट किया गया है।

तीसरे अतिचारमें विचिकित्सा और विद्वज्जुगुप्साके रूपमें दो विकल्प हैं। यहां दोनोंके ही पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये गये हैं। उनमें प्रथम उदाहरणभूत विद्यासाधक श्रावकका कथानक इस प्रकार है—एक श्रावक नन्दीश्वर द्वीपको गया था। उसके शरीरका दिव्य गन्ध हो गया। इस दिव्य गन्धको देखकर उसके एक मित्र श्रावकने उससे पूछा। उत्तरमें उसने यथार्थ स्थिति कहकर उसे वह विद्या दे दी व उसके साधनेकी विधिको समझाते हुए कहा कि इसे श्मशानमें जाकर सिद्ध करना पड़ता है। इसके लिए वहां चार पादोंका सींका बांधकर व उसके नीचे खदिर वृक्षकी लकड़ीकी अग्नि और शूल आदि अस्त्रोंको रखकर उस सींकेपर चढ़ जाना चाहिए। पश्चात् उसके ऊपर स्थित रहकर एक सौ आठ बार मन्त्रको जपते हुए उसके एक-एक पादको काटना चाहिए। इस क्रमसे पहले, दूसरे और तीसरे पादके कट जानेपर जब चौथा पाद काटा जायेगा तब आकाशसे गमन होता है—आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार कहनेपर मित्र श्रावकने विद्याको ग्रहण कर लिया। फिर वह उसे सिद्ध करनेके लिए कृष्ण-चतुर्दशीके दिन श्मशानमें जाकर निर्दिष्ट विधिके अनुसार उसके सिद्ध करनेमें प्रवृत्त हुआ। इस

---

१. मु वणफलादिणि। २. अ तं सव्वे सव्वं। ३. अ उवट्टवियं वि ए रन्नो। ४. अ राया पेत्य (च्छ) णयदिट्ठंतं करेइ कप्पडियावलेहिं। ५. अ विरेयणाणि सो। ६. गंधाणं संयमेणं। ७. अ साहणं समाहेण चउ। ८. अ (पेल्लिओ)' नास्ति।

सो[1] य भमंतो तं विज्जासाहगं पेच्छइ। तेण पुच्छिओ सो भणइ विज्जं साहेमि। चोरो भणइ केण ते दिण्णा[2]। सो भणइ सावगेणं। चोरेण भणियं इमं दव्वं गिण्हाहि, विज्जं वेहि। सो सड्ढो विचिकिच्छई[3] सिज्झेज्जा न व इति। तेणं दिन्ना। चोरो चिंतेइ सावगो कोडियाएवि पावं नेच्छइ, सच्चमेयं। सो साहिउमारद्धो,[4] सिद्धा। इयरो सलोद्दो (सलुत्तो) गहिउ[5]। तेण आगासगएण लोगो भेसिओ, ताहे सो मुक्को। दोवि सावगा जाय त्ति॥

विद्वज्जुगुप्सायां श्रावकसुताउदाहरणे एगो सेट्ठो पच्चंते वल्लइ (तल्लइ)। तस्स[6] धूया-विवाहे कहवि साहुणो आगया। सा पिउणा भणिया—पुत्तिए, पडिलाभेहि साहुणो। सा मंडियपसाहिया पडिलाभेइ। साहूण जल्लागंधो तीए आघातो। सा चिंतेइ—अहो अणवज्जो भट्टारगेहिं धम्मो देसिओ, जइ पुण फासुएण पाणीएण ण्हाएज्जा को दोसो होज्जा। सा तस्स ट्ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता[7] कालं काऊणं रायगिहे गणियापाढे[8] समुप्पन्ना। गब्भगया

प्रकार सींका बांधने आदिकी समस्त क्रियाको करके वह यह निश्चय नहीं कर सका कि विद्या सिद्ध होगी भी या नहीं। इस बीच एक चोर, जिसका पीछा नगरके आरक्षक (कोतवाल आदि) कर रहे थे, भागता हुआ वहाँ आया। नगरारक्षकोंने श्मशानको घेरकर वहाँ स्थित होते हुए विचार किया कि इसे सबेरे गिरफ्तार कर लेंगे। उधर चोरने वहाँ घूमते हुए उस श्रावकको अस्थिरचित्त देखकर उससे पूछा कि यह क्या कर रहे हो। इसपर उत्तरमें श्रावकने कहा कि मैं विद्याको सिद्ध कर रहा हूँ। तब चोरके पुनः यह पूछनेपर कि इसे तुम्हें किसने दिया है श्रावकने कहा कि इसे मेरे एक मित्र श्रावकने दिया है। इसपर चोर बोला कि इस द्रव्य (हार) को ले लो और विद्या मुझे दे दो। तब 'वह मुझे सिद्ध होगी या नहीं' इस प्रकार बुद्धिभ्रमसे युक्त श्रावकने उसे वह विद्या दे दी। चोरने विचार किया कि श्रावक क्रीड़ामें भी पापकी इच्छा नहीं करता है, यह सत्य है। इस प्रकार स्थिरचित्त होकर चोरने उसे सिद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। वह उसे सिद्ध भी हो गयी। उधर प्रातःकालके हो जानेपर नगरारक्षकोंने चोरके द्वारा दिये गये उस द्रव्य-के साथ श्रावकको चोर समझकर गिरफ्तार कर लिया, तब उस विद्याके प्रभावसे आकाशमें गये हुए उस चोरने नगरारक्षकोंको डराया-धमकाया। इस प्रकार उससे भयभीत होकर उन्होंने उसे छोड़ दिया। तब दोनों ही श्रावक हो गये। इस प्रकार विचिकित्साके कारण श्रावक जिस विद्या-को सिद्ध नहीं कर सका वह उस चोरको विचिकित्साके अभावमें अनायास ही सिद्ध हो गयी।

द्वितीय विकल्पभूत विद्वज्जुगुप्साके उदाहरणमें श्रावकसुताका कथानक इस प्रकार है—एक सेठ प्रत्यन्त (अनार्यदेश) में रहता था। उसकी पुत्रीके विवाहके समय कहींसे साधु आये। तब पिताने पुत्रीसे भोजन आदिके द्वारा उनका स्वागत करनेके लिए कहा। तदनुसार वह वस्त्रा-भूषणादिसे सुसज्जित होकर उनके स्वागतके लिए उद्यत हुई। उस समय उसे साधुओंके पसीनेसे मलिन शरीरसे फैलती हुई दुर्गन्ध सूँघनेमें आयी। तब उसने विचार किया कि भगवान्ने निर्मल धर्मका उपदेश दिया है। यदि ये प्रासुक जलसे स्नान कर लिया करें तो कौनसा दोष होगा। इस प्रकार उसने साधुओंकी निन्दा की। तत्पश्चात् वह साधुनिन्दाजनित उस अपराधकी आलोचना व प्रतिक्रमण न करके मरणको प्राप्त होती हुई राजगृह नगरके भीतर एक वेश्याके पेटमें आया।

---

१. अ पमाए घहि सो। २. अ केण इ दिण्णा। ३. मु सो विचिकिच्छइ। ४. अ सोहेउमारद्धा। ५. अ इयरो सलुत्तो गहिओ। ६. अ पच्चंते तस्सइ तस्स। ७. अ °लोइय पडिक्कंता। ८. अ गणि-यापोढे।

चेव अरइं जणेइ, गब्भसाडणेहिं[1] य ण सडइ। जाया समाणी उज्जि[ज्झि]या। सा गंधेण तं वनं वासेइ। सेणिओ तेण पवेसेण णिगच्छइ सामिणो वंदिउ। सो खंधावारो तोए गंधं ण सहइ। रन्ना पुच्छयं किं एयं। तेहिं कहियं दारियाए गंधो। गंतूणं दिट्ठा भणइ एस एवं[2] पढम पुच्छ त्ति। गओ वंदित्ता पुच्छइ। तओ भगवया तोए उट्ठाणपारियावणियया[3] कहिया। तओ राया भणइ—कहिं एसा पच्चणुभविस्सइ सुहं वा दुक्खं वा। सामी भणइ—एएण कालेण वेइयं, इयाणिं सा तव चेव भज्जा[4] भविस्सइ अग्गमाहिसी। अट्ठ संवच्छराणि जाय तुब्भं रममाणस्स पट्ठीएहं सो लीलं काहिइ, तं[5] जाणिज्जसु वंदित्ता गओ। सा य अवगयगंधा आहीरेण गहिया, संवड्ढिया जोव्वणत्था जाया। कोमुइचारं मायाए समं आगया। अभओ सेणिओ य पच्छन्ना कोमुइचारं पेच्छंति। तोए दारियाए अंगफासेण सेणिओ य अजोववन्नो। नाममुद्दं दसिया। तोए बंधइ। अभयस्स कहियं नाममुद्दा हरिया, मग्गाहि। तेण मणुस्सा दारेहिं बद्धेहिं ठविया। एक्केकं माणुस्सं पलोएऊण णीणिज्जइ। सा दारिया दिट्ठा चोरित्ति गहिया परिणीया य। अन्नया य वस्सोकेण रमंति रायणं राणियाउ, पोत्तेण वाहिंति। इयरी पोत्तं दाउं विलग्गा

वह गर्भमे स्थित होती हुई ही अरति (खेद) को उत्पन्न कर रही थी। गर्भ गिरानेवालोंके द्वारा प्रयत्न करनेपर भी वह गिरी नहीं। अन्तमें उत्पन्न होनेके साथ ही उसका परित्याग कर दिया गया। तब वह जिस वनमें स्थित थी उसे दुर्गन्धसे व्याप्त कर रही थी। एक समय राजा श्रेणिक भगवान् महावीरको वन्दनाके लिए जाता हुआ वहाँसे निकला। उसका सैन्य समूह उसकी दुर्गन्धको नहीं सह सका। तब राजा श्रेणिकने पूछा किय ह दुर्गन्ध कहाँसे आ रही है। उत्तरमे सैनिकोंने कहा कि यह महान् दुर्गन्ध एक लड़कीके शरीरसे आ रही है। तब उसने जाकर उस लड़कीको देखा और कहा कि भगवान् महावीरके समक्ष मेरा यही प्रथम प्रश्न रहेगा। तत्पश्चात् श्रेणिकने जाकर भगवान् महावीरको वन्दना की व उनसे उस दुर्गन्धाके विषयमे प्रश्न किया। उत्तरमें भगवान्ने उसके परितापजनक कर्मबन्धकी उत्पत्तिको कथा—पूर्वोक्त मुनिनिन्दाका वृत्त—कह दिया। पश्चात् श्रेणिकने पुनः प्रश्न किया कि वह कितने काल तक सुख अथवा दुखका अनुभव करेगी। इसपर महावीर स्वामीने कहा कि इतने कालमे उसने अपने उस पूर्वाजित कर्मका फल भोग लिया है। अब वह तुम्हारी पत्नी होकर पटरानी भी होगी। आठ वर्ष तुम्हें रमाते हुए तुम्हारे पृष्ठ भागपर हंसौलियोंको (?) करेगी, इससे तुम जान सकोगे कि यह वही है। अन्तमे श्रेणिक महावीर स्वामीको वन्दना कर चला गया। तत्पश्चात् वह दुर्गन्धसे रहित हो गयी। तब उसे एक अहीर (ग्वाला) ने ग्रहण करके उसका संवर्धन किया। इस प्रकारसे वह यौवन अवस्थाको प्राप्त हो गयी। एक समय वह शरत् पूर्णिमाके उत्सवको देखनेके लिए माताके साथ आयी थी। उस समय अभयकुमार और राजा श्रेणिक छिपकर उस उत्सवको देख रहे थे। उस समय उस लड़कीके शरीरका स्पर्श हो जानेसे श्रेणिक उसके ऊपर आसक्त हो गया। तब उसने अपने नामसे अंकित अँगूठीको उसके वस्त्रसे बाँध दी और अभयकुमारसे कहा कि मेरे नामकी अंगूठी खो गयी है, तुम उसकी खोज करो। इसपर अभयकुमारने द्वारोंपर मनुष्योंको नियुक्त कर दिया। वे प्रत्येक मनुष्यको देखकर जाने देते थे। उन्हें वह लड़की मुँदरीके साथ दिखी, जिसे चोर समझकर पकड़ लिया। अन्तमें राजा श्रेणिकने उसके साथ विवाह कर लिया।................राजाको

---

१. मु गब्भसाडणेहिं। २. अ एसेव। ३. अ तउ भगवती तू उट्ठाणे पारिया वेणिया। ४. अ सा ते च भज्जा। ५. अ पट्ठीए हंसोलीण काहिए तं। ६. अ नासामुद्दं दसया तिए।

रन्ना सरियं मुक्का[1] य पव्वइया।

परपाषण्डप्रशंसायां चाणक्यः। पाडलिपुत्ते चाणक्को, चंदगुत्तेण भिक्खुकाण वित्ती हरिया। ते तस्स धम्मं कहेंति। राया तुस्सइ[2] चाणक्कं पलोएइ[3], ण पसंसइ, तेण न देइ[4]। तेहिं चाणक्क-भज्जा उलग्गिया। तीए[5] सो करणी गाहिउ। तेहिं कहिए भणियं सुहासियं[6]। रन्ना तं च अन्नं च दिन्नं। बीयदिवसे चाणक्को भणइ किस ते दिन्नं। राया भणइ तुझेहिं पसंसियंति[7]। सो भणइ ण मे पसंसियंति सव्वारंभपवत्ता कहलोयं पत्तियावेंति। पच्छाठिउ[8] केत्तिया एरिसंति।

परपाखंडसंस्तवे सौराष्ट्रश्रावकः। सो दुब्भिक्खे भिक्खुएहिं समं पयट्टो भत्तं से देंति। अन्नया विसूइयाए मओ। चीवरेण पच्छाइओ अविसुद्धोहिणा पासणं भिक्खुगाणं दिव्वबाहाए आहारदाणं[9]। सावगाणं खिंसा। जुगपहाणाण कहणं विराहियगुणो त्ति आलोयणं[10] नमोकार-पठणं पडिबोहो केत्तिया एरिसन्ति ॥९३॥

स्मरण हो गया। तब उसने उसे छोड़ दिया। इस प्रकारसे मुक्त होकर उसने दीक्षा स्वीकार कर ली। यह उस मुनिनिन्दाका परिणाम था जो उसे कुछ समय तक दुर्गन्धा होकर कष्ट सहना पड़ा।

परपाषण्ड प्रशंसामें चाणक्यका उदाहरण दिया गया है। उसकी कथा इस प्रकार है—पाटलिपुत्र नगरमें चाणक्य नामका विद्वान् ब्राह्मण रहता था। राजा चन्द्रगुप्तने भिक्षुओंकी आजीविकाको अपहृत कर लिया था। वे उसे धर्मका उपदेश करते थे। राजा सन्तुष्ट होकर चाणक्यकी ओर देखता था। परन्तु वह उनकी प्रशंसा नहीं करता था। इससे राजा उन्हें कुछ नहीं देता था। तब भिक्षुओंने चाणक्यकी पत्नीकी सेवाशुश्रूषा की.................................. उनके द्वारा कहनेपर उसने कहा यह सुभाषित है तब राजाने उसे दिया और दूसरोंको भी दिया। दूसरे दिन चाणक्यने राजासे पूछा कि उनको क्यों दिया। उत्तरमें राजाने कहा कि तुमने प्रशंसा की थी, इसलिए दिया है। इसपर चाणक्यने कहा कि मैंने प्रशंसा नहीं की। कारण यह कि जो सब प्रकारके आरम्भमें प्रवृत्त हैं वे लोगोंके विश्वासपात्र कैसे हो सकते है? इससे उसे पश्चात्ताप हुआ। ऐसे कितने हैं?

पांचवें पाषण्डसंस्तव अतिचारके विषयमें सौराष्ट्र देशके श्रावकका उदाहरण दिया गया है। उसका कथानक इस प्रकार है—वह श्रावक दुर्भिक्षके समय भिक्षुओंके साथ प्रवृत्त होकर उन्हें भोजन देता था। पश्चात् किसी अन्य समयमें उसे विसूचिका रोग हो गया, जिससे पीड़ित होकर वह मृत्युको प्राप्त हो गया। तब उसे वस्त्रसे आच्छादित कर दिया गया। उस समय उसने अविशुद्ध (विभंग) अवधिज्ञानके द्वारा भिक्षुओंको दिव्य (देवता निर्मित) भोजनका दान, श्रावकोंकी निन्दा तथा युगप्रधान आचार्योंके कथनकी विराधनाको देखा। इससे वह आलोचना-पूर्वक नमस्कार मन्त्रका पाठ करता हुआ प्रतिबोधको प्राप्त हुआ। ऐसे जन कितने है? विरले ही होते हैं ॥९३॥

---

१. अ अन्नाया य वब्भोकेण रमंति रायाणं राणियाउ पुणेत्ते वाहिये इयरी पुत्तं दाऊं वि गल्ला रन्ना सरीयं मुक्का। २. अतस्सइ। ३. अ पुलोयइ। ४. अ इ ति ण देइ। ५. अ भुज्जा उलग्गिया तीए। ६. अ सुहासीयं। ७. अ बीयदिन्नं से चाणक्को भणइ तुब्भेहिं पसंसीयंति। ८. अ पच्छाविउ केत्तिया। ९. अ दिव्ववाहाए दाणं। १०. अ आभोगणं।

अन्ने वि य अइयारा आइसद्देण[1] सूइया इत्थ ।
साहंमिअणुववूहणमथिरीकरणाइया ते उ ॥९४॥

अन्ये ऽपि चातिचारा आदिशब्देन सूचिता अत्र—अत्रेति सम्यक्त्वाधिकारे 'सम्मत्तस्सइयारा' इत्यादिद्वारगाथायामादिशब्देनोल्लिङ्गिता इत्यर्थः । समानधार्मिकानुपबृंहणास्थिरीकरणादयस्ते तु—अनुस्वारो ऽलाक्षणिकः, समानधार्मिको हि सम्यग्दृष्टेः साधुः साध्वी श्रावकः श्राविका च । एतेषां कुशलमार्गप्रवृत्तानामुपबृंहणा कर्तव्या । धन्यस्त्वं पुण्यभाक्त्वं कर्तव्यमेतद्यद् भवतारब्धमिति तद्भाव उपबृंहितव्यः । अनुपबृंहणे ऽतिचारः । एवं सद्धर्मानुष्ठाने विषीदन् धर्म एव स्थिरीकर्तव्यः । अकरणे ऽतिचारः । आदिशब्दात्समानधार्मिकवात्सल्य-तीर्थप्रभावनापरिग्रहः । समानधार्मिकस्य ह्यापद्गतोद्धरणादिना[2] वात्सल्यं कर्तव्यं । तदकरणे ऽतिचारः । एवं स्वशक्त्या धर्मकथादिभिः प्रवचने प्रभावना कार्या । तदकरणे ऽतिचार इति ॥९४॥

आगे पूर्व गाथा ८६ मे उपयुक्त 'आदि' शब्दसे सूचित कुछ अन्य अतिचारोका भी निर्देश किया जाता है—

'संथवमाई य नायव्वा' यहां (८६) उपयुक्त आदि शब्दके द्वारा अन्य भी अतिचारोंकी सूचना की गयी है । वे साधर्मिक-अनुपबृंहण और साधर्मिक-अनुपगूहन आदि है ।

विवेचन—पूर्व गा. ८६ म शंका आदि पाँच अतिचारोंका निर्देश करके 'आदि' शब्दके द्वारा जिन अन्य अतिचारों की सूचना की गयी है वे साधर्मिक-अनुपबृंहण, साधर्मिक-अस्थितिकरण, साधर्मिक-अवात्सल्य और अतीर्थप्रभावना आदि है । साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका ये समान धर्मका आचरण करनेके कारण सम्यग्दृष्टिके लिए सधार्मिक है । सम्यग्दृष्टिको श्रेयस्कर मार्गमें प्रवृत्त इन सबकी 'आप धन्य व विशेष पुण्यशाली हैं, आपने जो यह सदनुष्ठान आरम्भ किया है वह स्तुत्य है, उसे पूरा करना ही चाहिए' इत्यादि रूपसे प्रशंसा करके उनके उत्साहको बढ़ाना चाहिए । यह सम्यक्त्वका उपबृंहण नामका एक गुण (अंग) है, जिसके आश्रयसे वह पुष्ट होता है । इसके न करनेपर उस सम्यक्त्वको मलिन करनेवाला उसका साधर्मिक अनुपबृंहण नामका अतिचार होता है । जो साधर्मिक समीचीन धर्मके आचरणसे खिन्न है व उसमें प्रमाद करता है उसे सदुपदेश आदिके द्वारा उसमे दृढ़ करना चाहिए । यह सम्यक्त्वका स्थितिकरण नामका एक गुण है, जिससे वह पुष्ट होता है । इसके विपरीत यदि सम्यग्दृष्टि धर्मसे च्युत होते हुए स्वयं अपनेको या अन्यको उसमे स्थिर नही करता है तो वह उसके सम्यक्त्वको कलुषित करनेवाला साधर्मिक अस्थिरीकरण नामका एक अतिचार होता है । सम्यग्दृष्टिका यह भी कर्तव्य है कि जिस प्रकार गाय अपने बछड़ेसे स्वाभाविक प्रेम किया करता है उसी प्रकार वह अपने साधर्मिक जनोसे निश्छल अनुराग करता हुआ उनकी आपत्ति आदिको यथासम्भव दूर करे । यह सम्यक्त्वका पोषक उसका एक वात्सल्य नामका गुण है । यदि वह ऐसा नही करता है तो उसका सम्यक्त्व साधर्मिक-अवात्सल्य नामक अतिचारसे दूषित होता है । सम्यग्दृष्टिके द्वारा जो यथाशक्ति धर्मकथा आदिके द्वारा तीर्थको—जैन शासनको—प्रसिद्ध किया जाता है, यह सम्यक्त्वका तीर्थ-प्रभावना नामका एक गुण है । उससे सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है । यदि सम्यग्दृष्टि ऐसा नही करता है तो उसके सम्यक्त्वको दूषित करनेवाला तीर्थ प्रभावना नामका अतिचार होता है ॥९४॥

---

१. अ य अइणया आईसद्देण । २. अ ह्याद्धरणादिना ।

तथा चाह—

> नो खलु अप्परिवडिए निच्छयओ मइलिए व समत्ते ।
> होइ तओ परिणामो जत्तो णुववूहणाईया ॥९५॥

न खल्विति नैव । अप्रतिपतितेऽनपगते । निश्चयतो निश्चयनयमतेन मलिनीकृते वा व्यवहारनयमतेन । सम्यक्त्वे उक्तलक्षणे भवति तकः परिणामो जायते भावात्मस्वभावः यतो यस्मात्परिणामादनुपबृंहणादयो भवन्तीति । उक्ताः सम्यक्त्वातिचाराः । एते मुमुक्षुणा वर्जनीयाः ॥९५॥ किमिति—

> जं साइयारमेयं खिप्पं नो मुक्खसाहगं[2] भणिअं ।
> तम्हा मुक्खट्ठी[3] खलु वज्जिज्ज इमे अईयारे ॥९६॥

यद्यस्मात् । सातिचारं सदोषमेतत्सम्यक्त्वं क्षिप्रं शीघ्रम् । न मोक्षसाधकं नापवर्गनिर्वर्तकम् । भणितं तीर्थंकरगणधरैः, निरतिचारस्यैव विशिष्टकर्मक्षयहेतुत्वात् । तस्मात् मोक्षार्थी अपवर्गार्थी खल्विति खलुशब्दोऽवधारणे मोक्षार्थ्येव । वर्जयेन्न कुर्यादेतानतिचारान् शङ्कादीनिति ॥ ॥९६॥

> आह सुहे परिणामे पइसमयं कम्मखवणओ कह णु ।
> होइ तह संकिलेसो जत्तो एए अईयारा ॥९७॥

आगे इसीको स्पष्ट किया जाता है—

निश्चयसे उस सम्यक्त्वके पतित न होनेपर—तदवस्थ रहते हुए—अथवा अमलिनित—दूषित न होनेपर—वह परिणाम नहीं होता है जिसके कि आश्रयसे उक्त अनुपबृंहण आदि अतिचार हुआ करते हैं ।

विवेचन—प्रकृत गाथाकी व्याख्यामें यह कहा गया है कि निश्चय नयकी अपेक्षा यदि वह सम्यक्त्व पतित नहीं होता है अथवा व्यवहार नयके मतसे यदि वह मलिन किया जाता है तो उस प्रकारका आत्मपरिणाम ही नहीं उत्पन्न होता कि जिससे उपर्युक्त अनुपबृंहणादि अतिचार सम्भव हो सकें । गाथामें 'निच्छयओ मइलिए' इस पाठमें ग्रन्थकारको सम्भवतः 'अमलिए (ऽमलिए)' ऐसा पाठ अभीष्ट रहा है, ऐसा हमें प्रतीत होता है । तदनुसार उसका यह अभिप्राय निकलता है कि उपर्युक्त अनुपबृंहण आदिके आश्रयसे या तो वह सम्यक्त्व पतित हो जाता है या फिर मलिनित होता है, इसीलिए उन्हें भी उस सम्यक्त्वके अतिचार समझना चाहिए ॥९५॥

आगे इन अतिचारोंके छोड़ देनेके लिए प्रेरणा की जाती है—

अतिचार सहित यह सम्यक्त्व चूँकि शीघ्र ही मोक्षका साधक नहीं ऐसा तीर्थंकर एवं गणधर आदिके द्वारा कहा गया है, इसीलिए मोक्षके अभिलाषी भव्य जीवको इन अतिचारोंका परित्याग करना चाहिए ॥९६॥

यहाँ शंकाकार कहता है कि शुभ परिणामके होनेपर जब प्रतिसमय कर्मका क्षय होता है तब भला वैसा संक्लेश कैसे हो सकता है कि जिससे ये अतिचार सम्भव हो सकें ।

---

१. अ मोक्ख । २. अ मोक्खट्ठी ।

एवं सातिचारे सम्यक्त्वे उक्ते सति पर आह—शुभे परिणामे सम्यक्त्वे सति प्रशमसंवेगादिलक्षणे। प्रतिसमयं समयं समयं प्रति। कर्मक्षपणतः विशिष्टकर्मक्षपणात् मिथ्यादृष्टेः सकाशात् सम्यग्दृष्टेर्विशिष्टकर्मक्षपणक एवेत्युक्तम्। कथं केन प्रकारेण ? नु इति क्षेपे। भवति तथा संक्लेशो जायते चित्तविभ्रमः। यतोऽयं स्मात्संक्लेशादेते शंकादयोऽतिचारा[1] भवन्ति ततश्चानुत्थानमेवैतेषामिति पराभिप्रायः—अत्र गुरुर्भणति ॥९७॥

नाणावरणादुदया तिव्वविवागा उ भंसणा[2] तेसिं ।
सम्मत्तपुग्गलाणं तहासहावाउ किं न भवे ॥९८॥

ज्ञानावरणाद्युदयात्। किंविशिष्टात् ? तीव्रविपाकात्,[3] न तु मंदविपाकात्तस्मिन् सत्यपि अतिचारानुपपत्तेः, सम्यग्दर्शनिनामपि मन्दविपाकस्य तस्य उदयात्, अतस्तीव्रानुभावादेव। भ्रंशना स्व-स्वभावच्युतिरूपा। तेषां सम्यक्त्वपुद्गलानाम्। तथास्वभावत्वान्मिथ्यात्वदलिकत्वात्। जायत इति वाक्यशेषः। अतः किं न भवत्यसौ संक्लेशो यत एतेऽतिचारा भवन्त्येवेत्यभिप्रायः। उक्तं च प्रज्ञापनायां कर्मप्रकृतिपदे बन्धचिन्तायाम् कहन्नं भंते जीवे अट्ठकम्मप्पगडीउ बंधइ ? गोयमा, णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दंसणावरणिज्जं कम्मं नियच्छइ। दंसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदयेणं दंसणमोहणिज्जं कम्मं नियच्छइ। दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं णियच्छइ। मिच्छत्तेणं उदिन्नेणं एवं खलु जीवे अट्ठकम्मपगडीउ बंधइत्ति[4] ॥९८॥ तत्र—

विवेचन—शंकाकारका अभिप्राय यह है कि पूर्वमें (गा. ५३-६०) यह स्पष्ट कहा जा चुका है कि सम्यक्त्व यह आत्माका परिणाम है। उसके प्रादुर्भूत होनेपर सम्यग्दृष्टिकी प्रशम-संवेगादिरूप समस्त बाह्य प्रवृत्ति उत्कृष्ट ही होती है। अतः प्रशमादि परिणामस्वरूप उस सम्यक्त्वके होने हुए वैसा संक्लेश हो ही नहीं सकता कि जिसके आश्रयसे वे शंकादि अतिचार सम्भव हो सकें। इतना ही नहीं, उस सम्यक्त्वके प्रभावसे तो मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टिके विशिष्ट कर्मक्षय भी होता है। ऐसी स्थितिमें जब वे अतिचार सम्यग्दृष्टिके सम्भव ही नहीं हैं तब उनके परित्यागकी प्रेरणा करना निरर्थक है ॥९७॥

आगे इस शंकाका समाधान किया जाता है—

तीव्र विपाकवाले ज्ञानावरणादिके उदयसे उन सम्यक्त्वरूप पुद्गलोंकी भ्रंशना होती है—वे अपने स्वभावसे भ्रष्ट हो जाते हैं, क्योंकि वैसा उनका स्वभाव है। अतएव उस प्रकारका संक्लेश क्या नहीं हो सकता है ? अवश्य हो सकता है।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंका जब तीव्र विपाकसे युक्त उदय होता है तब वे सम्यक्त्वरूप पुद्गल मिथ्यात्वके प्रदेशरूप होनेसे अपने स्वभावसे च्युत हो जाते हैं। अतएव उनसे उक्त अतिचारोंका जनक संक्लेश हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है यदि उन ज्ञानावरणादिका उदय मन्द विपाकसे संयुक्त होता है तो उसके होनेपर भी वे सम्यक्त्वपुद्गल अपने स्वभावको नहीं छोड़ते हैं, अतः वैसी अवस्थामें सम्यग्दृष्टि जीवोंके भी उन अतिचारोंकी सम्भावना नहीं रहती। परन्तु उनके तीव्र विपाकोदयमें वैसा संक्लेश सम्भव है, अतः उसके आश्रयसे होनेवाले अतिचारोंका परित्याग कराना उचित ही है ॥९८॥

---

१. अ यस्मा संक्लेशादयो अतिचारा। २. अ उ तंभणो। ३. अ अतोऽग्रे 'सम्यक्त्वपुद्गलानाम्। तथा' पर्यन्तः पाठस्त्रुटितोऽस्ति। ४. अ बंधइ।

नेगंतेणं चिय जे तदुदयभेया[1] कुणंति ते[2] मिच्छं ।
तत्तो हुंतिऽइयारा[3] वज्जेयव्वा पयत्तेणं ॥९९॥

नैकान्तेनैव न सर्वथैव । ये तदुदयभेदा[4] ज्ञानावरणाद्युदयप्रकाराः । कुर्वन्ति तान् सम्यक्त्व-पुद्गलान् मिथ्यात्वं, अपि तु भ्रंशनामात्रमेव । ततस्मात् ज्ञानावरणाद्युदयाद् । भवन्त्यतिचाराः शङ्कादयः, ते च वर्जयितव्याः प्रयत्नेनेति ॥९९॥

जे नियमवेयणिज्जस्स उदयओ होन्ति, तह कहं ते उ[5] ।
वज्जिज्जंति इह खलु, सुद्धेणं जीववीरिएणं ॥१००॥

स्यादेतत् ये शङ्कादयो नियमवेदनीयस्य ज्ञानावरणादेरुदयतो[6] भवन्ति । तथा तेन प्रकारेण । कथं पुनस्ते वर्जन्ते । इह प्रक्रमे प्रस्तावे खलुशब्दादन्यत्रापि चारित्रादौ तत्कर्मणो अफलत्वप्रसङ्गात्, इति आशङ्क्याह—शुद्धेन जीववीर्येण कथंचित्प्रादुर्भूतेन प्रशस्तेनात्मपरिणामेनेति ॥१००॥

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह—

कत्थइ जीवो बलीओ, कत्थइ कम्माइं हुंति बलियाइं ।
जम्हा णंता सिद्धा, चिट्ठंति भवंमि वि अणंता ॥१०१॥

आगे उसमें और भी कुछ विशेषता प्रकट की जाती है—

पूर्वोक्त ज्ञानावरणादिके जो उदयभेद हैं वे उन सम्यक्त्वपुद्गलोंको सर्वथा मिथ्यात्वरूप नहीं करते हैं—सम्यक्त्व स्वभावसे च्युत होनेरूप केवल भ्रंशना मात्र वे करते हैं। इसलिए उनके निमित्तसे वे अतिचार ही होते हैं—सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता। अतः प्रयत्नपूर्वक उन अतिचारोंका परित्याग करना चाहिए ॥९९॥

इसपर उपस्थित हुई शंकाको प्रकट कर उसका समाधान किया जाता है—

जो वे शंकादि अतिचार नियमसे अनुभव करने योग्य उन ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयसे होते हैं उन्हें कैसे छोड़ा जा सकता है ? नहीं छोडा जा सकता है। इस शंकाके समाधानमें कहा जा रहा है कि उन्हें शुद्ध जीवके सामर्थ्यसे छोड़ा जा सकता है।

विवेचन—शंकाकारका अभिप्राय है कि जब उन ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयजन्य फलको अवश्य ही भोगना पड़ता है तब उनके उदयसे होनेवाले उन अतिचारोंको कैसे छोड़ा जा सकता है ? नहीं छोड़ा जा सकता है—उन्हें सहना ही पड़ेगा। और यदि बिना अनुभव किये उन्हें छोड़ा जा सकता है तो इस प्रकारसे चारित्र आदिको दूषित करनेवाले कर्मके भी निष्फल होनेका प्रसंग दुर्निवार होगा। तब वैसी स्थितिमें उनके परित्यागका यह उपदेश निरर्थक सिद्ध होता है। इस शंकाके समाधानमें यहाँ यह कहा गया है कि किसी प्रकारसे उत्पन्न हुए जीवके प्रशस्त परिणामसे उन्हें बिना फलानुभवनके भी छोड़ा जा सकता है ॥१००॥

आगे इसीको स्पष्ट किया जाता है—

यदि कहींपर जीव बलवान् होता है तो कहींपर कर्म भी बलवान् हुआ करते हैं। यही कारण है जो अनन्त जीव मुक्तिको प्राप्त हो चुके हैं और अनन्त जीव संसारमें ही स्थित हैं।

---

१. अ तदुभयभेया । २. अ ए । ३. अ होतइयारा । ४. अ सर्वथैव ये तदुभयभेदज्ञाना° । ५. अ कहं तेहं उ । ६. अ °रुद्भवतो ।

कश्चिज्जीवो बली स्ववीर्यतः क्लिष्टकर्माभिभवेन सम्यग्दर्शनाद्यवाप्त्या अनन्तानां सिद्धत्वश्रवणात् । कश्चित्कर्माणि भवन्ति बलवन्ति यस्मादेवं वीर्यवन्तोऽपि[1] ततोऽनन्तगुणाः कर्मानुभावतः संसार एव तिष्ठन्ति प्राणिन इति । तथा चाह—यस्मादनन्ताः सिद्धास्तिष्ठन्ति । भवेऽप्यनन्ता इति ॥१०१॥ एतदेव प्रकटयति—

अच्चंतदारुणाइं कम्माइं खवित्तु जीववीरिएणं ।
सिद्धिमणंता सत्ता पत्ता जिणवयणजणिएणं ॥१०२॥

अत्यन्तदारुणानि क्लिष्टविपाकानि । कर्माणि ज्ञानावरणादीनि । क्षपयित्वा जीववीर्येण प्रलयं नीत्वा शुभात्मपरिणामेन । सिद्धिं मुक्तिम् । अनन्ताः सत्त्वाः प्राप्ताः जिनवचनजनितेन जीववीर्येण । इह वैराग्यहेतुः सर्वमेव वचनं जिनवचनमुच्यत इति ॥१०२॥

तत्तो णंतगुणा खलु कम्मेण विणिज्जिआ इह अडंति ।
सारीरमाणसाणं दुक्खाणं पारमलहंता ॥१०३॥

ततः सिद्धिमुपगतेभ्यः सकाशादनन्तगुणा एव कर्मणा विनिर्जिताः सन्त इह संसारेऽटन्ति, यस्मादनादिमतापि [1]कालेनैकस्य निगोदस्यानन्तभागः सिद्धः, [2]असङ्ख्येयाश्च निगोदा इति ।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि जीवोंमें बहुतसे इतने बलवान् होते हैं कि वे बाधक कर्मोंको नष्ट करके प्राप्त हुए सम्यग्दर्शनादि गुणोंके प्रभावसे मुक्तिको प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे अनन्ते जीव हैं जिनका वृत्तान्त शास्त्रोंमें सुना जाता है। इसके विपरीत अनन्ते जीव ऐसे भी हैं जो अपनेसे बलिष्ठ उन कर्मोंसे अभिभूत होकर संसारमें ही परिभ्रमण कर रहे हैं। ऐसे संसारमें परिभ्रमण करनेवाले जीव उन सिद्धिको प्राप्त हुए जीवोंसे अनन्त गुणे हैं ॥१०१॥

आगे इसे और भी स्पष्ट करते हुए उसी जीववीर्यको दिखलाते हैं—

जिन भगवान्‌के वचनसे—परमागमके प्रसादसे—उत्पन्न जीवके सामर्थ्यसे—अपने निर्मल आत्मपरिणामके आश्रयसे—क्लेशजनक भयानक विपाकसे युक्त कर्मोंका क्षय करके अनन्त जीव सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त हो चुके हैं। यहाँ वैराग्यके कारणभूत सभी वचनको जिनवचन समझना चाहिए ॥१०२॥

आगे कर्मकी भी बलिष्ठताको दिखलाते हैं—

ऊपर निर्दिष्ट उन मुक्तिप्राप्त जीवोंसे अनन्तगुणे ऐसे भी जीव हैं जो कर्मसे जीते जाकर—उसके वशीभूत होकर—शारीरिक और मानसिक दुःखोंके पारको न पाकर यहाँ संसारमें ही परिभ्रमण कर रहे हैं।

विवेचन—यहाँ कर्मकी बलवत्ताको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि जितने जीव अपनी आत्मशक्तिको प्रकट करके उसके आश्रयसे मुक्तिको प्राप्त हो चुके हैं उनसे भी अनन्तगुणे जीव दुर्निवार उन ज्ञानावरणादि कर्मोंसे अभिभूत होकर चतुर्गतिस्वरूप संसारमें परिभ्रमण करते हुए ज्वर व कोढ़ आदि रोग जनित अपरिमित शारीरिक कष्टोंको तथा इष्टवियोग व अनिष्टसंयोग आदि जनित मानसिक कष्टोंको भी सह रहे हैं। आगममें कहा गया है कि एक ही निगोदशरीरमें जितने जीव अवस्थित होते हैं उनके अनन्तवें भाग ही अनादि कालसे अब तक सिद्ध हुए हैं। फिर ऐसे निगोदशरीर तो असंख्यात हैं जिनमें रहनेवाले अनन्तानन्त जीव अनन्त कालमें

---

१. अ वीर्यवतोपि । २. अ निगोदस्यानंतर्भावः सिद्धो असं॰ ।

कथमटन्तीत्यत्राह—शारीरमानसानां दुःखानां पारबलममानाः। तत्र शारीराणि ज्वरकुष्ठादीनि, मानसानीष्टवियोगादीनि ॥१०३॥[1] उपसंहरन्नाह—

तम्हा निच्चसईए बहुमाणेणं च अहिगयगुणंमि ।
पडिवक्खदुगंच्छाए परिणइ आलोयणेणं च ॥१०४॥

यस्मादेवं तस्मान्नित्यस्मृत्या सदा अविस्मरणेन। बहुमानेन च भावप्रतिबन्धेन च[2]। अधिकृतगुणे सम्यक्त्वादौ। तथा प्रतिपक्षजुगुप्सया मिथ्यात्वाद्युद्वेगेन। परिणत्यालोचनेन च तेषामेव मिथ्यात्वादीनां दारुणफला एते इति विपाकालोचनेन चेति ॥१०४॥

तीत्थंकरभत्तीए सुसाहुजणपज्जुवासणाए[3] य ।
उत्तरगुणसद्धाए अपमाओ होइ कायव्वो ॥१०५॥

तथा तीर्थंकरभक्त्या परमगुरुविनयेन। सुसाधुजनपर्युपासनया च भावसाधुसेवनया। तथोत्तरगुणश्रद्धया च सम्यक्त्वे सत्यणुव्रताभिलाषेण, तेषु सत्सु[4] महाव्रताभिलाषेणेति भावः। एवमेतेन[5] प्रकारेणाप्रमादो भवति कर्तव्य एवमप्रमादवान्नियमवेदनीयस्यापि कर्मणोऽपनयति शक्तिमित्येष शुद्धस्य जीववीर्यस्य करणे उपाय इति ॥१०५॥

भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं। इसे कर्मकी ही बलवत्ता समझना चाहिए। इस प्रकार कहीं जीवकी बलवत्ता और कहीं कर्मकी बलवत्ताका विचार करनेपर उपर्युक्त शंकाका समाधान हो जाता है ॥१०३॥

अब आगेकी दो गाथाओं द्वारा इसका उपसंहार किया जाता है—

इसीलिए—उस संसारपरिभ्रमणसे छुटकारा पानेके लिए—अधिकारप्राप्त उन सम्यक्त्व आदि गुणोंके विषयमें सदा स्मरण रखने, उनके प्रति आदरका भाव रखने, उनके प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व आदिकी ओरसे उद्विग्न रहने और उनके (मिथ्यात्व आदिके) परिणाम—दुःखोत्पादकता-का विचार करनेसे प्रमादको दूर करना चाहिए ॥१०४॥ इसके अतिरिक्त—

तीर्थंकरकी भक्ति—कल्याणकारी जिनेन्द्र व सद्गुरु आदिके गुणोंमें अनुराग, उत्तम साधु-जनोंकी उपासना ओर उत्तर गुणोंकी श्रद्धासे भी प्रमादको दूर करना चाहिए।

विवेचन—यह पूर्वमें (१००) कहा जा चुका है कि जीववीर्यसे—जीवकी आत्मशक्तिके द्वारा—नियमसे अनुभवके योग्य भी कर्मके विपाकको क्षीण किया जा सकता है। वह आत्मशक्ति किस प्रकारसे प्राप्त की जा सकती है, इसे स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि मोक्षके उपायभूत सम्यक्त्व आदि गुणोंका स्मरण उनके प्रति विनयका व्यवहार, मिथ्यात्व आदि संसारपरिभ्रमणके कारणोंसे उद्वेग, उनके दुष्परिणामका विचार, वीतराग जिनेन्द्र आदि परमगुरुओंके गुणोंमें अनु-राग, उत्तम साधुजनोंकी सेवा, तथा सम्यक्त्वके प्रादुर्भूत हो जानेपर अणुव्रतोंकी अभिलाषा व उनके होनेपर महाव्रतोंकी अभिलाषा; इत्यादि ये ऐसे उपाय हैं जिनके आश्रयसे प्रमादको दूर कर उस आत्मशक्तिको प्रकट किया जा सकता है ॥१०५॥

---

१. अ ज्वरकुष्ठादीनिति उपसंहरन्नाह। २. अ भावप्रबंधेन। ३. अ सुसाहुगुणपज्जवासणाए। ४. अ सत्सु व्रताभि। ५. अ एवमनेन।

सांप्रतं द्वादशप्रकारं श्रावकधर्ममुपन्यस्यता यदुक्तं पञ्चाणुव्रतादीनीति तान्यभिधित्सुराह—

पंच उ अणुव्वयाइं थूलगपाणिवहविरमणाईणि ।
तत्थ पढमं इमं खलु पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥१०६॥

पञ्च त्वणुव्रतानि—तुरेवकारार्थः । पञ्चैव । अणुत्वमेषां सर्वविरतिलक्षणमहाव्रतापेक्षया । तथा चाह—[1]स्थूरप्राणवधविरमणादीनि स्थूरकप्राणिप्राणवधविरमणमादिशब्दात्स्थूरमृषावादावि-परिग्रहः । तत्र तेष्वणुव्रतेषु । प्रथममाद्यमिदं खल्विति इदमेव वक्ष्यमाणलक्षणं, शेषाणामस्यैव वस्तुत उत्तरगुणत्वात् । प्रज्ञप्तं वीतरागैः प्ररूपितमर्हद्भिरिति ॥१०६॥

थूलपाणि[ण] वहस्स[स्स]विरई, दुविहो अ सो वहो होइ ।
संकप्पारंभेहि य, वज्जइ संकप्पओ विहिणा ॥१०७॥

स्थूरकप्राणवधस्य[2] विरतिः स्थूरा एव स्थूरका द्वीन्द्रियादयस्तेषां प्राणाः शरीरेन्द्रियोच्छ्वा-सायुर्बललक्षणास्तेषां वधः जिघांसनं तस्य विरतिर्निवृत्तिरित्यर्थः । द्विविधश्चासौ वधो भवति । कथम् ? संकल्पारम्भाभ्याम् । तत्र व्यापादनाभिसंधिः संकल्पः, कृष्यादिकस्त्वारम्भः । तत्र वर्ज-

अब बारह प्रकारके श्रावक धर्मके निरूपणका उपक्रम करते हुए पूर्वमें (६) जिन अणु-व्रतादिका निर्देश किया गया था उनमें प्रथमतः पांच अणुव्रतोंको प्रकट किया जाता है—

स्थूल प्राणिवधविरमणको आदि लेकर अणुव्रत पांच ही है । उनमें वीतराग जिनके द्वारा प्रथम अणुव्रत इसे कहा गया है जिसका कि स्वरूप आगेकी गाथामें निर्दिष्ट किया जा रहा है ।

विवेचन—स्थूल प्राणिवधविरमण, स्थूल मृषावादविरति, स्थूल अदत्तादानविरति, परदार-परित्याग व स्वदारसन्तोष तथा पांचवां इच्छापरिमाण इस प्रकार ये वे पांच अणुव्रत हैं । इन व्रतोंमें जो 'अणु' यह विशेषण दिया गया है वह सर्वविरतिरूप महाव्रतोंकी अपेक्षासे दिया गया है । उसका अभिप्राय यह है कि महाव्रतोंमें जिस प्रकारसे प्राणिवधादिरूप पांच पापोंका परि-त्याग सर्वथा—मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमोदनासे—किया जाता है उस प्रकार प्रकृत अणुव्रतोंमें उनका सर्वथा परित्याग नहीं किया जाता, किन्तु देशतः ही उनका त्याग किया जाता है । कारण यह कि आरम्भादि गृहकार्योंको करते हुए गृहस्थके उनका पूर्ण रूपसे त्याग करना शक्य नहीं है, वह तो स्थूल रूपमें ही उनका परित्याग कर सकता है ॥१०६॥

जैसा कि पूर्व गाथामें संकेत किया गया है, अब आगेकी गाथा द्वारा उस प्रथम अणुव्रतका स्वरूप कहा जाता है—

स्थूल प्राणियोंके वधसे विरत होनेका नाम स्थूलप्राणिवधविरति अणुव्रत है । वह वध संकल्प और आरम्भके भेदसे दो प्रकारका है । उसमें प्रकृत प्रथम अणुव्रतका धारक श्रावक आगमोक्त विधिके अनुसार संकल्पसे ही उस वधका परित्याग करता है ।

विवेचन—स्थूल नामकर्मके उदयसे जिनका शरीर स्थूल (प्रतिघात सहित) होता है उन्हें स्थूल और सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे जिनका शरीर सूक्ष्म (प्रतिघात रहित) होता है उन्हें सूक्ष्म कहा जाता है । प्रकृतमें स्थूल प्राणियोंसे अभिप्राय द्वीन्द्रियादि जीवोंका है । उनके शरीर, इन्द्रिय, उच्छ्वास, आयु और बल प्राणोंके विघातका परित्याग करना, इसे स्थूल प्राणवधविरति कहते हैं । यह उन पांच अणुव्रतोंमें प्रथम है । प्रथम अणुव्रती श्रावक उस वधका परित्याग संकल्पसे ही

१. अ 'स्थूरप्राणवध' इत्यतोऽग्रेऽग्रिम'प्राणवध' पर्यन्तः' पाठः स्खलितोऽस्ति । २. अ प्राणिवेध्यस्य ।

यति संकल्पतः परिहरति असौ श्रावकः प्राणवधं[1] संकल्पेन, न त्वारम्भतोऽपि, तत्र नियमात् प्रवृत्तेः। विधिना प्रवचनोक्तेन वर्जयति, न तु यथाकथंचिदिति ॥१०७॥ स चायं विधिः—

उवउत्तो गुरुमूले संविग्गो इत्तरं व इयरं वा।
अणुदियहमणुसरंतो पालेइ विसुद्धपरिणामो ॥१०८॥

उपयुक्तोऽन्तःकरणेन समाहितः। गुरुमूले आचार्यसन्निधौ। संविग्नो मोक्षसुखाभिलाषी न तु रिद्धिकामः। इत्वरं चातुर्मासादिकालावधिना। इतरद्वा यावत्कथिकमेव। प्राणवधं वर्जयतीति वर्तते। एवं वर्जयित्वानुदिवसमनुस्मरन्, स्मृतिमूलो धर्म इति कृत्वा। पालयति विशुद्धपरिणामः, न पुनस्तत्र चेतसापि प्रवर्तत इति ॥१०८॥ अत्राह[2] —

देसविरइपरिणामे सइ[3] किं गुरुणा फलस्सभावाओ।
उभयपलिमंथदोसो निरत्थओ मोहलिंगं तु ॥१०९॥

इह श्रावको यदाणुव्रतं प्रतिपद्यते तदास्य देशविरतिपरिणामः स्याद्वा न वा? किं चात[4] उभयथापि दोषः। तमेवाह। देशविरतिपरिणामे सति। स्वत एव तथाविधाणुव्रतरूपाध्यवसाये सति किं गुरुणा। किमाचार्येण यत्संनिधौ तद्गृह्यते। कुतः? फलस्याभावात्तत्संनिधावपि। प्रतिपत्तुः स एव फललाभः, स च स्वत एव संजात इत्यफला[5]गुरुमार्गणा। किं च उभयपलिमन्थ-

करता है। निरन्तर आरम्भमें प्रवृत्त रहनेवाला वह गृहस्थ श्रावक आरम्भसे उसका परित्याग नहीं कर सकता है। प्राणिविघातका जो अभिप्राय रहता है उसका नाम संकल्प है। आरम्भसे अभिप्राय खेती आदि कार्योंका है। इस प्रकार गृहमें स्थित रहते हुए श्रावक उस आरम्भको नहीं छोड़ सकता है, अतः उसके आरम्भजनित हिंसाका होना अनिवार्य है। हाँ, यह अवश्य है कि आरम्भ कार्यको करते हुए भी वह उसे सावधानीके साथ करता है, तथा निरर्थक आरम्भसे भी बचता है। पर संकल्पपूर्वक वह कभी प्राणिविघात नहीं करता इस प्रकारसे उसका वह स्थूल प्राणवधविरति अणुव्रत सुरक्षित रहता है ॥१०७॥

अब जिस विधिके साथ व्रतको स्वीकार किया जाता है उस आगमोक्त विधिका निर्देश किया जाता है—

व्रतका इच्छुक श्रावक मोक्षसुखकी इच्छासे गुरुके पादमूलमें उपयोगसे युक्त (सावधान) होकर नियत काल—चातुर्मास आदि—के लिए अथवा जीवन पर्यन्तके लिए स्वीकृत व्रतका प्रतिदिन स्मरण करता हुआ पालन करता है ॥१०८॥ यहाँ शंका—

व्रतके इच्छुक श्रावकके देशविरति परिणामके होनेपर गुरुसे क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं, क्योंकि उसका कुछ फल नहीं है। इसके अतिरिक्त गुरु और शिष्य दोनोंके ही उस व्यर्थ व्यापारका दोष भी होता है, जो निरर्थक व मोहका हेतु है।

विवेचन—यहाँ शंकाकारका कहना है कि इस प्रथम अणुव्रतके इच्छुक श्रावकके उस देश-विरतिके ग्रहणका परिणाम है या नहीं है। यदि है तो फिर आचार्यके समीपमें उसके ग्रहण करने-का क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं, क्योंकि वैसे परिणामके होनेपर गुरुकी समीपताके बिना भी वह उसका पालन करनेवाला ही है। इससे गुरुका व्रतको ग्रहण करना और शिष्यका गुरुके

१. अ प्राणिवधं। २. अ प्रवर्त्तत इत्यताह। ३. अ सति। ४. अ 'चात' नास्ति। ५. अ भावात्सन्निधावपि प्रतिपत्तु स एव संज्ञान इत्यफला।

दोषः तथाविधाणुव्रतरूपाध्यवसाये सत्येव गुरुसंनिधौ तत्प्रतिपत्त्यभ्युपगमे उभयोराचार्यशिष्योर्मुधाव्यापारदोषः। स च निरर्थको मोहलिंग एव न हि अमूढस्य प्रयोजनमन्तरेण प्रवृत्तिरिति ॥१०९॥

द्वितीयं विकल्पमुररीकृत्याह—

दुन्हवि[1] य मुसावाओ तयभावे पालणस्स वि अभावो।
न य परिणामेण[2] विणा इच्छिज्जइ पालणं समए ॥११०॥

यदि न देशविरतिपरिणाम एव तर्हि द्वयोरपि प्रतिपत्तृप्रतिपादकयोः शिष्याचार्ययोः। मृषावादः शिष्यस्यासदभ्युपगमाद्गुरोश्चासदभिधानादिति। किं च तदभावे देशविरतिपरिणामस्याभावे। पालनस्यापि व्रतसंरक्षणस्याप्यभावः। एतदेव स्पष्टयन्ति—न च नैव। परिणामेनान्तरोदितेन। विना इष्यतेऽभ्युपगम्यते। पालनं संरक्षणं, व्रतस्येति प्रक्रमाद् गम्यते। समये सिद्धान्ते, परमार्थेन तस्यैव व्रतत्वादिति ॥११०॥

एवं पराभिप्रायमाशङ्क्य पक्षद्वयेऽप्यदोष इत्यावेदयन्नाह—

समीपमें उसे ग्रहण करना, इस प्रकारकी वह दोनोंकी प्रवृत्ति निरर्थक सिद्ध होनेके साथ अज्ञानताकी भी सूचक है, क्योंकि कोई भी विचारशील व्यक्ति प्रयोजनके बिना किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता है ॥१०९॥

आगे शंकाकार दूसरे पक्षमें भी दोषको दिखलाता है—

वह कहता है कि यदि स्वीकृत देशविरतिके पालनका उसका परिणाम नहीं है तो शिष्य और गुरु दोनोंके ही असत्यभाषणका प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि उस व्रतके पालनके परिणामके अभावमें उसका पालन करना सम्भव नहीं है। आगममें भी परिणामके बिना व्रतका पालन स्वीकार नहीं किया गया है।

विवेचन—व्रतके इच्छुक श्रावकके उसके पालनका परिणाम है या नहीं, उन दो विकल्पोंमें-से प्रथम विकल्पमें गुरुको समीपताको शंकाकार निरर्थक बता चुका है। अब दूसरे विकल्पमें भी दोषको दिखलाते हुए वह कहता है कि यदि व्रतके पालनका परिणाम नहीं है तो गुरुके समीपमें व्रतके ग्रहण करनेपर उन दोनोंके असत्यवादका प्रसंग प्राप्त होता है। कारण यह कि उस देशविरति व्रतके परिणामके बिना ही जब शिष्य उसे ग्रहण कर रहा है तब स्पष्ट ही उसका वह आचरण असत्यतासे परिपूर्ण है। साथ ही व्रतपालनका परिणाम न होनेपर भी गुरु जो उसे व्रत दे रहा है, यह उसका भी प्रकटमें असत्य आचरण है। इसके अतिरिक्त जब शिष्यके उस व्रतके पालनका परिणाम ही नहीं है तब वह उसका पालन भी क्यों करेगा? नहीं करेगा। आगममें भी परिणामके बिना व्रतका ग्रहण करना व कराना स्वीकार नहीं किया गया। इस प्रकार व्रतको ग्रहण करनेवाले श्रावकके चाहे उसके पालनका परिणाम हो भी और चाहे वह न भी हो, दोनों ही अवस्थामें गुरुकी समीपता निरर्थक सिद्ध होती है। इस प्रकारसे शंकाकारने गुरुके समीपमें व्रतके ग्रहणकी निरर्थकताको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है ॥११०॥

अब शंकाकारके द्वारा उभय पक्षमें दिये गये दोषोंका निराकरण करते हुए गुरुकी समीपताका प्रयोजन बतलाते हैं—

---

१. अ दोण्हवि। २. अ ण परि°।

संते विय परिणामे गुरुमूलपवज्जणंमि एस गुणो ।
दढया[1] आणाकरणं कम्मखओवसमवुड्ढी य ॥१११॥

सत्यपि च परिणामे देशविरतिरूपे। गुरुमूलप्रतिपादने आचार्यसन्निधौ प्रतिपत्तिकरणे। एष गुण एषोऽभ्युच्चयः। यदुत दृढता तस्मिन्नेव गुणे दार्ढ्यं। तथाज्ञाकरणं अर्हदाज्ञासंपादनम्, यतस्तस्यैव उपदेशो गुरुसन्निधौ व्रतग्रहणं कार्यमिति। तथा कर्मक्षयोपशमवृद्धिश्च तथाकरणे दार्ढ्याज्ञासंपादनशुभपरिणामतः अधिकतरक्षयोपशमोपपत्तेरिति ॥१११॥

इय अहिए फलभावे न होइ उभयपलिमंथदोसो उ ।
तयभावम्मि वि दुन्हवि[2] न मुसावाओवि गुणभावा ॥११२॥

इय एवमधिके फलभावे पूर्वावस्थातः अभ्यधिकतरायां फलसत्तायाम्, न भवति न जायते। उभयपलिमन्थदोषः शिष्याचार्ययोर्मुधाव्यापारदोष[3] इत्यर्थः। एवं परिहृतः प्रथमो विकल्पः। द्वितीयमधिकृत्याह—तदभावेऽपि देशविरतिपरिणामाभावेऽपि। द्वयोरपि प्रत्याख्यातृ-प्रत्याख्यापयित्रोर्गुरु-शिष्ययोः। न मृषावादोऽपि प्राक्चोदितः। कुतो गुणभावाद्गुणसंभवादिति ॥११२॥

गुणभावमेवाह—

तग्गहणउ च्चिय तओ जायइ कालेण असढभावस्स ।
इयरस्स न देयं चिय सुद्धो छलिओ वि जइ असढो ॥११३॥

शिष्यके देशविरतिके पालनका परिणाम होनेपर भी गुरुके समीपमें उसे स्वीकार करनेपर यह गुण (लाभ) है—ऐसा होनेपर उक्त व्रतके परिपालनमें दृढ़ता होती है, साथ ही उससे जिनाज्ञाका भी पालन हो जाता है। कारण यह कि 'गुरुके समीपमें ही व्रतको स्वीकार करना चाहिए' ऐसी जिनागमकी आज्ञा है। इसके अतिरिक्त दृढ़तापूर्वक व्रतके पालन करने और उस जिनाज्ञाका सम्पादन करनेसे कर्मके क्षयोपशममें वृद्धि भी होती है ॥१११॥

इस प्रकार गुरुके समीपमें व्रतके ग्रहणके लाभको दिखलाकर आगे शंकाकारके द्वारा निर्दिष्ट गुरु व शिष्य दोनोंके उस व्यापारकी निरर्थकता व असत्यभाषण दोषोंका निराकरण किया जाता है—

इस प्रकार गुरुके समीपमें व्रतके ग्रहणसे अधिकतर फलके सद्भावमें गुरु व शिष्य दोनोंके उस व्यापारकी निरर्थकताका वह दोष प्रकृतमें सम्भव नहीं है। व्रतपरिपालनपरिणामके न होनेपर जो दूसरे पक्षमें दोनोंके लिए असत्यवादका दोष प्रकट किया गया था वह भी सम्भव नहीं है। कारण यह कि गुरुके समीपमें व्रतके ग्रहणसे गुणकी ही सम्भावना विशेष है, इसीलिए दोनोंके उस कार्यको असत्यतापूर्ण नहीं कहा जा सकता ॥११२॥

आगे वह गुण कौन-सा है, इसे ही स्पष्ट किया जाता है—

यदि व्रतको ग्रहण करनेवाला श्रावक शठता (धूर्तता) से रहित है तो विधिपूर्वक गुरुके समीपमें उसके ग्रहणसे ही समय पाकर उसके उस स्वीकृत व्रतके पालनका वह परिणाम भी हो सकता है। इतरको—शठतासे युक्त धूर्त व्यक्तिको—व्रतका देना अवश्य योग्य नहीं है। पर यदि कोई धूर्त प्रत्याख्यान करानेवाले सरल हृदय साधुको धोखा देता है तो भी वह साधु शठतासे रहित होनेके कारण शुद्ध ही है—उसे व्रतके देनेमें कोई दोष नहीं है।

---

१. म. दृढया। २. अ दोह्वि। ३. अ °र्मुधाव्याव्यार।

तद्ग्रहणत एव विधिना गुरुसन्निधौ व्रतग्रहणादेव । तको जायते कालेन असौ देशविरतिपरिणामो भवति कालेन तत् गुरुसन्निधिकारणत्वादित्यर्थः । किंविशिष्टस्य ? अशठभावस्य श्राद्धस्य सत्त्वस्य । शठविषयं दोषमाशङ्क्याह—इतरस्य शठस्य[1] न देयमेव—व्रतम्, अस्थानदाने भगवदाशातनाप्रसङ्गात् । तदज्ञानविषयं दोषमाशङ्क्याह[2]— शुद्धः छलितोऽपि यतिरशठः छद्मस्थप्रत्यपेक्षणया[3] कृतयत्नो मायाविना कथंचिद्ध्वंसितोऽपि विप्रतारितोऽप्यार्जवः साधुरदोषवानेव, आज्ञानतिक्रमादिति ॥११३॥

अपरस्त्वाह—

थूलगपाणाइवायं पच्चक्खंतस्स कह न इयरंमि ।
होइणुमइ जइस्स वि तिविहेणं[4] तिदंडविरयस्स ॥११४॥

स्थूरकप्राणातिपातं द्वीन्द्रियादिप्राणजिघांसनम् । प्रत्याचक्षाणस्य तद्विषयां निवृत्तिं कारयतः । कथं नेतरस्मिन् कथं न सूक्ष्मप्राणातिपाते । भवत्यनुमतिर्यतेर्भवत्येवेत्यभिप्रायः[5] । किंविशिष्टस्य यतेस्त्रिविधेन त्रिदण्डविरतस्य मनसा वाचा कायेन सावद्यं प्रति कृत-कारितानुमति-

विवेचन—इन सबका अभिप्राय यह है कि आचार्यके समीपमें विधिपूर्वक व्रतके ग्रहण करने पर उसका परिपालन दृढ़ताके साथ होता है । साथ ही जिनागमका जो यह विधान है कि गुरुकी साक्षीमें व्रतको ग्रहण करना चाहिए, उसका अनुसरण करनेसे जिनदेवके प्रति श्रद्धाभाव भी प्रगट होता है । इस सरल परिणतिके कारण बाधक कर्मका कुछ विशेष क्षयोपशम भी होता है । यदि कदाचित् व्रतको स्वीकार करनेवालेका उसके पालनका परिणाम भी न हो तो भी यदि वह सरलहृदय है तो गुरुकी समीपतामें ग्रहण करनेसे कभी उसका परिणाम भी उसके पालनका हो सकता है । हाँ, यदि वह धूर्त है और गुरुको उसकी धूर्तताका पता लग जाता है तो निश्चित ही उसे व्रत नहीं ग्रहण कराना चाहिए, अन्यथा जिनकी आशातना प्रसंग दुर्निवार होगा । पर यदि सरल हृदय साधुको उसकी धूर्तताका पता नहीं चलता है तो व्रतके ग्रहण करानेमें वह विशुद्ध परिणामवाला होनेके कारण दोषका भागी नहीं होता । इस प्रकार गुरुके समीपमें व्रतके ग्रहणसे इतने लाभके होनेपर गुरु व शिष्यकी इस प्रक्रियाको न तो व्यर्थ ठहराया जा सकता है और न उनके इस विशुद्ध आचरणमें असत्यवादका भी प्रसंग दिया जा सकता है ॥१११-१३॥

इस प्रसंगमें अन्य कोई शंका करता है—

जो यति तीन प्रकारसे त्रिदण्डसे विरत है—मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनसे पापका परित्याग कर चुका है—वह जब किसीको स्थूल प्राणियोंके प्राणविघातका प्रत्याख्यान कराता है तब उसकी अनुमति इतरमें—स्थूल प्राणियोंसे भिन्न सूक्ष्म प्राणियोंके विघातमें—कैसे अनुमति न होगी ?

विवेचन—जो महाव्रती मुनि मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे स्वयं समस्त सावद्य कर्मका परित्याग कर चुका है वह यदि किसीको स्थूल प्राणियोंके विघातका व्रत ग्रहण कराता है तो उससे यह सिद्ध होता है कि उसकी सूक्ष्म प्राणियोंके विघातविषयक अनुमति है । अन्यथा वह स्थूलोंके साथ सूक्ष्म प्राणियोंकी भी हिंसाका परित्याग क्यों नहीं कराता ।

१. अ इतरशठस्य । २. अ प्रसंगात् विषमाशक्याह । ३. अ यतिरशब्दः छद्मस्थप्रपेक्षणया । ४. अ होयणुमतो जइस्सा तिविहेण । ५. अ भवत्यनुमतिर्भवत्ये ।

विरतस्य। तथा चान्यत्रापि निषिद्ध एव यतेरेवं जातीयोऽर्थः। यत उक्तम्—'माणुमती केरिसा तुम्हे त्ति ॥११४॥

अत्र[1] गुरुराह—

अविहीए होइ च्चिय विहीइ नो सुयविसुद्धभावस्स।
गाहावइसुअचोरग्गहण-मोअणा इत्थ नायं तु ॥११५॥

अविधिना भवत्येव अणुव्रतग्रहणकाले सम्यगनाख्याय संसारासारताख्यापनपुरःसरं साधुधर्मं प्रमादतोऽणुव्रतानि यच्छतो भवत्येवानुमतिः। विधिना पुनः साधुधर्मकथनपुरःसरेण। नेति न भवत्यनुमतिः। किंविशिष्टस्य ? श्रुतविशुद्धभावस्य तत्त्वज्ञानान्मध्यस्थस्येत्यर्थः। अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह—गृहपतिसुतचोरग्रहण-मोचना अत्र ज्ञातमिह[2] उदाहरणमित्यर्थः। तच्चेदम्—

वसंतउरं नगरं, जियसत्तू राया, धारिणी देवी, दणट्ठातिसएग (?) परितुट्ठो[3] से भत्ता।

इस प्रकार सूक्ष्म प्राणियोंकी हिंसाविषयक अनुमतिके होनेपर उसका महाव्रत भंग होता है। यह शंकाकारका अभिप्राय है ॥११४॥

आगे इस शंकाका समाधान किया जाता है—

यदि स्थूल प्राणियोंके घातका प्रत्याख्यान करानेवाला वह यति आगमोक्त विधिके बिना उसे उसका प्रत्याख्यान कराता है तो निश्चित ही उसकी सूक्ष्म प्राणियोंके घातमें अनुमति होती है। पर श्रुतसे विशुद्ध अन्तःकरणवाला वह यदि विधिपूर्वक ही उसे उसका प्रत्याख्यान कराता है तो सूक्ष्म प्राणियोंके घातमें उसकी अनुमति नहीं हो सकती। यहाँ चोरके रूपमें पकड़े गये गृहपतिके पुत्रोंके ग्रहण और मोचनका उदाहरण है।

विवेचन—प्रत्याख्यान करानेकी सामान्य विधि यह है कि जो आत्महितैषी व्रतको ग्रहण करना चाहता है उसे आचार्य प्रथमतः संसारकी असारताको दिखलाकर साधुधर्मका उपदेश दे। इसपर यदि व्रतग्रहणका इच्छुक श्रावक साधुधर्मके ग्रहणमें अपनी असमर्थताको प्रकट करता है तो फिर उस स्थितिमें उसे अणुव्रतोंका उपदेश देकर प्रथम अणुव्रतको ग्रहण कराते हुए स्थूल प्राणियोंकी हिंसाका परित्याग करावे। इस विधिके अनुसार ही यदि आचार्य प्रथम अणुव्रतमें प्राणियोंकी हिंसाका परित्याग कराता है तो उसकी सूक्ष्म प्राणियोंके घातमें अनुमति नहीं हो सकती। पर यदि वह इस प्रत्याख्यान विधिकी उपेक्षा कर उसे प्रारम्भमें ही अणुव्रतोंका उपदेश देते हुए स्थूल प्राणियोंकी हिंसाका परित्याग कराता है तो उसके लिए अवश्य ही उस सूक्ष्म जीवोंके घातविषयक अनुमतिका प्रसंग प्राप्त होता है। आचार्य अमृतचन्द्रने प्रथमतः मुनिधर्मका उपदेश न देकर गृहस्थधर्मका उपदेश करनेवाले साधुको अल्पबुद्धि कहकर उसे निग्रहका पात्र बतलाया है (पु. सि. १७-१८)। विधिपूर्वक स्थूल जीवोंकी हिंसाका प्रत्याख्यान करानेवाले आचार्यकी अनुमति सूक्ष्म प्राणियोंके घातमें कैसे नहीं होती है, इसके स्पष्टीकरणमें यहाँ एक सेठके छह पुत्रोंका उदाहरण दिया जाता है जो चोरीके अपराधमें पकड़े गये थे व जिनमेंसे एक बड़े पुत्रको ही सेठ छुड़ा सका था। वह कथा इस प्रकार है—

वसन्तपुर नगरमें एक जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। उसकी पत्नीका नाम

---

१. अ 'अत्र' नास्ति। २. अ मोचनार्थं ज्ञातमिह। ३. अ देवी णट्ठा तुसिएण परितुट्ठा।

भणिया य णेण, भण किं ते पियं कीरउ। तीए भणियं—कोमुदीए अंतेउराणं अहिच्छापयारेण निसि ऊस्सवपसाउत्ति। पडिसुयमणेण। समागओ सो दियहो। कारावियं च अणेण भोसणं जहा जो एत्थ अज्ज पुरिसो वसिहो तस्स मए सारीरो णिग्गहो कायव्वो, उग्गदंडो य रायत्ति। ततो णिग्गया[1] सव्वे पुरिसा। णवरमेगस्स सेट्ठिणो छ पुत्ता संववहारवावडयाए लहुं ण णिग्गया। ढक्किया पओलिओ[2]। भएण तत्थेव[3] लुसिया वत्तो रयणीऊसवो। बीयदिवहे य पउत्ता चारिया गवेसह को ण णिग्गउत्ति[4]। तेहिं निउणबुद्धीए गवेसिऊण साहियं रन्नो, अमुगसेट्ठिस्स छसुया ण णिग्गय त्ति। कुविओ राया। भणियं चाणेण वावाएह ते[5] दुरायारे। गहिया[6] ते[7] रायपुरिसेहिं। एयं वायं णिऊण णरवईसमीवं समागओ तेसिं पिया[8]। विन्नत्तो य णेण[9] राया—देव, खमसु एगमवराहं, मुयह एक्कवारं मम एए मा अन्नो वि एवं काहित्ति ण मुयई राया। पुणो पुणो भन्नमाणेण मा कुलखओ भवउ त्ति मुक्को से जेट्ठपुत्तो, वावाइया इयरे। ण य समभावस्स सव्वपुत्तेसु सेट्ठिस्स सेसवावायणेसु अणुमई त्ति। एस दिट्ठंतो। इमो एयस्स उवणओ—रायातुल्लो सावगो, वावाइज्जमाणवणियतुल्ला जीवणिकाया, पियतुल्लो साहू, विन्नवणतुल्ला अणुवयगहणकाले साधुधम्मदेसणा। एवं च असुयणे वि सावगस्स, ण साधुस्स

धारिणी देवी थी। एक समय रानी धारिणी देवीके दनट्ठातिशय(?)से सन्तुष्ट होकर राजाने उससे पूछा कि बोल तेरा कौन-सा अभीष्ट पूरा किया जावे? इसपर उसने कहा कि पूर्णिमाके दिन रातमें इच्छानुसार घूम-फिरकर अन्तःपुरकी रानियोंको कौमुदी (रजनी) उत्सव मनानेकी प्रसन्नता प्रकट कीजिए। राजाने उसे स्वीकार कर लिया। वह उत्सवका दिन आ गया। तब राजाने नगरमें यह घोषणा करा दी कि आज जो पुरुष यहाँ रहेगा उसे मैं शारीरिक दण्ड कराऊँगा जो भयानक होगा। राजाकी इस घोषणाको सुनकर सब पुरुष नगरसे निकल गये, केवल एक सेठके छह पुत्र व्यवहार कार्यमें व्यापृत होनेसे शीघ्र नहीं निकल सके। पश्चात् जब उन्होंने राजाकी उस घोषणापर ध्यान दिया तब भयभीत होकर वे वहीं छिप गये। रजनी उत्सव समाप्त हो गया। दूसरे दिन गुप्तचरोंको इस बातके खोजनेमें प्रवृत्त किया गया कि कौन पुरुष नगरसे नहीं निकला है। उन्होंने अपने बुद्धिचातुर्यसे खोजकर राजासे कह दिया कि अमुक सेठके छह पुत्र नहीं निकले। इसपर राजा क्रोधको प्राप्त हुआ। तब उसने कहा कि उन दुराचारियोंको मार डालो। तदनुसार राजपुरुषोंने उनको पकड़ लिया। इस वृत्तको जानकर उनका पिता राजाके समीप गया। उसने राजासे प्रार्थना की कि हे देव! इनके एक अपराधको क्षमा कर दीजिए और इन मेरे पुत्रोंको छोड़ दीजिए। परन्तु राजा 'अन्य भी कोई ऐसे अपराधको न करे' इस विचारसे उन्हें नहीं छोड़ रहा था। जब सेठने बार-बार कहा तब 'वंशका क्षय न हो' इस विचारसे राजाने उसके बड़े पुत्रको छोड़ दिया और शेष पाँच पुत्रोंको प्राणदण्ड दे दिया। सेठ अपने उन छहों पुत्रोंमें समान अनुराग रखता था। पर राजाने जब उन सबको न छोड़ा तब सेठने एक बड़े पुत्रको छुड़ाया। इससे सेठकी अन्य पुत्रोंके घातमें अनुमति नहीं रही, बाध्य होकर ही उसे एक पुत्रको छुड़ाना पड़ा। यह दृष्टान्त है। इसका उपनय इस प्रकार है—प्रकृतमें श्रावक राजाके समान है, जीवनिकाय मारे जानेवाले सेठ पुत्रोंके समान हैं, साधु पिताके समान है तथा अणुव्रत ग्रहणके समयमें साधुके द्वारा दिया जानेवाला उपदेश सेठकी विज्ञप्तिके समान है। इस प्रकार श्रावकके असुजन (धूर्त) होनेपर

१. अ उग्रदंओराय त्ति णिग्गया। २. अ ढक्कीया पलीउ। ३. अ तत्थेण। ४. अ को णिग्रउत्ति। ५. अ 'ते' नास्ति। ६. अ गहियो राय°। ७. अ 'ते' नास्ति। ८. अ समागउ सिंयिया। ९. अ य णेय।

दोसो। न चैतत्स्वमनीषिकया परिकल्पितम्। उक्तं च सूत्रकृताङ्गे—गाहावइसुयचोरग्गहणविमोक्खणयाएत्ति। एतत्संग्राहकं चेदं गाथात्रयम्—

देवीतुट्ठो राया ओरोहस्स निसि ऊसवपसाओ।
घोसण नरनिग्गमणं छव्वणियसुयाणनिखेवो ॥११६॥
चारियकहिए वज्झा मोएइ पिया न मिल्लइ[1] राया।
जिट्ठमुयणे समस्स उ नाणुमई तस्स सेसेसु ॥११७॥
राया सड्ढो वणिया काया साहू य तेसि पियतुल्लो।
मोयइ अविसेसेणं न मुयइ सो तस्स किं इत्थ ॥११८॥

एतद्गतार्थमिति न व्याख्यायते णवरमोरोहो अंतेउरं भन्नइ।

सांप्रतमन्यद्वादस्थानकम्[2]—

भी वह दोष उस श्रावकका ही है, साधुका कुछ दोष नहीं है। यह वृत्तान्त कुछ हमारी बुद्धिके द्वारा कल्पित नहीं है, क्योंकि सूत्रकृतांगमें कहा भी है—गाहावइसुयचोरग्गहणविमोक्खणयाएत्ति।

इस वृत्तान्तकी संग्राहक ये तीन गाथाएँ हैं—

राजा अपनी पटरानीपर सन्तुष्ट हुआ, इससे उसने उसकी इच्छानुसार रातमें उत्सव मनानेके विषयमें अन्तःपुरको प्रसन्नता प्रकट की। इसके लिए उसने पुरुषोंके लिए नगरसे बाहर निकल जानेके विषयमें घोषणा करा दी। उस समय छह वणिक्पुत्र नगरके बाहर नहीं निकल सके ॥११६॥

गुप्तचरोंके कहनेपर राजाने उनका वध करनेकी आज्ञा दे दी। तब पिता उनको छुड़ाता है, पर राजा उन्हें नही छोड़ता है। तब सब पुत्रोंके विषयमें समान भाव रखनेवाला सेठ ज्येष्ठ पुत्रको छुड़ाता है। इससे उसकी शेष पांच पुत्रोके वधमें कुछ अनुमति नहीं रही ॥११७॥

राजा श्रावक जैसा है, वणिक्पुत्र जीवनिकाय जैसे हैं, साधु उनके पिता जैसा है। पिता समान रूपसे सबको छुड़ाना चाहता है, पर राजा नही छोड़ता है। इस परिस्थितिमें सेठका क्या दोष है? अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सेठ अपने सभी पुत्रोंको छुड़ाना चाहता है, पर उसके बहुत प्रार्थना करनेपर भी जब राजा उन्हें नही छोड़ता है तब सब पुत्रोंमें समबुद्धि होता हुआ भी वह एक बड़े पुत्रको ही छुड़ाता है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी अन्य पुत्रोंके वध करानेमें अनुमति रही है। ठीक इसी प्रकार साधु श्रावकसे स्थूल व सूक्ष्म सभी जीवोंके वधको छुड़ाना चाहता है, पर श्रावक जब समस्त प्राणियोंके वधके छोड़नेमें अपनी असमर्थता प्रकट करता है तब वह उससे स्थूल प्राणियोंके ही वधका प्रत्याख्यान कराता है। इससे समस्त प्राणियोंमें समबुद्धि उस साधुके अन्य सूक्ष्म प्राणियोंके वधविषयक अनुमतिका प्रसंग कभी भी नहीं प्राप्त हो सकता ॥११८॥

अब जिनको उक्त त्रस प्राणियोंके घातका वह व्रत अभीष्ट नहीं है उनके अभिप्रायको स्पष्ट किया जाता है—

---

१. अ ण मेल्लई। २. अ °द्वादशकस्थानं।

तसपाणघायविरई तत्तो थावरगयाण वहभावा ।
नागरगवहनिवित्तीनायाओ केइ नेच्छंति[1] ॥११९॥

त्रसप्राणघातविरति[2] द्वीन्द्रियादिप्राणव्यापत्तिनिवृत्तिम् । ततस्तस्मात् त्रसकायात्[3] । स्थावरगतानां पृथिव्यादिसमुत्पन्नानाम् । वधभावाद्व्यापत्तिसंभवान्नागरकवधनिवृत्तिज्ञाततो नागरकवधनिवृत्त्युदाहरणेन । केचन वादिनो नेच्छन्ति नाभ्युपगच्छन्तीति गाथाक्षरार्थः ॥११९॥

भावार्थं त्वाह—

पच्चक्खायंमि इहं नागरगवहम्मि निग्गयं पि तओ ।
तं वहमाणस्स न किं जायइ वहविरइभंगो उ ॥१२०॥

प्रत्याख्याते इह परित्यक्ते अत्र । कस्मिन् ? नागरकजिघांसने । निर्गतमपि निःक्रान्तमपि । ततो नगरात् । तं नागरकम् । घ्नतो व्यापादयतोऽन्यत्रापि । न किं जायते वधविरतिभङ्गः प्रत्याख्यानभङ्गो जायत एवेति ॥१२०॥

इत्थं दृष्टान्तमभिधाय अधुना दार्ष्टान्तिकयोजनां कुर्वन्नाह—

इय अविसेसा तसपाणघायविरइं काउ तं तत्तो ।
थावरकायमणुगयं वहमाणस्स धुवो भंगो ॥१२१॥

इय एवमविशेषात्सामान्येनैव त्रसप्राणघातविरतिमपि कृत्वा तं त्रसम् । ततस्त्रसकायात् द्वीन्द्रियादिलक्षणात् । स्थावरकायमनुगतं विचित्रकर्मपरिणामात्पश्चात्पृथिव्यादिषूत्पन्नम् । घ्नतो व्यापादयतो ध्रुवो भङ्गोऽवश्यमेव भङ्गो निवृत्तेरिति । संभवति चैतद्यत्त्रसोऽपि मृत्वा श्रावकारम्भविषये स्थावरः प्रत्यागच्छति, स च तं व्यापादयतीति ॥१२१॥

ततश्च विशेष्यप्रत्याख्यानं कर्तव्यमनवद्यत्वादिति । आह च—

कितने ही वादी नागरिकवधकी निवृत्तिके उदाहरणसे उस त्रस प्राणियोंके घातकी विरतिको इसलिए नहीं स्वीकार करते हैं कि उससे त्रस अवस्थाको छोड़कर स्थावरोंमें उत्पन्न हुए उन त्रस जीवोंके घातकी सम्भावनासे स्वीकृत व्रत भंग हो सकता है ॥११९॥

आगे पूर्वनिर्दिष्ट उस नागरिकवधनिवृत्तिन्यायको ही स्पष्ट किया जाता है—

यहाँ किसीके द्वारा नागरिकवधका प्रत्याख्यान करनेपर जब नगरसे निकले हुए किसीका वह वध करता है तब क्या उसका वह वधका व्रत भंग नहीं हो जाता है ? वह भंग होता ही है ॥१२०॥

अब इस दृष्टान्तकी योजना दार्ष्टान्तके साथ की जाती है—

इस प्रकार सामान्य रूपसे त्रसप्राणघातविरतिको करके उससे—द्वीन्द्रियादिरूप त्रस पर्यायसे—स्थावरकायको प्राप्त हुए उस त्रसका घात करते हुए श्रावकका वह व्रत निश्चित ही भंग होता है ॥१२१॥

इसलिए वादीके अभिमतानुसार विशेषित करके प्रत्याख्यान करना चाहिए, तभी वह निर्दोष रह सकता है । किस प्रकारसे विशेषित करे, इसे वह आगे स्पष्ट करता है—

---

१. अ णेच्छंति । २. अ तत्र प्राण । ३. अ ततस्त्रस ।

तसभूयपाणविरई[1] तब्भावंमि वि न[2] होइ भंगाय ।
खीरविगइपच्चक्खाते[3] दहियपरिभोगकिरिय व्व[4] ॥१२२॥

त्रसभूतप्राणविरतिस्त्रसपर्यायाध्यासितप्राणवधनिवृत्तिः । तदभावेऽपि स्थावरगतवधापत्तिभावेऽपि । न भवति प्रत्याख्यानभङ्गाय, विशेष्यकृतत्वात् । किंवत् ? क्षीरविकृतिप्रत्याख्यातृदधिपरिभोगक्रियावत् । न हि क्षीरविकृतिप्रत्याख्यातुर्दधिपरिभोगक्रिया प्रत्याख्यानभङ्गाय, क्षीरस्यैव दधिरूपत्वापत्तावपि विशेष्यप्रत्याख्यानादिति[5] ॥१२२॥

उपसंहरन्नाह—

त्रसभूत—त्रस पर्यायसे अधिष्ठित प्राणियोंके वधका व्रत त्रस पर्यायसे स्थावरको प्राप्त उन प्राणियोंका वध करनेपर भी विनाशके लिए नहीं होता है। जैसे दूधरूप विकार (गोरस) का प्रत्याख्यान करनेपर दहीरूप विकारका उपभोग करते हुए वह विनाशके लिए नहीं होता है ॥१२२॥

विवेचन—वादीका अभिप्राय यह है कि यदि सामान्यसे त्रस प्राणियोंके घातका व्रत कराया जाता है तो वैसी अवस्थामें जो द्वीन्द्रियादि त्रस जीव मरकर स्थावरोंमें उत्पन्न हुए हैं उनका आरम्भमें प्रवृत्त हुआ श्रावक घात कर सकता है। इस प्रकार स्थावर अवस्थाको प्राप्त हुए उन त्रस जीवोंका घात होनेपर श्रावकका वह व्रत भंग हो जाता है। इसके लिए नागरिकवधकी निवृत्तिका उदाहरण भी है—जैसे किसीने यह नियम किया कि 'मैं किसी नागरिकका घात नहीं करूँगा'। ऐसा नियम करनेपर यदि वह नगरसे बाहर निकले हुए किसी नागरिकका वध करता है तो जिस प्रकार उसका वह व्रत भंग हो जाता है उसी प्रकार जिस श्रावकने सामान्यसे 'मैं त्रस जीवोंका घात नहीं करूँगा' इस प्रकारके व्रतको स्वीकार किया है वह जब त्रस पर्याय को छोड़कर स्थावर पर्यायको प्राप्त हुए उन त्रस जीवोंका प्रयोजनके वश घात करता है तब उसका भी वह व्रत भंग होता है। और यह असम्भव भी नहीं है, क्योंकि कुछ त्रस जीव मरणको प्राप्त होकर उस त्रस पर्यायसे स्थावर पर्यायको प्राप्त हो सकते हैं। अतः सामान्यसे त्रस जीवोंके घातका व्रत कराना उचित नहीं है। तब किस प्रकारके विशेषणसे विशेषित उन त्रस जीवोंके घातका व्रत कराना उचित है, इसे स्पष्ट करता हुआ वादी कहता है कि 'भूत' शब्दसे विशेषित त्रसभूत—त्रस पर्यायसे अधिष्ठित—उन त्रसोंके विघातका व्रत करानेपर त्रस पर्यायको छोड़कर स्थावरोंमें उत्पन्न हुए उन जीवोंका घात करनेपर भी वह उसका स्वीकृत व्रत भंग होनेवाला नहीं है। कारण यह कि तब वे त्रसभूत—त्रस पर्यायसे अधिष्ठित नहीं रहे। इसके लिए वादीके द्वारा उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य क्षीरभूत गोरसका प्रत्याख्यान करके यदि दहीका उपभोग करता है तो उसका वह व्रत भंग नहीं होता है। कारण यह कि गोरसके रूपमें दोनोंके समान होनेपर भी दही क्षीरभूत नहीं रहा। यही अभिप्राय प्रकृतमें समझना चाहिए ॥११९-२२॥

आगे वादी अपने अभिमतका उपसंहार करता है तथा सिद्धान्त पक्ष द्वारा उसके निराकरणका उपक्रम किया जाता है—

---

१. अ विरउ । २. अ णि । ३. म पच्चक्खाणेद । ४. अ व्वा । ५. अ °ख्यानाविति ।

तम्हा विसेसिऊणं इय विरई इत्थ होइ कायव्वा ।
अब्भक्खाणं दुन्ह वि इय करणे नावगच्छंति ॥१२३॥

यस्मादेवं तस्माद्विशिष्य[1] भूतशब्दोपादानेन । इय एवं । विरतिर्निवृत्तिरत्र प्राणातिपाते भवति कर्तव्या, अन्यथा भङ्गप्रसङ्गात् । इति पूर्वपक्षः । अत्रोत्तरमाह—अभ्याख्यानं तद्गुणशून्यत्वेऽपि तद्गुणाभ्युपगमलक्षणम् । द्वयोरपि प्रत्याख्यातृ-प्रत्याख्यापयित्रोराचार्यश्रावकयोः । इयकरणे भूतशब्दसमन्वितप्रत्याख्यानासेवने । नावगच्छन्ति नावबुध्यन्ते पूर्वपक्षवादिन इति ॥१२३॥

तथा चाह—

ओवंमे तादत्थे व हुज्ज एसित्थ[3] भूयसद्दो त्ति ।
उभओ पओगकरणं न संगयं समयनीईए[4] ॥१२४॥

औपम्ये तादर्थ्ये वा भवेदेषोऽत्र प्रत्याख्यानविधौ भूतशब्द इति । उभयथापि प्रयोगकरणमस्य न संगतम् । समयनीत्या सिद्धान्तव्यवस्थयेति गाथाक्षरार्थः ॥१२४॥ भावार्थमाह—

ओवंमे देसो खलु एसो सुरलोयभूय मो एत्थ ।
देसु[5] च्चिय सुरलोगो न होइ एवं तसा तेवि ॥१२५॥

औपम्ये उपमाभावे भूतशब्दप्रयोगो यथा—देशः खल्वेष लाटदेशादिः ऋध्यादिगुणोपेतत्वात्सुरलोकोपमः मो इत्यवधारणार्थो निपातः—सुरलोकभूत एव । अत्रास्मिन् पक्षे । देश एव सुरलोको न भवति, तेनोपमोपमानत्वाद्देशस्य एवं त्रसास्ते ऽपि यद्विषया निवृत्तिः क्रियते ते ऽपि त्रसा न भवन्ति, त्रसभूतत्वात् त्रसैरुपमीयमानत्वादिति ॥१२५॥ ततः किमित्याह—

इसलिए—उक्त दोषको दूर करनेके लिए विशेषताके साथ—'भूत' शब्दके उपादानपूर्वक—त्रसभूत प्राणियोंके घातका यहाँ व्रत कराना चाहिए, न कि सामान्यसे त्रस प्राणियोंके घातका। इस प्रकार यहाँ तक वादीने अपने पक्षको स्थापित किया है। आगे (१२३ उत्तरार्ध) उसका निराकरण करते हुए कहा जाता है कि ऐसा करनेपर भूत शब्दसे विशेषित उन त्रस जीवोंके घातका प्रत्याख्यान करनेपर—विवक्षित गुणसे रहित होनेपर भी उसी गुणके स्वीकार करनेरूप जिस अभ्याख्यानका प्रसंग दोनोंको—प्रत्याख्यान करनेवाले व उसके करानेवालेको प्राप्त होता है उसे वे वादी नहीं समझते हैं ॥१२३॥

आगे इसीको स्पष्ट किया जाता है—

यह 'भूत' शब्द या तो उपमा अर्थमें व्यवहृत होता है या तादर्थ्यमें। सो आगम व्यवस्थाके अनुसार दोनों ही प्रकारसे उसका प्रयोग करना संगत नहीं है ॥१२४॥

आगे उसके अभिप्रायको स्पष्ट किया जाता है—

उपमा अर्थमें जैसे—यहाँ यह देश निश्चित ही 'सुरलोकभूत' है। ऐसा कहनेपर वह देश ही कुछ सुरलोक नहीं हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें 'त्रसभूत' कहनेपर वे त्रस जीव भी—जिनके घातका प्रत्याख्यान कराया जाता है—त्रस नहीं रहेंगे, किन्तु त्रसकी समानताको प्राप्त हो जावेंगे जो वादीको भी अभीष्ट नहीं है ॥१२५॥

इससे क्या हानि होनेवाली है, इसे आगे बतलाया जाता है—

---

१. अ दोण्हवि । २. अ तस्माद्विशेष्य । ३. अ तादेत्थे व्व होज्ज इसोत्थ । ४. अ नीतीए । ५. अ देसे ।

अतसवहनिवित्तीए थावरघाए वि पावए[1] तस्स ।
[2]वहविरइभंगदोसो अतसत्ता थावराणं तु ॥१२६॥

उक्तन्यायादत्रसवधनिवृत्तौ[3] सत्याम् । स्थावरवधेऽपि कृते । प्राप्नोति तस्य निवृत्तिकर्तुर्वध-विरतिभङ्गदोषः । कुतः ? [4]अत्रसत्वात्स्थावराणामेव अत्रसाश्च त्रसभूता [5]भवन्तीति ॥१२६॥

अवसितः औपम्यपक्षः[6], सांप्रतं तादर्थ्यपक्षमाह—

तादत्थे पुण एसो सीईभूयमुदगंति निद्दिट्ठो ।
तज्जाइअणुच्छेया न य सो तसथावराणं तु ॥१२७॥

इस प्रकार अत्रसवधकी निवृत्तिके होनेपर अर्थात् उपमार्थक 'भूत' शब्दसे विशेषित करने-पर जो यथार्थमें त्रस हैं । वे तो त्रस नहीं रहेंगे, किन्तु जो त्रसोंके समान हैं—अत्रस हैं—वे त्रस माने जायेंगे, इस प्रकार वह त्रसवधनिवृत्ति न होकर अत्रसवधनिवृत्ति ही प्रसक्त होगी । ऐसा होनेपर स्थावर जीवोंके घातमें भी उस अत्रसवधनिवृत्ति व्रतके भंग होनेका प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होगा, क्योंकि वे घाते जानेवाले स्थावर अत्रस (त्रसभिन्न) ही तो हैं ॥१२६॥

विवेचन—वादीने सामान्यसे त्रसजीवोंके वधका प्रत्याख्यान करनेपर व्रतके भंग होनेका प्रसंग प्रदर्शित करते हुए जो उसके परिहारार्थ 'भूत' शब्दसे त्रसको विशेषित करनेकी प्रेरणा की थी उसे असंगत बतलाते हुए यहाँ वादीसे पूछा गया है कि 'भूत' शब्दका प्रयोग उपमा और तादर्थ्य (तदर्थता या तद्रूपता) इन दो अर्थोंमें हुआ करता है । इनमेंसे यदि उसका प्रयोग आपको उपमा अर्थमें अभीष्ट है तो उससे आपका अभीष्ट सिद्ध न होकर अनिष्टताका ही प्रसंग प्राप्त होनेवाला है । उदाहरणार्थ 'यह देश (लाट आदि) सुरलोकभूत है' यहाँ उपमा अर्थमें उस भूत शब्दका उपयोग हुआ है । उससे देश कुछ स्वयं सुरलोक नहीं हो जाता । किन्तु वह ऋद्धि आदि गुणोंसे सम्पन्न होनेके कारण सुरलोकके समान है, यही अभिप्राय प्रकट होता है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी त्रसके साथ उपमार्थक उस भूत शब्दका उपयोग करनेपर 'त्रसभूत' से जिन त्रस जीवोंके घातका प्रत्याख्यान कराना अभीष्ट है वे स्वयं त्रस न रहकर त्रस समान हो जानेसे अत्रसत्व (त्रसभिन्नता) को प्राप्त हो जावेंगे । तब उस स्थितिमें प्रकृत त्रसवधका प्रत्याख्यान अत्रसवध प्रत्याख्यानके रूपमें परिणत हो जावेगा । इस प्रकार अनिष्टका प्रसंग प्राप्त होनेपर तदनुसार प्रयोजनवश स्थावर जीवोंके घातमें प्रवृत्त होनेपर उसका वह अत्रसत्ववध-निवृत्ति व्रत अवश्य भंग हो जानेवाला है । कारण यह कि उपमार्थक उस भूत शब्दके उपयोगसे वे त्रसभूत स्थावर भी त्रस समान (अत्रस) सिद्ध होते हैं । इस प्रकार उनका घात होनेपर प्रसंग-प्राप्त वह अत्रसवधनिवृत्ति व्रत भी सुरक्षित नहीं रह सका—भंग हो गया । यह वादीके लिए अनिष्ट प्रसंग प्राप्त होता है । इससे त्रसके साथ उपमार्थक उस भूत शब्दका उपयोग असंगत ही ठहरता है ॥१२३-२६॥

अब दूसरे विकल्पमें भी दोष दिखलाया जाता है—

---

१. अ त्थावरत्थाए वि पावतो । २. अ अस्या गाथाया अयमुत्तरार्धभागः स्खलितोऽस्ति । ३. अ न्यायादत्र संबंधनिवृत्तौ ('उक्त' नास्ति) । ४. अ अत्र स्थावरा॰ । ५. अ भवंति । ६. अ औपम्यः पक्षः ।

तादर्थ्ये पुनस्तदर्थभावे पुनरेष भूतशब्दप्रयोगः,[1] शीतीभूतमुदकमुष्णं सत्पर्यायान्तरमापन्नम् । इति निर्दिष्टस्तल्लक्षणज्ञैः एवं[2] प्रतिपादितः, तज्जात्यनुच्छेदात् अत्रापि तदुदकजात्यनुच्छेदेनैवोष्णं सच्छीतीभूतम् । न चासौ जात्यनुच्छेदस्त्रस-स्थावरयोर्भिन्नजातित्वादिति ॥१२७॥

सिय जीवजाइमहिगिच्च अत्थि किं तीइ अपडिकुट्ठाए ।
भूअग्गहणेवि एवं दोसो अणिवारणिज्जो ओ ॥१२८॥

स्याज्जीवजातिमधिकृत्यास्ति जात्यनुच्छेदः, द्वयोरपि जीवत्वानुच्छेदादित्याशङ्कयाह—किं तया जीवजात्या अप्रतिकुष्टया अनिषिद्धया, न तेन जीवजातिवधविरतिः कृता येन सा चिन्त्यते । ततश्च भूतग्रहणेऽप्येवमुक्तन्यायात् दोषोऽनिवारणीय एवेति ॥१२८॥ किं च—

तसभूयावि तसच्चिय जं ता किं भूयसद्दगहणेणं ।
तब्भावओ अ सिद्धे हंत[3] विसेसत्थभावम्मि ॥१२९॥

त्रसभूता अपि वस्तुस्थित्या त्रसा एव, नान्ये । यद्यस्मादेवं तत्तस्मात् । किं भूतशब्दग्रहणेन, न किंचिदित्यर्थः । तद्भावत एव[4] त्रसभावत एव सिद्धे हन्त विशेषार्थभावे[5] त्रसपर्यायलक्षणे न हि त्रसपर्यायशून्यस्य त्रसत्वमिति ॥१२९॥ किं च—

तादर्थ्यमें उस 'भूत' शब्दका प्रयोग करनेपर जैसे 'यह शीतीभूत जल उष्ण है' ऐसा कहा जाता है, यहाँ जो शीतीभूत जल उष्णताको प्राप्त हुआ है उसमें जलत्व जातिका विनाश नहीं हुआ है—शीत भी जल ही था और उष्ण भी जल ही है, इस प्रकार जलपना दोनों ही अवस्थाओं-में समानरूपसे बना रहता है । इसीलिए यहाँ तादर्थ्यमें उस 'भूत' शब्दका प्रयोग संगत है । वैसे ही यदि उस 'भूत' शब्दका प्रयोग प्रकृतमें त्रसके साथ किया जाता है तो यहाँ जातिका अविनाश सम्भव नहीं है, क्योंकि त्रस और स्थावर ये दोनों भिन्न जातियाँ हैं । इस प्रकार प्रकृतमें तादर्थ्यके असम्भव होनेपर त्रसके साथ उस 'भूत' शब्दका प्रयोग संगत नहीं कहा जा सकता ॥१२७॥

आगे प्रकृतमें भी जातिके अविनाशविषयक शंकाको उठाकर उसका भी समाधान किया जाता है—

यदि कहा जाये कि प्रकृतमें भी—त्रस और स्थावर जीवोंमें भी—जीव जातिका अविनाश है ही तो इसके समाधानमें कहा जाता है कि ठीक है, उसका निषेध नहीं किया गया है, परन्तु उस अनिषिद्ध जीव जातिसे प्रकृतमें क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? कुछ भी नहीं, क्योंकि यहाँ जीवजातिके वधका प्रत्याख्यान नहीं कराया गया है, किन्तु त्रसवधका प्रत्याख्यान कराया गया है । अतएव तादर्थ्यमें भी उस 'भूत' शब्दका प्रयोग असंगत है । इस प्रकार 'भूत' शब्दके ग्रहणमें भी दोषका निवारण नहीं किया जा सकता है ॥१२८॥ दूसरे—

भूत शब्दके ग्रहण करनेपर चूँकि त्रसभूत भी वे जीव त्रस ही तो होंगे, अन्य तो नहीं हो सकते, अतएव उस भूत शब्दके ग्रहणसे क्या लाभ है ? कारण यह कि त्रसभावसे ही जब विशेष अर्थता—त्रस पर्याय—सिद्ध है तब खेद है कि उस भूत शब्दके ग्रहणसे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है, क्योंकि त्रस पर्यायसे रहित जीवोंमें त्रसता सम्भव नहीं है ॥१२९॥

आगे प्रकारान्तरसे भी त्रस व स्थावर जीवोंमें भेदको प्रकट किया जाता है—

---

१. दोषशब्दभूतप्रयोगः । २. अ॰ रतल्लक्षणैरेवं । ३. अ तसावओ उ सिद्धे हिंत । ४. अ तद्भाव एव ।
५. अ एवं सिद्धे हित वशेशार्थभावे ।

थावरसंभारकडेण कम्मणा[1] जं च थावरा भणिया।
इयरेणं तु तसा खलु इत्तो[2] च्चिय तेसि भेओउ ॥१३०॥

स्थावरसंभारकृतेन[3] पृथिव्यादिनिकायनिर्वर्तितेन। कर्मणा। यच्च यस्माच्च स्थावरा भणिताः, परममुनिभिरिति गम्यते। इतरेण तु त्रससंभारकृतेनैव। त्रसाः खल्विति त्रसा एव, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्। अत एवास्मादेव निमित्तभेदात्तयोस्त्रसस्थावरयोर्भेदः, तस्मिन् सति अनर्थको भूतशब्द इति ॥१३०॥

इदानीं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमाह—

नागरगंमि वि गामाइसंकमे अवगयंमि तब्भावे।
नत्थि हु वहे वि भंगो अणवगए किमिह गामेण ॥१३१॥

नागरकेऽपि दृष्टान्ततयोपन्यस्य इदं चिन्त्यते—ग्रामादिसंक्रमे तस्य किमसौ नागरकभावोऽपैति वा न वा? यद्यपैति ततो ग्रामादिसंक्रमे सति। अपगते तद्भावे नागरकभावे। नास्त्येव वधेऽपि भङ्गः प्रत्याख्यानस्य तथाभिसन्धेः। अथ नापैत्यत्राह—अनपगते आपुरुषमभिसन्धिना अनिवृत्ते नागरकभावे। किमिह ग्रामेण तत्रापि वधविरतिविषयस्तथापुरुषभावानिवृत्तेरिति ॥१३१॥

इसके अतिरिक्त स्थावरसम्भारकृत—पृथिवी आदि निकाय रूपसे निर्वर्तित—कर्मके निमित्तसे चूँकि स्थावर कहे गये हैं तथा इसके विपरीत त्रस नामकर्मके निमित्तसे त्रस कहे गये हैं, इसी कारणसे उन दोनोंमें भेद है। इस प्रकारसे भी उन दोनोंमें भेदके होनेपर उसके लिए भूत शब्दका प्रयोग करना निरर्थक है ॥१३०॥

अब पूर्वमें वादीके द्वारा जो नागरिकवधका दृष्टान्त दिया गया था उसकी विषमता दिखलाते हैं—

वादीके द्वारा दृष्टान्तरूपसे उपस्थित किये गये नागरिकके ग्राम आदिमें पहुँचनेपर यदि उसकी नागरिकता नष्ट हो जाती है तो फिर उसके वधमें भी व्रत भंग होनेवाला नहीं है और यदि वहाँ भी उसकी नागरिकता बनी रहती है तो फिर ग्रामसे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? कुछ भी नहीं।

विवेचन—वादीने नागरिकका दृष्टान्त देते हुए यह कहा था (११९) कि जिस प्रकार नगरसे बाहर ग्राम आदिमें गये हुए नागरिका वध करनेपर नागरिकवधका प्रत्याख्यान करनेवालेका व्रत भंग होता है उसी प्रकार मरणको प्राप्त होकर त्रस पर्यायसे स्थावर पर्यायको प्राप्त हुए त्रस जीवोंका वध करनेपर त्रसवधका प्रत्याख्यान करनेवाले श्रावकका भी वह व्रत भंग होता है, अतः विशेषताके साथ त्रसवधका प्रत्याख्यान कराना चाहिए, न कि सामान्य रूपसे। इसपर यहाँ वादीसे यह पूछा गया है कि नगरके बाहर जानेपर उसकी नागरिकता नष्ट होती है या तदवस्थ बनी रहती है? यदि वह नष्ट हो जाती है तब तो उसका वहाँ वध करनेपर भी उसका वह नागरिकवधका व्रत भंग नहीं होता है, क्योंकि वह उस समय नागरिक नहीं रहा—उसकी नागरिकता वहाँ वादीके अभिप्रायानुसार समाप्त हो जाती है। इसपर यदि यह कहा जाये कि उसकी नागरिकता वहाँ भी बनी रहती है तो फिर गाँवमें जानेके निर्देशसे क्या लाभ है, क्योंकि नागरिकताके वहाँ भी तदवस्थ रहनेसे वह वहाँ भी उसके लिए अवध्य है। इस प्रकार वादीके द्वारा उपन्यस्त वह नागरिकवधका दृष्टान्त यहाँ लागू नहीं होता ॥१३१॥

---

१. अ कम्मुणा। २. अ एत्तो। ३. अ थावरसंहारकृतेन।

न य सइ तसभावंमि थावरकायगयं तु सो वहइ ।
तम्हा अणायमेयं मुद्धमइविलोहणं नेयं ॥१३२॥

न च सति त्रसभावे नैव विद्यमान एव त्रसत्वे । स्थावरकायगतमसौ हन्ति[1], अपरित्यक्ते त्रसत्वे स्थावरकायगमनाभावात् । तस्मादज्ञातमेतत् उक्तन्यायादनुदाहरणमेतत् । [2] मुग्धमतिविलोभनं ज्ञेयं ऋजुमतिविस्मयकरं ज्ञातव्यमिति ॥१३२॥

इदानीम् अन्यद्वावस्थानकम्[3]—

अन्ने उ दुहियसत्ता संसारं परिअडंति पावेण ।
वावाएयव्वा खलु ते तक्खवणट्ठया विंति[4] ॥१३३॥

अन्ये तु संसारमोचका ब्रुवते[5] इति योगः । किं ब्रुवत इत्याह—दुःखितसत्त्वाः कृमि-पिपीलिकादयः । संसारं पर्यटन्ति संसारमवगाहन्ते । पापेनापुण्येन हेतुना[6] । यतश्चैवमतो व्यापादयितव्याः खलु ते । खल्वित्यवधारणे—व्यापादयितव्या[7] एव ते दुःखितसत्त्वाः । किमर्थमित्याह— तत्क्षपणार्थं पापक्षपणनिमित्तमिति ॥१३३॥

ता पाणवहनिवित्ती नो अविसेसेण होइ कायव्वा ।
अवि अ सुहिएसु अन्नह कर्णिज्जनिसेहणे दोसो ॥१३४॥

इसीको आगे कुछ और स्पष्ट किया जाता है—

इसके अतिरिक्त त्रसघातका प्रत्याख्यान करनेवाला वह श्रावक त्रस अवस्थाके रहनेपर कुछ उस स्थावरकायको प्राप्त हुए जीवका घात नहीं करता है। इसलिए यह नागरिकवधका उदाहरण वस्तुतः उदाहरण न होकर मूढ़बुद्धियोंको लुब्ध करनेवाला अनुदाहरण ही समझना चाहिए।

विवेचन—यह पूर्वमें (१३०) कहा जा चुका है कि जिन जीवोंके त्रस नामकर्मका उदय रहता है वे त्रस कहलाते हैं। इससे जो जीव मरणको प्राप्त होते हुए स्थावरकायको प्राप्त होते हैं वे त्रस नहीं रहते, किन्तु स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर होते हैं। इस प्रकार त्रस पर्यायके विनष्ट हो जानेपर यदि त्रस प्राणिवधका प्रत्याख्यान करनेवाला कोई श्रावक प्रयोजनवश उनका घात करता है तो इससे उसका वह व्रत भंग होनेवाला नहीं है। वादीके अभिमतानुसार 'भूत' शब्दका प्रयोग करनेपर भी वे त्रस नहीं हो सकते, किन्तु स्थावर नामकर्मके उदयसे वे स्थावर ही रहनेवाले हैं। कारण यह कि त्रस पर्यायके रहते हुए कोई जीव स्थावर हो ही नहीं सकता। इससे यह निश्चित है कि नागरिकवधका वह उदाहरण यथार्थमें उदाहरण नहीं है। इस प्रकार प्रथम अणुव्रतको ग्रहण कराते हुए जो श्रावकसे त्रस प्राणियोंके वधका प्रत्याख्यान कराया जाता है वह सर्वथा निर्दोष है, यह सिद्ध होता है ॥१३२॥

अब यहाँ अन्य वादियोंके अभिमतको दिखलाते हैं—

अन्य कितने ही वादी (संसारमोचक) यह कहते हैं कि दुखी प्राणी चूँकि पापसे संसारमें परिभ्रमण करते हैं अतएव उनका उस पापके क्षयके निमित्त घात करना चाहिए ॥१३३॥

इससे उन वादियोंको क्या अभीष्ट है, इसे आगेकी गाथा द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

इससे प्राणियोंके प्राणवधका प्रत्याख्यान बिना विशेषताके—सामान्यसे—नहीं कराना

---

१. अ हवंती । २. अ मुत्तमति॰ । ३. अ इदानीं द्वादशस्थानकं । ४. अ वेति । ५. अ व्रतते । ६. अ हेतुना नायकस्सैव॰ । ७. अ घारणे व्यापादनीया एव ।

यस्मादेवं तत्तस्मात् । प्राणवधनिवृत्तिर्नाविशेषेण भवति कर्तव्या, अपि च सुखितेषु सुखित-विषये कर्तव्या, तद्व्यापादन एव दोषसंभवात् । अन्यथा यद्येवं न क्रियते ततः । करणीयनिषेधने दोषः कर्तव्यो हि परलोकार्थिना दुःखितानां पापक्षयः, तन्निवृत्तिकरणे प्रव्रज्यादिदाननिवृत्ति-करणवद्दोष इत्येष पूर्वपक्षः ॥१३४॥

अत्रोत्तरमाह—

तहवहभावे पावक्खओ त्ति न उ अट्टज्झाणओ बंधो ।
तेसिमिह किं पमाणं नारगनाओवगं वयणं ॥१३५॥

तथा तेन प्रकारेण । वधभावे व्यापत्तिकरणे । पापक्षय एव न त्वार्तध्यानतो बन्धस्तेषां दुःखितानामपि । किं प्रमाणम् ? न किंचिदित्यर्थः । अत्राह—नारकन्यायोपगं वचनं नारकन्यायानु-सारि वचनं प्रमाणमिति ॥१३५॥

एतदेव भावयति—

तेसिं वहिज्जमाण वि परमाहम्मिअसुरेहिं[1] अणवरयं ।
रुद्दज्झाणगयाण[2] वि न तहा बंधो जहा विगमो ॥१३६॥

चाहिए, किन्तु सुखी जीवोंके विषयमें उस वधके प्रत्याख्यानको कराना चाहिए, अन्यथा कर्तव्य कार्यका निषेध करनेपर दोषका होना अनिवार्य है ।

विवेचन—इस प्रसंगमें संसारमोचकोंका कहना है कि सामान्यसे प्राणियोंके वधका परि-त्याग कराया जाता है वह उचित नहीं है । परित्याग वास्तवमें सुखी जीवोंके वधका कराना चाहिए था, न कि कृमि-पिपीलिका आदि उन दुखी जीवोंके वधका भी जो पापके कारण संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं । कारण यह कि उनके वधसे जिस पापके कारण वे संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं उस पापका क्षय होनेवाला है । अतएव यह कर्तव्य कार्यके अन्तर्गत है । इस वस्तुस्थितिके होनेपर भी यदि सुखी व दुखीकी विशेषता न करके सामान्यसे ही प्राणियोंके प्राणवधका परित्याग कराया जाता है तो इससे दुखी प्राणियोंके वधका भी, जो अवश्य करणीय था, निषेध हो जाता है । इस अवश्य करणीय कार्यका निषेध करना, यह ऐसा दोषजनक है जैसा कि दीक्षा आदि सत्कार्योंका निषेध । इस अपराधसे बचनेके लिए विशेषताके साथ सुखी जीवोंके ही वधका परित्याग कराना उचित है, न कि दुखी जीवोंके वधका, क्योंकि जीवित रहनेपर वे उस पापसे छुटकारा नहीं पा सकते है ॥१३३-३४॥

वादीके इस पूर्वपक्षके निषेधके प्रसंगमें वादीका प्रत्युत्तर—

इस पूर्वपक्षके प्रसंगमें वादीसे पूछा जाता है कि उस प्रकारसे दुखी जीवोंका वध करनेपर उनके पापका क्षय ही होगा, किन्तु आर्तध्यानके निमित्तसे उनके कर्मका बन्ध नहीं होगा, इसमें क्या प्रमाण है ? इस प्रश्नके प्रत्युत्तरमें वादी कहता है कि उसमें नारकन्यायका अनुसरण करने-वाला वचन ही प्रमाण है ॥१३५॥

आगे वादी इस नारकन्याय वचनको ही स्पष्ट करता है—

परम अधार्मिक सुरोंके द्वारा—अतिशय संक्लिष्ट, अम्ब व अम्बरीष आदि पन्द्रह प्रकारके असुरकुमार देवोंके द्वारा—निरन्तर पीड़ित किये जानेपर रौद्रध्यानको प्राप्त होनेपर भी उन

---

१. अ तेशि वहअताण वि परमाहंपियसुरेहि । २. अ दोट्टज्झाणवण तहा ।

तेषां नारकाणाम् । वध्यमानानां हन्यमानानामपि । कैः ? परमाधार्मिकसुरैरम्बादिभिः । अनवरतं[1] सततम् । रौद्रध्यानगतानामपि न तथा बन्धो यथा विगमः कर्मणो दुःखानुभवादिति गाथार्थः ॥१३६॥

कथमेतन्निश्चीयत इत्यत्राह—

नरगाउबंधविरहा अणंतरं तंमि अणुववत्तीओ ।
[2]तदभावे वि य खवणं परुप्परं दुक्खकरणाओ ॥१३७॥

नरकायुर्बन्धविरहात् न कदाचिन्नारको नरकायुर्बध्नाति । अत्रैव युक्तिमाह—अनन्तरं नरकोद्वर्तनसमनन्तरमेव तस्मिन्नरक एवानुत्पत्तेरनुत्पादात्—न चाव्यवहितमुत्पद्यत इति सिद्धान्तः । ततश्च यथेदं न बध्नाति तथान्यदपीत्यभिप्रायः । तदभावेऽपि च परमाधार्मिकाद्यभावेऽपि च पङ्कादिपृथिवीषु । क्षपणं कर्मणस्तेषां परस्परं दुःखकरणादन्योन्यपीडाकरणेन, परस्परोदीरितदुःखा इति वचनात् नान्यनिमित्त क्षपणमिति ॥१३७॥

स्यादप्रतिष्ठाने नान्यनिमित्तमित्येतदा[3]शङ्क्याह—

अपइट्ठाणंमि वि संकिलेसओ चेव कम्मखवणं त्ति ।
न हि तयभावंमि सुरो तत्थ वि य खवेइ तं कम्मं ॥१३८॥

नारकियोंके वैसा बन्ध नहीं होता जैसा कि निर्जरा होती है। अभिप्राय यह है कि तीसरे नरक तक असुरकुमार (भवनवासियोंकी एक जाति) देवोंके द्वारा सताये जानेपर रौद्रध्यानके वशीभूत होनेपर भी वहाँ नारकियोंके कर्मका बन्ध तो अल्प होता है, पर दुःखानुभवनसे उसकी निर्जरा ही अधिक होती है। इस नारकन्यायसे सिद्ध है कि दुखी जीवोंका वध करनेपर उनके पापका क्षय अधिक होता है ॥१३६॥

इसका कैसे निश्चय किया जा सकता है कि उनके पापका क्षय अधिक होता है, इसे वादीके द्वारा आगे स्पष्ट किया जाता है—

उन नारकियोंके नारकायुका बन्ध नहीं होता है, इसीसे निश्चित है कि उनके पापका क्षय हो जाता है। नारकायुका बन्ध न होनेका भी कारण यह है कि अनन्तर—नरकसे निकलकर अव्यवहित अगले भवमें—वे नरकमें उत्पन्न नहीं होते। कर्म-सिद्धान्तमें भी नारकियोंके नारकायुके बन्धका निषेध किया गया है। यहाँ यह शंका हो सकती थी कि चौथी आदि पृथिवियोंमें, जहाँ असुरकुमारोंका गमन सम्भव नहीं है, वहाँ उन नारकियोंके पापका क्षय कैसे होता है, इस आशंकाको हृदयंगम करके वादी कहता है कि वहाँ उन नारकियोंके पापका क्षय परस्परमें एक दूसरेको दिये जानेवाले दुःखके अनुभवनसे होता है ॥१३७॥

अप्रतिष्ठान नरकमें कर्मक्षपणका अन्य निमित्त तो नहीं है, तब वहाँ वह कैसे होता है, इस शंकाका उत्तर वादी आगे देता है—

सातवीं पृथिवीमें स्थित अप्रतिष्ठान नरकमें संक्लेशसे ही—वहाँ उत्पन्न होनेपर जन्मभूमिसे नीचे गिरकर ऊपर उछलने आदिके कष्टके अनुभवनसे ही—वहाँके नारकियोंका कर्मक्षय

---

१. अ °मपि के सुरैरेषादिभि° । २. अ तयभावे । ३. अ स्या प्रतिष्ठाने नानिमित्तं क्षपणमिति स्याथतिष्ठाने मानिमित्तमित्येतदा° ।

अप्रतिष्ठानेऽपि सप्तमनरकपृथिवीनरके[1]। संक्लेशत एव तथोत्क्षेपनिपातजनितदुःखादेव। कर्मक्षपणमिति, नान्यथा। न यस्मात्तदभावे संक्लेशाभावे। सुरो देवस्तत्रापि नरके यथासंभवं कथंचिद्गतः सन्। चशब्दादन्यत्र च संक्लेशरहितः। क्षपयति तत्कर्म यत्प्रवाहतो नरकवेदनीयमिति ॥१३८॥

उपसंहरन्नाह—

तम्हा ते वहमाणो अट्टज्झाणाइसं जणंतो वि।
तक्कम्मक्खयहेऊ[2] न दोसवं होइ णायव्वो ॥१३९॥

यस्मादेवं तस्मात्तान् दुःखितान् प्राणिनः। घ्नन् व्यापादयन्। आर्तध्यानादिकं जनयन्त आर्त-रौद्रध्यानं चित्रं च संक्लेशं कुर्वन्नपि। तेषां कर्मक्षयहेतुस्तेषां दुःखितानां कर्मक्षयनिमित्तमिति कृत्वा। न दोषवान् भवति ज्ञातव्यः संसारमोचक इति अयमपि पूर्वपक्षः ॥१३९॥

अत्रोत्तरमाह—

होता है। यही कारण है जो उस संक्लेशके अभावमें वहाँ पहुँचा हुआ नारकी उस कर्मका क्षय नहीं करता है।

विवेचन—वादीके कहनेका अभिप्राय यह है कि सातवीं पृथिवीगत अप्रतिष्ठान नरकमें स्थित नारकियोंके नरकमें अनुभव करने योग्य उस कर्मके क्षयका यद्यपि दूसरा कोई निमित्त नहीं है फिर भी वहाँ नारक बिलके ऊपर स्थित जन्मभूमिमें उत्पन्न नारकी उस ऊँची जन्मभूमिसे स्वभावतः नीचे गिरकर गेंदकी तरह पुनः-पुनः उछलते है और गिरते है। इससे जो उन्हें महान् कष्ट होता है उसीके अनुभवनसे उनके उस कर्मका क्षय होता है। यही कारण है जो नरकोंमे कुछ समयके लिए जानेवाले देवोंके उस जातिके संक्लेशके न होनेसे उस कर्मका क्षय नहीं होता ॥१३८॥

आगे वादी इस सबका उपसंहार करता है—

इस कारण उन दुखी जीवोंका वध करनेवाला व्यक्ति उनके आर्त और रौद्र ध्यानको उत्पन्न करता हुआ भी उनके पापके क्षयका ही वह कारण होता है। इसीलिए वह दोषवान् (अपराधी) नहीं है, ऐसा जानना चाहिए।

विवेचन—संसारमोचकोंका मत है कि जो कीट-पतंग आदि दुखी जीव हैं वे संसारमें परिभ्रमण करते हुए दुख भोग रहे है। उनका वध करनेसे वे उस दुखसे छुटकारा पा सकते है। इस प्रकार मारे जानेपर उनके यद्यपि आर्त व रौद्ररूप दुर्ध्यान हो सकता है, फिर भी चूँकि मार देनेपर उनके पापका क्षय होता है, इसलिए मारनेवाला दोषी नहीं होता, अपितु उनके पापके क्षयका कारण ही वह होता है। इस वस्तुस्थितिके होनेपर प्रथम अणुव्रतमें सामान्यसे स्थूल प्राणियोंके घातका प्रत्याख्यान न कराकर विशेषरूपमें सुखी प्राणियोंके ही प्राणघातका प्रत्याख्यान करना चाहिए। अन्यथा, दुखी प्राणियोंके भी प्राणघातका परित्याग करानेसे वे जीवित रहकर उस पापजनित दुखको दीर्घ काल तक भोगते रहेंगे, जबकि इसके विपरीत मारे जानेपर वे उस पापसे छुटकारा पा जावेंगे। इस प्रकार यहाँ संसारमोचकोंने अपने पक्षको स्थापित किया है॥१३९॥

आगे उसका निराकरण करते हुए वादीसे यह पूछते हैं कि उनके कर्मक्षपणसे घातकको क्या लाभ होनेवाला है—

---

१. अ सप्तमनरके। २. म हेउं।

चिट्ठउ ता इह अन्नं तक्खवणे तस्स को गुणो होइ ।
कम्मक्खउ त्ति तं[1] तुह किंकारणगं विणिद्दिट्ठं ॥१४०॥

तिष्ठतु तावदिह प्रक्रमेऽन्यद्वक्तव्यम् । तत्क्षपणे दुःखितसत्त्वकर्मक्षपणे तस्य क्षपयितु-[2]र्दुःखितसत्त्वव्यापादकस्य । को गुणो भवति, न हि फलमनपेक्ष्य प्रवर्तते प्रेक्षावानिति । अथैवं मन्यसे कर्मक्षय इति कर्मक्षयो गुण इत्याशङ्क्याह—तत्कर्म तव हे वादिन् किंकारणं किंनिमित्तं निर्दिष्टं प्रतिपादितं शास्त्र इति ॥१४०॥

अन्नाणकारणं जइ तदवगमा चेव अवगमो तस्स ।
किं वहकिरियाए[3] तओ विवज्जओ तीइ अह हेऊ ॥१४१॥

अज्ञानकारणं अज्ञाननिमित्तं यदि, एतदाशङ्क्याह—तदपगमादेवाज्ञाननिवृत्तेरेवापगमस्तस्य निवृत्तिस्तस्य कर्मणः, कारणाभावात् कार्याभाव इति न्यायात् । किं वधक्रियया, ततः अप्रतिपक्षत्वा-त्तस्या विपर्ययः तस्या वधक्रियायाः अथ[4] हेतुरवधक्रियैवेति ॥१४१॥ एतदाशङ्क्याह—

मुत्ताण कम्मबंधो पावइ एवं निरत्थगा मुत्ती ।
अह तस्स पुन्नबंधो तओ वि न[5] अंतरायाओ ॥१४२॥

मुक्तानां कर्मबन्धः प्राप्नोति, तस्यावधक्रियानिमित्तत्वात् मुक्तानां चावधक्रियोपेतत्वात्, एवं निरर्थका मुक्तिर्बन्धोपद्रुतत्वात् । अथैवं मन्यसे—तस्य दुःखितसत्त्वव्यापादकस्य । पुण्यबन्धो गुणो न तु कर्मक्षय इत्येतदाशङ्क्याह—तकोऽपि न असावपि गुणो नान्तरायात्कारणादिति ॥१४२॥

इस प्रसंगमें अन्य कथन तो रहे, हम वादीसे पूछते हैं कि उन दुखी जीवोंके कर्मक्षयमें उनका वध करके कर्मक्षय करानेवालेको क्या लाभ है ? इसके उत्तरमें यदि कहा जाये कि उसको उसके कर्मके क्षयका होना ही लाभ है तो इसपर पुनः प्रश्न किया जाता है कि तुम्हारे मतानुसार उस कर्मका कारण आगममें क्या निर्दिष्ट किया गया है जिसका क्षय अभीष्ट है ॥१४०॥

आगे इसी प्रसंगमें और भी उत्तर-प्रत्युत्तरका क्रम चल रहा है—

इसपर वादी कहता है कि उस कर्मका कारण अज्ञान है। इसके उत्तरमें वादीसे कहा जाता है कि तब तो उस अज्ञानके विनाशसे ही उस कर्मका क्षय हो सकता है, अर्थात् कारणके अभावसे कार्यका अभाव होता है, ऐसा जब न्याय है तब तदनुसार कारणभूत उस अज्ञानके दूर करनेसे ही कार्यभूत कर्मका विनाश सम्भव है। ऐसी स्थितिमें उन दुखी जीवोंका वध करनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? उससे वधकको कुछ भी लाभ होनेवाला नहीं है। इसपर वादी कहता है कि उस वधक्रियाका विपर्यय—उन दुखी जीवोंका वध न करना—ही उस कर्मबन्धका कारण है ॥१४१॥

आगे वादीके द्वारा निर्दिष्ट उस कर्मबन्धको कारणभूत अवध क्रियामें दोष दिखलाते हैं—

यदि वादी अवध क्रियाको कर्मबन्धका कारण मानता है तो वैसी अवस्थामें मुक्त जीवोंके कर्मबन्धका प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होनेवाला है, क्योंकि उनके द्वारा किसी भी प्राणीका वध नहीं किया जाता है। तब ऐसी स्थितिमें मुक्ति निरर्थक हो जावेगी। इसका परिहार करते हुए वादी कहता है कि उस वधकके उन दुखी जीवोंके वधसे पुण्यका बन्ध होता है। इसका भी निरसन

---

१. अ ते । २ अ क्षपयितुं दुःखित । ३. अ किरियाइ । ४. अ वधः क्रियायाः इति हेतु । ५. अ णो ।

एतदेव भावयति—

वहमाणो ते नियमा करेइ वहपुन्नमंतरायं से।
ता कह णु तस्स पुन्नं तेसिं क्खवणं व हेऊओ ॥१४३॥

घ्नन् व्यापादयंस्तान् दुःखितसत्त्वान्। नियमादवश्यमेव करोति निर्वर्तयति असौ व्यापादकः। वधपुण्यान्तरायममीषां दुःखितसत्त्वानाम्, जीवन्तो हि तेऽन्यदुःखितवधेन[1] पुण्यं कुर्वन्ति। व्यापादने च तेषां अन्यवधाभावात्पुण्यान्तरायम्[2]। यस्मादेवं तत्तस्मात्कथं[3] नु तस्य व्यापादकस्य पुण्यं, नैवेत्यर्थः। कुतः? अहेतुकत्वादिति योगः। न ह्यन्यपुण्यान्तरायकरणं पुण्यहेतुरिति सिद्ध एव हेतुः। दृष्टान्तमाह—तेषां क्षपणवत् तेषां दुःखितसत्त्वानां व्यापाद्यमानानां कर्मक्षपणवदिति।

करते हुए कहा जाता है कि उसके वह पुण्यबन्ध भी सम्भव नहीं है, क्योंकि इस प्रकारसे वह दुखी जीवोंका वध करके उनके पुण्यबन्धमें अन्तराय करता है ॥१४२॥

वह कैसे अन्तराय करता है, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

कारण इसका यह है कि वह उनका वध करता हुआ उनके अन्य जीवोंके वधसे होनेवाले पुण्यके बन्धमें अन्तराय करता है। और तब वैसी स्थितिमें—दूसरोंके पुण्यबन्धमें स्वयं अन्तराय बन जानेपर—उस वधकके पुण्यका बन्ध कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता है। जैसे उनके कर्मक्षयमें—जो दूसरोंके कर्मक्षयमें स्वयं अन्तराय करता है उसके कर्मका क्षय भी जिस प्रकार असम्भव है। इस प्रकार वादीने जिसे पुण्यबन्धका हेतु माना है वह वस्तुतः अहेतु है—उसका हेतु नहीं है ॥१४३॥

विवेचन—संसारमोचकोंके पूर्वोक्त मतका निराकरण करते हुए यहाँ उनसे पूछा गया है कि तुम जो दुखी जीवोंके कर्म क्षयार्थ उनके वधसे वधकर्ताके कर्मक्षयका लाभ मानते हो वह युक्तिसंगत नहीं है। इसका कारण यह है कि कारणके अभावमें कार्यका अभाव होता है, ऐसा न्याय है। तदनुसार यहाँ यह विचारणीय है कि उस कर्मका कारण क्या है? यदि उस कर्मका कारण अज्ञान माना जाता है तब तो उसका क्षय उस अज्ञानके विनष्ट हो जानेपर ही सम्भव है, न कि दुखी जीवोंके उस वधसे; क्योंकि वह उसका प्रतिपक्षभूत नहीं है। जो कर्मका प्रतिपक्षभूत होगा उसीसे उसका विनाश हो सकता है। इसलिए प्राणिवधको कर्मक्षयका कारण मानना न्याय-संगत नहीं है। इसपर यदि वादी यह कहे कि कर्मका कारण दुखी जीवोंके वधका न करना ही है, तो ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वैसा माननेपर मुक्त जीवों-के कर्मबन्धका प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होगा। इसका कारण यह है कि तुम (संसारमोचक) जिस अवधक्रियाको कर्मबन्धका कारण मानते हो उससे वे मुक्त जीव सहित हैं—उनके द्वारा कभी किसी जीवका वध सम्भव नहीं है। फिर जब इस प्रकारसे मुक्त जीवोंके भी कर्मबन्ध होने लगा तब उस मुक्तिका प्रयोजन ही क्या रहा? वह निरर्थक सिद्ध होती है। इसपर वादी यदि यह कहता है कि दुखी जीवोंके वधसे वधकर्ताके कर्मका क्षय तो नहीं होता है, किन्तु उससे उसके पुण्यका बन्ध होता है, तो उसकी यह मान्यता भी युक्तिके विरुद्ध है। इसका कारण यह है कि वादी जब यह स्वीकार करता है कि दुखी जीवोंके वधसे वधकर्ताके पुण्यका बन्ध होता है तब वैसी स्थितिमे जिन जीवोंका वह वध करता है वे भी यदि जीवित रहते तो अन्य जीवोंका वध

---

१. अ सत्वानां जीवानां ते अन्य°। २. अ तेषामन्यभावा पुण्यांतरायां। ३. अ 'तत्तस्मात् क' इत्यतोऽग्रे 'मीखां दुःखितसत्त्वानां' इत्यादि-पुण्यांतरायं' पर्यन्तः पूर्वलिखितसंदर्भः पुनः पुनः प्रतिलिखितोऽस्ति।

अयमत्र भावार्थः—दुःखितसत्त्वव्यापत्त्या कर्मक्षय[1] इत्यभ्युपगमः, ततश्च व्यापाद्यमानानामन्य-व्यापादनाभावादहेतुकत्वात्कुतः कर्मक्षय इति ॥१४३॥

अह सगयं वहणं चिय हेऊ तस्स त्ति किं परवहेणं ।
अप्पा खलु हंतव्वो कम्मक्खयमिच्छमाणेणं ॥१४४॥

अथैवं मन्यसे—स्वगतमात्मगतम् । हननमेव जिघांसनमेव । हेतुस्तस्य कर्मक्षयस्यैतदा-शङ्क्याह इति किं परवधेन एवं न किंचित्परव्यापादनेनात्मैव हन्तव्यः कर्मक्षयमिच्छता, स्वगत-वधस्यैव तन्निमित्तत्वादिति ॥१४४॥

अह उभयक्खयहेऊ वहु त्ति नो तस्स तन्निमित्ताओ ।
अविरुद्धहेउजस्स[2] य न निवित्ती इयरभावे वि ॥१४५॥

अथैवं मन्यसे—उभयक्षयहेतुर्वधः व्याप्याद्य-व्यापादककर्मक्षयहेतुर्व्यापादनम्, कर्तृ-कर्मभावेन तदुभयनिमित्तत्वादस्येत्येतदाशङ्क्याह[3]—नैतदेवम् । कुतः ? तस्य कर्मणस्तन्निमित्तत्वात्तद्विरुद्ध-वधक्रियाजन्यत्वात् । यदि नामैवं ततः किमिति ? अत्राह—अविरुद्धहेतुजस्य च निवृत्तिहेतुत्वा-भिमताविरुद्धकारणजन्यस्य च वस्तुनो न निवृत्तिर्न विनाशः । इतरभावेऽपि विनाशकारणाविरोधि-पदार्थभावेऽपीति ॥१४५॥ एतदेव भावयति ।

करके पुण्यका बन्ध कर सकते थे । इस प्रकारसे जो उन जीवोंके पुण्यबन्धमें स्वयं अन्तराय बनता है उसके भला पुण्यका बन्ध कैसे हो सकता है ? असम्भव है वह, क्योंकि दूसरोंके पुण्य-बन्धमें अन्तराय करना कभी पुण्यबन्धका हेतु नहीं हो सकता । यहाँ जो कर्मक्षयका उदाहरण दिया गया है उसका अभिप्राय यह है कि दुखी जीवोंके वधसे कर्मका क्षय होता है, इस मान्यताके अनुसार कर्मक्षयके लिए जिन जीवोंका वध किया जा रहा है वे भी जीवित रहनेपर अन्य जीवों-का वध करके अपने कर्मका क्षय कर सकते थे । इस प्रकार जो अन्य जीवोंके कर्मक्षयमें अन्तराय बन रहा है उसके कर्मका क्षय असम्भव ही है । इससे सिद्ध होता है कि दूसरोंके कर्मक्षयमें बाधक होना स्वयंके कर्मक्षयका हेतु नहीं हो सकता । इससे यह निष्कर्ष निकला कि दुखी जीवोंके वधसे वधकर्ताके न तो कर्मका क्षय सम्भव है और न पुण्यका बन्ध भी सम्भव है । इसके अतिरिक्त दुखी जीवोंके वधसे उनके पापका क्षय होता है, इसका निराकरण भी आगे (१५६ आदि) किया जानेवाला है ॥१४०-४३॥

आगे आत्मवध कर्मक्षयका कारण है, इस वादीके अभिमतका निराकरण किया जाता है—

यदि वादीको यह अभीष्ट है कि अपना वध ही उस कर्मक्षयका हेतु है तो वैसी स्थितिमे अन्य प्राणियोंके वधसे क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? कुछ भी नहीं, उक्त मान्यताके अनुसार तो कर्मक्षयकी इच्छा करनेवालेको निश्चयसे अपना ही घात करना उचित है, क्योंकि, वही तो कर्मक्षयका कारण है ॥१४४॥

आगे वादीके अभिप्रायान्तरका भी निषेध किया जाता है—

यदि वादी यह कहना चाहता है कि वह वध वध्य और वधक दोनोंके ही कर्मक्षयका कारण है तो ऐसा कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि वह कर्म उसी वधके निमित्तसे बाँधा जाता है । इस प्रकार वह वध जिस कर्मका अविरुद्ध हेतु है वह कर्म अपने विनाशके कारणके अविरोधी

---

१. अ अतोऽग्रेऽग्रिम 'कर्मक्षय'पदपर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति । २. अ हेउस्स । ३. अ °व्यापादनं कर्म-क्षतभावेन दुभयमित्तत्वादस्यै° ।

हिमजणियं सीयं चिय अवेइ अनलाओ नायवो वेइ ।
एवं अणब्भुवगमे अइप्पसंगो[1] बला होइ ॥१४६॥

हिमजनितं शीतमेवापैत्यनलात्, शीतकारणविरोधित्वादनलस्य । नातपोऽपैति, तत्कारणाविरोधित्वादनलस्य । एवमनभ्युपगमे कारणविरोधिनः सकाशान्निवृत्तिरित्यनङ्गीकरणे । अतिप्रसङ्गो बलाद् भवति तन्निवृत्तिवत्तदन्यनिवृत्तिलक्षणा अव्यवस्था नियमेनापद्यत इति ॥१४६॥

एतदेवाह—

तब्भावंमि अ जं किंचि वत्थु जत्तो कुओ वि न हविज्जा ।
एवं च सव्वऽभावो पावइ अन्नुन्नविक्खाए ॥१४७॥

तद्भावेऽपि चातिप्रसङ्गभावे च । यत्किंचिदत्र वस्तुजातम् । यतः कुतश्चित्सकाशान्न भवेत्, अप्रतिपक्षादपि निवृत्त्यभ्युपगमात् । अत्रानिष्टमाह—एवं च सति सर्वाभावः प्राप्नोति अशेषपदार्था-

---

पदार्थके रहनेपर भी उस अविरुद्ध हेतुभूत वधसे कभी नष्ट नहीं किया जा सकता है—उसका विनाश विरुद्ध कारणसे ही सम्भव है, न कि अविरुद्ध कारणसे ॥१४५॥

इसीको आगे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

हिम (बर्फ) से उत्पन्न हुआ शैत्य ही अग्निके निमित्तसे नष्ट होता है, आतप उसके निमित्तसे नष्ट नहीं होता है । इस सामान्य नियमको न माननेपर अतिप्रसंग अनिवार्य होगा ।

विवेचन—यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि जो जिसके कारणका विरोधी होता है उसकी समीपतामें वह नष्ट हो जाता है । जैसे—अग्नि यदि शीतताके कारणभूत हिमकी विरोधी है तो उसकी समीपतामें वह हिमसे उत्पन्न हुई शीतता स्वभावतः नष्ट होती हुई देखी जाती है । इसके विपरीत जो जिसके कारणका विरोधी नहीं होता है उसकी समीपताके होनेपर भी वह उसके आश्रयसे नष्ट नहीं होता है । जैसे—वहां अग्नि चूंकि आतपको कारणभूत सूर्यकी किरणोंकी विरोधी नहीं है, इसीलिए उसके समीप रहनेपर भी वह आतप (उष्णता) नष्ट नहीं होता है । प्रकृतमें वधक्रिया चूंकि कर्मके कारणभूत अज्ञान आदिकी विरोधी नहीं है इसीलिए उस वधक्रियाके आश्रयसे वह अज्ञानजनित कर्म नष्ट नहीं हो सकता है । इतना स्पष्ट होनेपर भी यदि उपर्युक्त सर्वसम्मत सिद्धान्तको नहीं स्वीकार किया जाता है तो फिर जिस किसीके भी सद्भावमें जो भी कोई नष्ट हो सकता है, इस प्रकारसे जो अव्यवस्था होनेवाली है उसका निवारण नहीं किया जा सकता है ॥१४६॥

आगे उस अतिप्रसंगसे होनेवाली अव्यवस्थाको दिखलाते हैं—

और उस अतिप्रसंगके सद्भावमें जो कोई भी वस्तु जिस किसीके निमित्तसे नहीं हो सकेगी । तब वैसी स्थितिमें परस्परकी अपेक्षासे सब ही पदार्थोंके अभावका प्रसंग बलात् प्राप्त होगा ।

विवेचन—इसका अभिप्राय यह है कि किसी वस्तुका विनाश उसके विरोधीके द्वारा ही होता है, जैसे शीतका विनाश उसको विरोधी अग्निके द्वारा । पर वादी जब इस स्वभावसिद्ध नियमको न मानकर अविरोधी पदार्थके निमित्तसे भी विवक्षित वस्तुका विनाश स्वीकार करता है तब वैसी अवस्थामें जो किसी वस्तुकी उत्पत्तिका कारण है वह तो अविरोधी होता हुआ भी

---

१. अ अइप्पसंवेगो ।

भाव आपद्यते । कुतोऽन्योन्यापेक्षया अविरोधिनमप्यन्यमपेक्ष्यान्यस्य निवृत्तिरन्यं वान्यस्येति शून्यतापत्तिरिति ॥१४७॥

अह तं अहेउगं चिय कहं नु अत्थि त्ति अवगमो कह य ।
नागासमाइयाणं कुओवि[1] सिद्धो इह विणासो ॥१४८॥

अथैवं मन्यसे तत्कर्महेतुकमेव निर्हेतुकमेवेत्येतदाशङ्क्याह—कथं त्वस्तीति नैवास्ति, तद-हेतुत्वात् खरविषाणादिवत् । आकाशादिना अहेतुकेन सता व्यभिचारमाशङ्क्याह—अपगमः कथं विनाशश्च कथमस्येति । एतदेव भावयति—नाकाशादीनां नाकाशधर्मास्तिकायप्रभृतीनाम् । कुतश्चिल्लकुटादेः सिद्ध इह विनाशः, अहेतुकत्वेन नित्यत्वादिति ॥१४८॥

इत्तु[2] च्चिय असफलत्ता नो कायव्वो वहु त्ति[3] जीवाणं ।
वहहेउगं चिय तयं कहं निवित्ती तओ तस्स ॥१४९॥

अतोऽपि चाहेतुककर्माविनाशित्वेन[4] । अफलत्वात् कर्मक्षयफलशून्यत्वात् । न कर्तव्यो वधो जीवानामिति । वधहेतुकमेव तत्स्याद्वधनिमित्तमेव तत्कर्मेत्येतदाशङ्क्याह—कथं केन प्रकारेण ।

वादीके अभिमतानुसार विनाशका कारण सम्भव है । इस परिस्थितिमें किसी वस्तुकी उत्पत्ति तो होती नहीं और विनाश उनका होता रहेगा, तब इस प्रकारसे समस्त वस्तुओंका अभाव हो जाने-पर शून्यताका प्रसंग दुर्निवार होगा । इससे विरोधीके द्वारा ही किसी वस्तुका विनाश मानना उचित है न कि अविरोधीके द्वारा । इस प्रकार प्राणिवध अविरोधी होनेसे कर्मके क्षयका कारण नहीं हो सकता ॥१४७॥

आगे कर्मको अहेतुक माननेपर उसके विषयमें भी दोष दिखलाते हैं—

यदि वादीके अभिमतानुसार वह कर्म अहेतुक है—कारणसे रहित है—तो वह 'है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता—वैसा स्वीकार करनेपर उसका खरविषाण आदिके समान निर्हेतुक होनेसे अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा । इसपर यदि यह कहा जाये कि निर्हेतुक आकाशादिके समान उसके अस्तित्वमें कुछ बाधा सम्भव नहीं है, तो इसपर कहा गया है कि तब उसका विनाश कैसे होगा ? नहीं हो सकेगा । अभिप्राय यह है कि अहेतुक नित्य आकाश व धर्मास्तिकाय आदिका जिस प्रकार किसी दण्ड आदिके द्वारा विनाश सिद्ध नहीं है उसी प्रकार उस अहेतुक कर्मका भी आपके मतानुसार विनाश नहीं हो सकेगा ॥१४८॥

इसका क्या परिणाम होगा, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

इससे—नित्य आकाश आदिके समान उस कर्मका विनाश न हो सकनेके कारण—निष्फल होनेसे जीवोंके वधको नहीं करना चाहिए । इसपर यदि यह कहा जाये कि वह कर्म वधहेतुक ही है तो इसके उत्तरमें वादीसे कहा गया है कि वैसा होनेपर वधके आश्रयसे होनेवाले उस कर्मकी निवृत्ति उसी वधके द्वारा कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती है ।

विवेचन—यह पूर्वमें कहा जा चुका है कि यदि वादी कर्मको अकारणक मानता है तो उसका नित्य आकाश आदिके समान विनाश असम्भव हो जायेगा । और जब इस प्रकारसे उसका विनाश ही असम्भव होगा तब वादीने जो अपना अभिमत प्रकट करते हुए यह कहा था कि दुखी जीवोंके वधसे उनके कर्मका क्षय होता है, यह असंगत ठहरता है । इसीलिए कर्मक्षयके उद्देश्यसे

---

१. अ णोगासमाइणं कुईयो । २. अ एत्तो । ३. अ कायव्वा वाहो त्ति । ४. अ कर्म्मविनाशहेतुत्वेन ।

निवृत्तिर्व्यावृत्तिस्ततस्तस्माद्वधात्तस्य कर्मणः। न हि यद्यतो भवति तत्तत एव न भवति, भवना-भावप्रसङ्गादिति ॥१४९॥

तम्हा पाणवहोवज्जियस्स कम्मस्स क्खवणहेउत्ता।
तव्विरई कायव्वा संवररूव त्ति नियमेणं ॥१५०॥

यस्मादेवं वधहेतुकमेव तत्तस्मात्। प्राणवधोपार्जितस्य कर्मणः क्षपणहेतुत्वात्तद्विरति-र्वधविरतिः कर्तव्या संवररूपेति वधविरतिविशेषणा नियमेनावश्यतयेति ॥१५०॥

किं च—

सुहिएसु वि वहविरई कह कीरइ नत्थि पावमह तेसु।
पुन्नक्खओ वि हु फलं तब्भावे मुत्तिविरहाओ ॥१५१॥

सुखितेष्वपि प्राणिषु। वधविरतिर्व्यापादननिवृत्तिः। किं क्रियते भवद्भिः? नास्ति पापं क्षपणीयमथ तेषु सुखितेषु पुण्यनिमित्तत्वात्सुखस्य, एतदाशङ्क्याह—पुण्यक्षयोऽपि तद्वधापत्ति-जनितः फलमेव, अतस्तेष्वपि वध[धा] विरतिप्रसङ्गः। कथं पुण्यक्षयः फलम्? तद्भावे पुण्यभावे मुक्तिविरहात् मोक्षाख्यप्रधानफलाभावात् पुण्यापुण्यक्षयनिमित्तत्वात्तस्येति ॥१५१॥

अह तं सयं चिय तओ खवेइ इयरं पि किं व एमेव।
कालेणं खवइ च्चियं उवक्कमो कीरइ वहेण ॥१५२॥

जीवोंका कभी वध नहीं करना चाहिए। इसपर यदि वादी उस कर्मको अहेतुक न मानकर उसे वधके निमित्तसे मानना चाहे तो वह भी असंगत होगा। कारण यह कि जो जिसके निमित्तसे उत्पन्न होता है वह उसीके निमित्तसे कभी नष्ट नहीं हो सकता है, यह एक अनुभवसिद्ध बात है। तदनुसार जीववधके आश्रयसे बँधनेवाला कर्म कभी उसी जीववधसे नष्ट नहीं हो सकता है ॥१४९॥

इससे जो निष्कर्ष निकलता है, उसे आगे दिखलाते हैं—

इसलिए प्राणवधसे उपार्जित कर्मके क्षयका कारण होनेसे नियमतः संवरस्वरूप उस वधकी विरति (परित्याग) करना ही उचित है। अभिप्राय यह है कि जिसके आश्रयसे कर्म आता है उसे आस्रव और उसके निरोधको संवर कहा जाता है। तदनुसार प्राणवधसे चूँकि कर्म आता है, अतः उसके निरोधस्वरूप संवरका कारण होनेसे उस प्राणवधका परित्याग करना ही श्रेयस्कर है ॥१५०॥

वादीने सुखी जीवोंके वधकी विरतिको जो अवश्यकरणीय कहा था उसके भी विषयमें आगे दोष दिखलाते हैं—

सुखी जीवोंके वधकी विरतिको भी किस लिए किया जाता है? उसे भी नहीं करना चाहिए। इसपर वादी यदि यह कहता है कि उनके क्षय करनेके योग्य पाप नहीं है, इसीलिए उनके वधकी विरति करायी जाती है। इसके उत्तरमें यह कहा गया है कि उनके पुण्य तो है जिसके निमित्तसे वे सुखको प्राप्त हैं, अतः वादीके मतानुसार पुण्यका क्षय भी उनके वधका फल ठहरता है। कारण यह कि पुण्यके सद्भावमें भी मुक्ति प्राप्त होनेवाली नहीं है, क्योंकि वह मुक्ति पुण्य और पाप दोनोंका क्षय होनेपर ही सम्भव है ॥१५१॥

---

१. अ खविइ च्चिय।

अथैवं मन्यसे—तत्पुण्यं स्वयमेव तक आत्मनैवासौ सुखितः। क्षपयत्यनुभवेनैव वेदयतीत्ये-तदाशङ्क्याह—इतरदपि पापं किं न एवमेव किं न स्वयमेव दुःखितः क्षपयति, क्षपयत्येवेत्यर्थः[1]। अथैवं मन्यसे—कालेन प्रदीर्घेण क्षपयत्येव, नात्रान्यथाभावः। उपक्रमः क्रियते वधेन तस्यैव प्रदीर्घ-कालवेद्यस्य पापस्य स्वल्पकालवेद्यत्वमापाद्यते व्यापत्तिकरणेनेति ॥१५२॥

एतदाशङ्क्याह—

इयरस्स किं न कीरइ सुहीण भोगंगसाहणेणेवं।
न गुणं[3] ति तंमि खविए सुहभावो चेव तत्तु त्ति[4] ॥१५३॥

इतरस्येति पुण्यस्य। किं न क्रियते उपक्रमः? सुखिनां भोगाङ्गसाधनेन काश्मीरादेः कुंकुमादिसंपादनेन? अथैव मन्यसे—एवमुपक्रमद्वारेण न गुण इति तस्मिन् पुण्ये क्षपिते। कुतः? सुखभावादेव तत् इति ततः पुण्यात्सुखस्यैव प्रादुर्भावादिति ॥१५३॥

एतदाशङ्क्याह—

निरुवमसुक्खो मुक्खो न य सइ पुन्ने तओ त्ति किं न गुणो[5]।
पावोदयसंदिद्धा[6] इयरंमि उ निच्छओ केण ॥१५४॥

निरुपमसौख्यो मोक्षः, सकलाबाधानिवृत्तरुभयसिद्धत्वात्[7]। न च सति[8] पुण्ये तकोऽसौ, पुण्यक्षयनिमित्तत्वात्तस्य। इति एवं कथं न गुणः? पुण्योपक्रमकरणे गुण एव। अथैवं मन्यसे

सुखी जीवोंके पुण्यक्षयके विषयमे वादीके अभिमतको दिखलाते हुए उसका निराकरण—

सुखी जीव उस पुण्यको स्वयं ही क्षीण करता है, अर्थात् सुखोपभोगपूर्वक वह उस पुण्यका क्षय स्वयं करता है, अतः उसके लिए उसका वध अनावश्यक है, ऐसा यदि वादीका अभिमत है तो उसके उत्तरमे यह भी कहा जा सकता है कि इसी प्रकारसे दुखी जीव भी अपने पापको दुःखोपभोगपूर्वक क्यों नहीं स्वयं क्षीण कर दे? इसपर यदि वादी यह कहे कि वह उस पापको क्षीण तो करता ही है, पर उसे वह दीर्घकालमें क्षीण कर पावेगा, जब कि वधके द्वारा उसका उपक्रम किया जाता है—दीर्घकालमें भोगने योग्य उसे अल्पकालमें भोगने योग्य कर दिया जाता है। इससे दुखी जीवोंके वधका परित्याग कराना उचित नहीं है, किन्तु सुखी जीवोंके वधका परित्याग कराना उचित है। इस प्रकार वादीने अपने अभिमतको व्यक्त किया है ॥१५२॥

वादीके इस अभिमतका निराकरण व उसपर वादीकी पुनः आशंका—

इसके उत्तरमे यहां कहा गया है कि सुखी जीवोंके भोगोपभोगके साधनभूत कश्मीरी कुंकुम आदिको सम्पादित कराकर उनके पुण्यका भी उपक्रम क्यों नहीं कराया जाता? इसपर वादीका कहना है कि उससे—उपक्रम द्वारा पुण्यका क्षय करानेसे—कुछ लाभ नहीं है, क्योंकि उस पुण्यसे उनको सुखकी ही प्राप्ति होनेवाली है, अतः दुखी जीवोंके पापका उपक्रम कराना ही उचित है, न कि सुखी जीवोंके पुण्यका उपक्रम कराना ॥१५३॥

आगे वादीकी इस शंकाका समाधान किया जाता है—

मोक्ष अनुपम सुखसे संयुक्त है, वह पुण्यके रहते हुए सम्भव नहीं है, इस प्रकार उपक्रम द्वारा उस पुण्यका क्षय करानेमे लाभ क्यों नहीं है? मोक्ष प्राप्त करा देना ही उसका बड़ा लाभ है। इसपर वादी यदि यह कहे कि पुण्यका उपक्रम करनेपर वह पापके उदयसे सन्दिग्ध है, अर्थात्

---

१. अ किन्न एवमेव दुःखित. पयत्येवेत्यर्थः। २. अ °वेद्यकालस्य स्वल्प°। ३. अ गुणो। ४. अ तत्तो त्ति। ५. अ सोक्खो मोक्खो ण य सति। ६. अ संदिट्ठो। ७. अ सकलाबधा। ८. अ नेव सति।

पापोदयसंक्लिष्टोऽसौ न ह्यत्र निश्चय उपक्रमेण पुण्ये क्षपिते तस्य मोक्ष एव भविष्यति न तु पापोदय इति, एतदाशङ्क्याह—इतरस्मिन् तु दुःखितपापक्षपणे निश्चयः केन यदुत तस्यैवमेवार्थो न पुनरनर्थं[1] इति ॥१५४॥

एतदेव भावयति—

> दुहिओ वि नरगगामी वहिओ सो अवहिओ बहू अन्ने ।
> वहिऊण न गच्छिज्जा कयाइ ता कह न संदेहो ॥१५५॥

दुःखितोऽपि मत्स्यबन्धादिर्नरकगामी हतः सन् कदाचित्स्यादिति योगः, नरकसंवर्तनीयस्य कर्मण: आसकलनसंभवात्, वेद्यमानोपक्रमे च तदुदयप्रसङ्गात् । स एवाहतोऽव्यापादितः सन् बहूनन्यान् दुःखितान् हत्वा त्वन्मतेनैव पापक्षयान्न गच्छेत् कदाचित् । यस्मादेवं तस्मात्कथं न संदेहः ? दुःखितपापक्षपणेऽपि संदेह एवेति ॥१५५॥

अधुना प्रागुपन्यस्तं नारकन्यायमधिकृत्याह—

> नेरइयाण वि तह देहवेयणातिसयभावओ पायं ।
> नाईवसंकिलेसो समोहयाणं व विन्नेओ ॥१५६॥

नारकानामप्युदाहरणतयोपन्यस्तानाम् । तथा तेन प्रकारेण नरकवेदनीयकर्मोदयजनितेन । देहवेदनातिशयभावतः शरीरवेदनायास्तीव्रभावेन । प्रायो बाहुल्येन । नातीवसंक्लेशः क्रूरवि-

---

पुण्यका उपक्रम करानेपर उसके मोक्ष ही होगा और पापका उदय नहीं होगा, यह सन्देहापन्न है, अतः पुण्यका उपक्रम कराना उचित नहीं है । इस प्रकार वादीके कहनेपर उत्तरमें यह भी कहा जा सकता है कि दुखी जीवोंके पापका उपक्रम करानेपर भविष्यमें उनके पापका उदय न होकर पुण्यका ही उदय होगा, जिससे वे दुखी न होकर सुखी ही होंगे, इसका निश्चय भी कैसे किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता है । अतः वध करके उपक्रम द्वारा उनके पापका क्षय कराना भी युक्तिसंगत नहीं है ॥१५४॥

इसे ही आगे स्पष्ट किया जाता है—

दुखी जीव—मछलियोंके घातक धीवर आदि—भी मारे जाकर कदाचित् नरकगामी हो सकते हैं तथा इसके विपरीत वे न मारे जाकर—जीवित रहते हुए—आपके मतानुसार अन्य बहुतसे जीवोंका वध करके कदाचित् पापका क्षय हो जानेसे नरकमे न भी जायें । इस परिस्थिति-मे दुखी जीवोंके पापक्षयमें कैसे सन्देह नहीं है ? उसके विषयमे भी वह सन्देह तदवस्थ है ॥१५५॥

आगे वादीने जिस नारकन्यायके अनुसार दुखी जीवोंके वधको उचित बतलाया था इस नारकन्यायके सम्बन्धमें विचार किया जाता है—

नारकी जीवोंके भी उस प्रकारसे—नरकमें वेदनके योग्य कर्मके उदयसे—जो अतिशय तीव्र शारीरिक वेदना होती है उसके निमित्तसे वेदनासमुद्घातको अथवा मूर्छाको प्राप्त जीवोंके समान प्रायः अत्यन्त संक्लेश नही होता है, ऐसा जानना चाहिए ।

विवेचन—वादीने पूर्वमें (३५–३८) नारकियोंका उदाहरण देते हुए दुखी जीवोंके वधसे उनके पाप कर्मका क्षय होता है, इस अपने अभिमतको पुष्ट किया था । उसे दूषित करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि नारकी जीवोंको भी प्रायः अतिशय तीव्र शरीरकी वेदनासे अभिभूत होनेके मूर्छाको प्राप्त हुए जीवोंके समान अन्तःकरणके व्यापारसे रहित हो जानेके कारण अतिशय

---

१. अ पुनरर्थ ।

परिणामलक्षणः। समवहतानामिव विज्ञेयः वेदनातिशयेनान्तःकरणव्यापाराभिभवादिति ॥१५६॥

एतदेवाह—

इत्थ वि समोहया मूढचेयणा वेयणाणुभवखिन्ना।
तंमित्तचित्तकिरिया न संकिलिस्संति अन्नत्थ ॥१५७॥

अत्रापि तिर्यग्लोके। समवहता वेदनासमुद्घातेनावस्थान्तरमुपनीताः। मूढचेतना विशिष्ट-स्वव्यापाराक्षमचैतन्याः। वेदनानुभवखिन्नाः तीव्रवेदनासंवेदनेन श्रान्ताः। तन्मात्रचित्तक्रिया वेदनानुभवमात्रचित्तव्यापाराः। न संक्लिश्यन्ते न रागादिपरिणामं यान्ति। अन्यत्र स्त्र्यादौ, तत्रैव निरोधादिति ॥१५७॥

ता तिव्वरागदोसाभावे बंधो वि पयणुओ तेसिं।
सम्मोहओ च्चिय तहा खओ वि णेगंतमुक्कोसो ॥१५८॥

यस्मादेवं तत्तस्मात्। तीव्ररागद्वेषाभावे बन्धोऽपि प्रतनुस्तेषां समवहतानाम्, निमित्त-दौर्बल्यात्। सम्मोहत एव तथा क्षयोऽपि बन्धस्य नैकान्तोत्कृष्टस्तेषां सम्यग्ज्ञानादिविशिष्ट-तत्कारणाभावादिति ॥१५८॥

संक्लेश नहीं होता है। अतएव पूर्वमें जो यह कहा गया है कि अधम असुरकुमार देवोंके द्वारा अथवा परस्परमें एक दूसरेको दिये गये दुखको सहते हुए नारकियोंके रौद्रध्यानको प्राप्त होनेपर भी बन्धकी अपेक्षा कर्मकी निर्जरा ही अधिक होती है, वह युक्तिसंगत नहीं है ॥१५६॥

आगे इसे ही पुष्ट किया जाता है—

यहाँपर—मध्यलोक—में भी वेदनासमुद्घातको प्राप्त होकर अवस्थान्तरको प्राप्त होनेपर जिनकी चेतना—अन्तःकरणका व्यापार—किसी कार्यके करनेमें असमर्थ हो चुका है ऐसे जीव वेदनाके अनुभवसे व्याकुल होकर केवल उसी वेदनाके अनुभवमें अपने चित्तके व्यापारको संलग्न करते हैं, इसीसे अन्यत्र—अन्य विषयोंमें—संक्लेशको प्राप्त नहीं होते हैं ॥१५७॥

इसका क्या परिणाम होता है, इसे आगे स्पष्ट करते हैं—

इसीलिए—तीव्र वेदनाके अनुभवसे—चेतनाके विमूढ़ होनेके कारण—तीव्र राग-द्वेषके अभावमें उनके मूर्च्छाके निमित्तसे बन्ध भी अतिशय कम होता है तथा उस कर्मका क्षय भी सर्वथा उत्कृष्ट नहीं होता।

विवेचन—लोकमें देखा जाता है कि जो प्राणी तीव्र वेदनासे अभिभूत होते हैं वे मूछित हो जाते हैं, इससे उनका चित्त एकमात्र वेदनाके अनुभवमें संलग्न रहनेके कारण अन्य विषयोंमें राग-द्वेषको प्राप्त नहीं होता। इसीलिए उनके बन्ध जैसे कम होता है वैसे ही निर्जराके कारणभूत विशिष्ट सम्यग्ज्ञानादिके अभावमें कर्मकी निर्जरा भी कम ही होती है। यही बात उन नारकियोंके विषयमें भी समझना चाहिए। वे भी वेदनासे अभिभूत होकर जब अन्यत्र राग-द्वेषसे रहित होते हैं तब उनके भी बन्ध और निर्जरा अल्प मात्रामें ही सम्भव है। अतएव वादीका जो यह कहना है कि नारकियोंके जैसे कर्मका बन्ध कम और पापका क्षय अधिक होता है वैसे ही दुखी जीवोंका वध करनेसे उनके भी बन्ध कम और पापका क्षय अधिक सम्भव है, यह युक्तिसंगत नहीं है ॥१५८॥

---

१. अ तम्मत्त। २. अ संकिलेसंति। ३. अ 'अन्नत्थ' नास्ति। ४. अ समोहउ। ५. अ °मुक्कोसो।

यथा नोत्कृष्टक्षयस्तथा चाह—

जं नेरइओ कम्मं खवेइ बहुआहि वासकोडीहिं ।
तन्नाणी तिहि गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेण ॥१५९॥

यन्नारकः कर्म क्षपयति बह्वीभिर्वर्षकोटीभिस्तथा दुःखितः सन् क्रियामात्रक्षपणात् तज्ज्ञानी तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण, संवेगादिशुभपरिणामस्य तत्क्षयहेतोस्तीव्रत्वात् ॥१५९॥

निगमयन्नाह—

एएण कारणेणं नेरइयाणं पि पावकम्माणं ।
तह दुक्खियाण वि इहं न तहा बंधो जहा विगमो ॥१६०॥

एतेनानन्तरोदितेन कारणेन नारकाणामपि पापकर्मणां तथा तेन प्रकारेण दुःखितानामपीह विचारे न तथा बन्धो यथा विगमः, प्रायो रौद्रध्यानाभावादिति ॥१६०॥

अह उ तहाभावंपि हु कुणइ वहंतो न अन्नहा जेण ।
ता कायव्वो खु तओ नो तप्पडिवक्खबंधाओ ॥१६१॥

उनके उत्कृष्ट क्षय क्यों नहीं होता, इसका कारण आगे बतलाया जाता है—

जिस कर्मको नारकी जीव बहुत-सी वर्षकोटियोंमें—अनेक करोड़ वर्षोंमें—क्षीण करता है उसे ज्ञानी जीव तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित होकर उच्छ्वास मात्र कालमें ही क्षीण कर देता है। अभिप्राय यह है कि कर्मक्षयका कारण सम्यग्ज्ञानके साथ संवेगादिरूप शुभ परिणाम हैं। उनके होनेपर सम्यग्ज्ञानी जीव जिस क्लिष्ट कर्मका क्षय अल्प समयमें ही कर डालता है उसका क्षय नारकी जीव उक्त परिणामोंके बिना असह्य वेदनाका अनुभव करते हुए करोड़ों वर्षोंमें भी नहीं कर पाते हैं। इसीलिए वादीके द्वारा दिया गया नारकियोंका वह उदाहरण प्रकृतमें लागू नहीं होता ॥१५९॥

इससे निष्कर्ष क्या निकला, इसे आगे प्रकट किया जाता है—

इस कारण पापकर्मसे संयुक्त नारकियोंके तथा दुखी जीवोंके भी यहाँ—प्रकृत विचारमें—वैसा बन्ध नहीं होता जैसा कि विनाश होता है। अभिप्राय यह है कि जैसे अतिशयित वेदनासे व्यथित नारकियोंके अधिक संक्लेश न होनेके कारण न बन्ध अधिक होता है और न पापकर्मका क्षय भी अधिक होता है वैसे ही दुखी जीवोंके भी वधजनित मूर्छाकी अवस्थामें रौद्रध्यानके अभावमें न बन्ध अधिक होता है और न पापक्षय भी उत्कृष्ट होता है। इसीलिए पापक्षयके उद्देश्यसे दुखी जीवोंका वध करना कभी उचित नहीं ठहरता ॥१६०॥

आगे वादीके द्वारा जो पुनः शंका की जाती है उसका भी समाधान किया जाता है—

इसपर वादी कहता है कि जिस कारण वध करता हुआ प्राणी उस प्रकारके भावको—अल्प बन्धके साथ कर्मक्षयकी कारणभूत मूर्छाको—भी करता है, क्योंकि उसके बिना कर्मक्षय सम्भव नहीं है, इसीलिए उस वधको करना ही चाहिए। इसके समाधानमें यह कहा गया है कि वैसा हो नहीं सकता। कारण यह कि वधसे कर्मक्षयके माननेपर उसके प्रतिपक्षभूत अवधसे—वध न करनेसे—बन्धका प्रसंग प्राप्त होता है।

अथैवं मन्यसे—तथाभावमपि सम्मोहभावमपि प्रतनुबन्धेन कर्मक्षयहेतुं करोति। घ्नन्नेव व्यापादयन्नेव, नान्यथा। येन कारणेन। तत्तस्मात्कर्तव्य एव तको वध इत्याशङ्क्याह—नो नैतदेवं। तत्प्रतिपक्षबन्धाद्वधप्रतिपक्षोऽवधस्तस्माद्बन्धा[1]दन्यथावधात्तत्क्षयानुपपत्तिरविरोधाविति ॥१६१॥

एवं च मुत्तबंधादओ इहं पुव्ववन्निया[2] दोसा।
अणिवारणिज्जपसरा अब्भुवगमबाहगा नियमा ॥१६२॥

एवं चावधाद्बन्धापत्तौ। मुक्तबन्धादय इह पूर्ववर्णिता दोषा अनिवारितप्रसरा अभ्युपगम-बाधका वधात्कर्मक्षय इत्यङ्गीकृतविरोधिनो नियमेन अवश्यतयेति ॥१६२॥

उपसंहरन्नाह—

इय एवं पुव्वावरलोगविरोहाइदोससयकलियं।
मुद्धजणविम्हयकरं[3] मिच्छत्तमलं पसंगेणं ॥१६३॥

इय एवमेतत्पूर्वापरलोकविरोधादिदोषशतकलितं मुग्धजनविस्मयकरं संसारमोचकमतं मिथ्यात्वम् अलं पर्याप्तं प्रसङ्गेनेति[4] ॥१६३॥

विवेचन—यहाँ वादी शंका करता है कि जब दुखी जीवोंका वध किया जाता है तब वे मूर्छाको प्राप्त हो जाते हैं। इस मूर्छाकी अवस्थामें उनके अल्प बन्धके संक्लेशके अभावमें साथ कर्मका क्षय होता है। इस कारण उनका वध करना श्रेयस्कर है, क्योंकि वधके बिना उनके कर्मक्षयका अन्य कोई कारण सम्भव नहीं है। वादीकी इस शंकाके समाधानमें यहाँ यह कहा गया है कि वैसा सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि कर्मका बन्ध और क्षय ये दो कार्य परस्पर विरुद्ध हैं, अतः इनके कारण भी परस्पर भिन्न होने चाहिए। ऐसी परिस्थितिमें वादी यदि वधसे कर्मका क्षय मानता है तो कर्मबन्धका कारण उसका प्रतिपक्षी अवध—वधका न करना—ठहरता है। यह वादीके लिए अनिष्टका प्रसंग है। इसे टालनेके लिए यदि वादी अवधको कर्मबन्धका कारण नहीं मानना चाहता है तो फिर वह वध कर्मक्षयका भी कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि विरोधी ही विवक्षित वस्तुके विनाशका कारण होता है। तदनुसार वध कुछ कर्मका विरोधी नहीं है ॥१६१॥

उपर्युक्त अवधसे कर्मबन्धके प्रसंगमें और क्या अनर्थ हो सकता है, इसे भी आगे स्पष्ट किया जाता है—

इस प्रकार—अवधसे कर्मबन्धका प्रसंग प्राप्त होनेपर—मुक्त जीवोंके भी कर्मबन्धका प्रसंग अनिवार्य होगा, इत्यादि जिन दोषोंका वर्णन पूर्वमें किया जा चुका है उनके प्रसारको नहीं रोका जा सकेगा। ये सब दोष 'वधसे कर्मका क्षय होता है,' इस वादीकी मान्यतामें नियमसे बाधक हैं ॥१६२॥

अब आगे इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

इस प्रकारसे पूर्वापर विरोध और लोक विरोध आदि सैकड़ों दोषोंसे युक्त यह मिथ्यात्व—संसारमोचकोंका मिथ्यामत केवल मूढ़ जनोंके लिए आश्चर्यचकित करनेवाला है—वास्तवमें वह असंगत व अहितकर होनेसे आत्महितैषियोंके लिए अग्राह्य है ॥१६३॥

---

१. अ प्रतिपक्षबंधो सत्तस्माद्बंधा°। २. अ बंधादहो अहे पुव्वन्निया। ३. अ अतोऽग्रे टीकागत 'विस्मयकरं' पदपर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति। ४. अ 'प्रसङ्गेनेति' नास्ति।

अथुनान्यद्वावस्थानकमाह्—

अन्ने आगंतुगदोससंभवा बिंति वहनिवित्तीओ ।

दोण्ह वि जणाण पावं [1]समयंमि अदिट्ठपरमत्था ॥१६४॥

अन्ये वादिनः आगन्तुकदोषसंभवात्कारणात् । ब्रुवते । किम् ? वधनिवृत्तेः सकाशाद्द्वयोरपि जनयोः प्रत्याख्यातृ-प्रत्याख्यापयित्रोः । पापं समये आगमे । अदृष्टपरमार्था अनुपलब्धभावार्था इति ॥१६४॥

आगन्तुकदोषसंभवमाह—

सव्ववहसमत्थेणं पडिवन्नाणुव्वएण सिंहाई ।

ण घाईओ त्ति तेणं तु घाइतो जुगप्पहाणो उ [2] ॥१६५॥

सर्ववधसमर्थेन सिंहादिक्रूरसत्त्वव्यापादनक्षमेण । प्रतिपन्नाणुव्रतेन सता । सिंहादिः सिंहः शरभो वा । न घातित इति । तेन तु सिंहादिना । घातितो युगप्रधानोऽनुयोगधर एक एवाचार्यः । संभवत्येतदिति ॥१६५॥

तत्तो तित्थुच्छेओ धणियमणत्थो पभूयसत्ताणं ।

ता कह न होइ दोसो तेसिमिह निवित्तिवादीणं ॥१६६॥

अब इस प्रकरणको समाप्त कर आगे अन्य किन्हीं वादियोंके अभिमतको दिखलाते हुए उसका निराकरण किया जाता है—

आगममें परमार्थको न देखनेवाले—परमागमके रहस्यको न समझनेवाले—अन्य कितने ही वादी वधकी निवृत्तिसे होनेवाले आगन्तुक—भविष्यमें आनेवाले—दोषोंकी सम्भावनासे प्रत्याख्यान करनेवाले और उसे करानेवाले इन दोनों ही जनोंके पाप बतलाते हैं ॥१६४॥

उक्त आगन्तुक दोषोंको स्पष्ट करते हुए आगे अहिंसाणुव्रतके ग्रहणसे क्या अनर्थ हो सकता है, इसे दिखलाते हैं—

समस्त दुष्ट प्राणियोंके वधमें समर्थ किसी श्रावकने अणुव्रतको स्वीकार कर लेनेके कारण सिंह आदि हिंस्र प्राणीका घात नहीं किया । उधर उस सिंहने किसी युगप्रधान—अनुयोगके धारक परम हितैषी साधु—का घात कर डाला ।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि श्रावक यद्यपि सिंह आदि किसी भी दुष्ट प्राणीका घात कर सकता था, पर अणुव्रतमें प्राणवधनिवृत्तिको स्वीकार कर लेनेसे वह उक्त सिंह आदिका वध नहीं करता है । उधर वह सिंह आदि जीवित रहकर किसी लोकोपकारक साधुका भक्षण कर लेता है । इस प्रकार उक्त साधुसे जो बहुतसे भव्य जीवोंका उपकार होनेवाला था उससे वे वंचित हो जाते हैं । इसलिए वादीके अभिमतानुसार प्राणवधकी निवृत्ति कराना उचित नहीं है ॥१६५॥

युगप्रधानके घातसे क्या अनर्थ होनेवाला है, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

उससे—युगप्रधानके घातसे—बहुतसे आत्महितैषी जीवोंका अतिशय अनर्थ करनेवाला तीर्थका—धर्मप्रवर्तनका—विनाश होनेवाला है । इससे उन निवृत्तिवादियोंके लिए दोष कैसे नहीं होता है ?

---

१. अ जणाण भावं । २. अ णो घाइउ त्ति ।

ततस्तस्मादाचार्यघातात्तीर्थोच्छेदः जनितमत्यर्थमनर्थः प्रभूतसत्त्वानां दर्शनाद्यनवाप्त्या मुमुक्षूणाम् । यतश्चैवं ततस्मात् । कथं न भवति दोषः। तेषां[1] प्रत्याख्यातृप्रत्याख्यापयितृणाम् । इह विनाशकरणे । निवृत्तिवादिनां भवत्येवेति ॥१६६॥

तम्हा नेव निवित्ती कायव्वा अवि य अप्पणा चेव ।
अद्धोचियमालोचिय अविरुद्धं होइ कायव्वं ॥१६७॥

यस्मादेवं तस्मान्नैव निवृत्तिः कार्या अपि चात्मनैवाद्धोचितं कालोचितमालोच्य अविरुद्धं भवति कर्तव्यं यद्यस्यामवस्थायां परलोकोपकारीति एषः पूर्वपक्षः ॥१६७॥

अत्रोत्तरमाह—

सीहवहरक्खिओ सो उड्डाहं किंपि कह वि काऊणं ।
किं अप्पणो परस्स य न होइ अवगारहेउ त्ति ॥१६८॥

एवमपि दोषसंभवे नन्विदमपि संभवति—सिंहवधरक्षितोऽसावाचार्य उड्डाहमुपघातम् ।

विवेचन—वादीका अभिप्राय यह है कि यदि श्रावकको अणुव्रतमें प्राणवधनिवृत्ति न करायी गयी होती तो वह उस युगप्रधानके घातक उस सिंह आदिका वध करके उसकी रक्षा कर सकता था। इस प्रकार जीवित रहनेपर वह बहुतसे जीवोंको सदुपदेश देकर उन्हें सम्यक्त्व आदि ग्रहण करा सकता था, जिससे उनका कल्याण होनेवाला था। किन्तु उसके असमयमें मर जानेसे उसके द्वारा जो उन प्राणियोंका हित होनेवाला था उससे वे वंचित रह जाते है। यह अपराध प्राणवधका प्रत्याख्यान करनेवाले और करानेवाले दोनोंका है। अतः इस आगन्तुक दोषकी सम्भावनासे प्राणवधका प्रत्याख्यान करना व कराना उचित नहीं है, यह उस वादीका अभिप्राय है ॥१६६॥

इससे वादीको क्या अभीष्ट है, इसे वह आगे प्रकट करता है—

इस कारण प्राणवधनिवृत्ति नहीं कराना चाहिए। किन्तु स्वयं ही समयोचित आलोचनाको करके जिसमें किसी प्रकारका विरोध सम्भव न हो ऐसा आचरण करना चाहिए।

विवेचन—वादी अपने अभिमतका उपसंहार करता हुआ कहता है कि इस प्रकारसे जो लोकका अहित होनेवाला है उसके संरक्षणकी दृष्टिसे किसीको प्राणवधका प्रत्याख्यान नहीं कराना चाहिए। यदि कभी लोकहितकी दृष्टिसे किसी क्रूर प्राणीका घात भी करना पड़े तो उसे करके समयानुसार यथायोग्य आलोचनापूर्वक प्रायश्चित्त ग्रहण करके अपनेको दोषसे मुक्त करना ही उचित है। इस प्रकार वादीने यहाँ (१६४–६७) अपने पक्षको स्थापित किया है ॥१६७॥

वादीके उक्त अभिमतका निराकरण करते हुए आगे उक्त युगप्रधानसे अहितकी भी सम्भावना प्रकट की जाती है—

सिंहके वधसे रक्षित वह युगप्रधान क्या किसी परस्त्रीसेवनादिरूप निकृष्ट आचरणको किसी प्रकारसे—क्लिष्ट कर्मके उदयसे—करके अपने व अन्यके अपकारका कारण नहीं हो सकता था ? यह भी सम्भव था।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि वादीने जिस प्रकार आगन्तुक दोषकी सम्भावनामें प्रकृत युगप्रधानके जीवित रहनेपर उसके द्वारा होनेवाले लोककल्याणकी सम्भावना व्यक्त की है, ठीक

---

1. अ दोषो येषां।

किमपि योषिदासेवनादिकम्। कथमपि क्लिष्टकर्मोदयात् कृत्वा। किमात्मनोऽबोधिलाभनिवर्तनीय-कर्मबन्धहेतुत्वेन। परस्य च श्रावकादेर्विपरिणामकरणेन। न भवत्यपकारहेतुर्भवत्येवेति ॥१६८॥

किं इय न तित्थहाणी किं वा वहिओ न गच्छई नरयं।
सीहो किं वा सम्मं न पावई जीवमाणो उ ॥१६९॥

किमेवं न तीर्थहानिस्तीर्थहानिरेव[1]। किं वा वधितो व्यापादितः क्रूराशयत्वान्न गच्छति नरकं सिंहो गच्छत्येव। किं वा सम्यक्त्वं न प्राप्नोति जीवन् सिंहोऽतिशयवत्साधुसमीपे संभवति प्राप्तिरिति ॥१६९॥

किं वा तेणावहिओ कहिंचि अहिमाइणा न खज्जेज्जा[2]।
सो ता इहंपि दोसो कहं न होइ त्ति चिंतमिणं ॥१७०॥

किं वा तेन सिंहेनाहतोऽव्यापादितः सन्। कथंचिद्रजन्यां प्रमादवह्न्यादिना सर्पेण गोनसेन वा। न खाद्येत स आचार्यः? संभवति सर्वमेतत्। यस्मादेवं तस्मादिहापि दोषो भवदभिमतः कथं न भवतीति चिन्त्यमिदं विचारणीयमेतदिति ॥१७०॥

यतश्चैवमतः—

उसी प्रकार आगन्तुक दोषकी ही सम्भावनासे यहाँ उसके समाधानमें भी यह कहा जा रहा है कि सिंहके वधसे बचकर वह साधु किसी निकृष्ट आचरणको करके क्लिष्ट कर्मको बाँधता हुआ क्या उसके उदयसे स्वयं अपना अहित नहीं कर सकता था? यह भी सम्भव था। इसी प्रकार वह कुमार्गका उपदेश करके क्या दूसरे जीवोंके अहितका भी कारण नहीं बन सकता था? यह भी असम्भव नहीं था। तात्पर्य यह है कि आगन्तुक दोषकी सम्भावनासे किसी भी प्राणीका वध करना न्यायसंगत नहीं है। कारण यह कि आगन्तुक दोषकी सम्भावनामें जहाँ लोककल्याण हो सकता है वहाँ उसकी सम्भावनासे अपना व दूसरोंका अहित भी हो सकता है ॥१६८॥

उससे और भी क्या अनर्थ हो सकता है, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

इस प्रकार—सिंहसे बचकर निकृष्ट आचरण करनेपर—भी क्या उस युगप्रधानके द्वारा तीर्थकी हानि नहीं हो सकती थी? इस प्रकारसे भी वह तीर्थहानि हो सकती थी। अथवा क्या इस प्रकारसे मारा जाकर वह सिंह दुष्ट अभिप्रायके कारण नरकको नहीं जा सकता है? अवश्य जा सकता है। अथवा वही सिंह जीवित रहकर क्या सम्यक्त्वको नहीं प्राप्त कर सकता है? जीवित रहकर वह किसी अतिशयवान् साधुके समीपमें उस सम्यक्त्वको पा करके आत्मकल्याण भी कर सकता है। इस कारण आगन्तुक दोषकी सम्भावनासे सिंहादिक किसी भी प्राणीका वध करना उचित नहीं है ॥१६९॥ इसके अतिरिक्त—

अथवा उक्त आचार्य सिंहके द्वारा न मारा जाकर क्या किसी प्रकार—अँधेरी रातमे प्रमादके वश होकर—सर्प आदिके द्वारा नहीं खाया जा सकता है? यह भी सम्भव है। इस प्रकार यहाँ भी—सिंहसे बचाये जानेपर भी—कैसे दोष नहीं हो सकता है? सिंहसे उसके बचाये जानेपर भी उपर्युक्त दोष सम्भव है। इस प्रकार वादीका उपर्युक्त कथन सोचनीय है—वह युक्तिसंगत नहीं है ॥१७०॥

आगे आगन्तुक दोषोंकी सम्भावनासे समस्त लोकव्यवहारका भी लोप हो सकता है, इसे दिखलाते हैं—

---

१. अ न तीर्थहानिरेव। २. अ माइणो न हज्जेज्जा। ३. अ विसूइगादीणं संभवं तस्स किं दोसो।

सव्वपवित्तिअभावो पावइ एवं तु अन्नदाणे वि ।
तत्तो विसूइयाई न संभवंतित्थ किं दोसा ॥१७१॥

सर्वप्रवृत्त्यभावः प्राप्नोत्येवमागन्तुकदोषसंभवात् । एवं च सत्यन्नदानेऽपि न प्रवर्तितव्यम् । अपि-शब्दाददानेऽपि । ततोऽन्नदानादेर्विसूचिकादयो विसूचिका मरणम् अदाने प्रद्वेषतो[1] धनहरण-व्यापादनादयो न सम्भवन्त्यत्रान्नदानादौ किं दोषाः ? संभवन्त्येवेति ॥१७१॥

तथा—

सयमवि य अपरिभोगो एत्तो च्चिय एवं गमणमाई वि ।
सव्वं न जुज्जइ च्चिय दोसासंकानिवित्तीओ ॥१७२॥

स्वयमपि चापरिभोगोऽन्नादेः । अत एवागन्तुकदोषसंभवादेव । एवं गमनाद्यपि गमन-मागमनमवस्थानम् । सर्वं न युज्यते एव दोषाशंकानिवृत्तेः गच्छतोऽपि कण्टकवेधादिसंभवादा-गच्छतोऽपि अवस्थानेऽपि गृहपातादिसंभवदर्शनादिति ॥१७२॥

इस प्रकार—आगन्तुक दोषकी सम्भावनासे—समस्त प्रवृत्तिके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। वैसी अवस्थामें आहारके देनेमें भी क्या उससे विसूचिका आदि दोषोंकी सम्भावना नहीं होती है ? उनकी सम्भावना भी बनी रहती है।

विवेचन—जैसीकी वादीकी मान्यता है तदनुसार तो किसी भी कार्यका करना सम्भव न होगा, क्योंकि प्रयोजनके वश जो भी जिस कार्यको करना चाहेगा उसमें किसी न किसी आगन्तुक दोषकी सम्भावना बनी ही रहनेवाली है। उदाहरणार्थ यदि कोई किसी साधुको आहार देना चाहता है तो उसमे भी विसूचिका[2] (अजीर्ण विशेष) रोग आदि आगन्तुक दोषकी सम्भावना बनी रहती है। कारण यह कि किन्हीं प्राणियोंके उस भोजनसे अजीर्ण आदि रोग उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। इस आगन्तुक दोषकी सम्भावनासे यदि कोई उसे नहीं देना चाहे तो उसमे भी भोजनके प्राप्त न होनेसे उसके अभिलाषीके द्वारा धनके अपहरण व प्राणघात आदिकी सम्भावना बनी रहती है। यदि कोई प्रयोजनवश रेल अथवा बस आदिके द्वारा बाहर जाना चाहे तो उसमें अपघात आदिके होनेकी शंका रह सकती है। इस प्रकार आगन्तुक दोषके भयसे कोई किसी भी कार्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। परिणाम यह होगा कि इस प्रकारसे तो समस्त लोकव्यवहार भी ठप्प हो जायेगा ॥१७१॥

उस आगन्तुक दोषकी शंकासे स्वयंको भी दुर्गति हो सकती है, यह आगे दिखलाते हैं—

उक्त आगन्तुक दोषके भयसे भोजन आदिका उपभोग स्वयं भी नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उसके भयसे गमन आदि—कहीं अन्यत्र जाना, आना व अवस्थित रहना आदि—सभी कुछ करनेके अयोग्य ठहरेंगे, क्योंकि उन सभीमें दोषकी शंका दूर नहीं हो सकती है। जैसे—जाने-आनेमें कांटे आदिके द्वारा वेधे जाने व स्थित रहनेमें घरके गिर जानेका भय; इत्यादि रूपसे सर्वत्र भय बना रहनेवाला है ॥१७२॥

---

१. अ अदाने पि प्रद्वेषतो ।

२. विसूचिकाका लक्षण—

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः ।
यस्याजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते ॥

अणिवित्ती वि हु एवं कह कायव्व त्ति भणियदोषाओ ।
आलोयणं पि अवराहसंभवाओ ण जुत्तं ति ॥१७३॥

अनिवृत्तिरप्येवं कथं कर्तव्येति भणितदोषादनिवृत्तित एव राजमयूरादिव्यापादनेन दोषसंभवात् । आलोचनमपि प्रागुपदिष्टम् आत्यन्तिककार्यविघ्नत्वात् किमप्येते आलोचयन्तीति वान्यापकारप्रवृत्तेरपराधसंभवान्न युक्तमेवेति ॥१७३॥

उपसंहरन्नाह—

इय अणुभवलोगागमविरुद्धमेयं न नायसमयाणं ।
मइविब्भमस्स हेऊ वयणं भावत्थनिस्सारं ॥१७४॥

इय एवं अनुभवलोकागमविरुद्धमेतत्—निवृत्तौ परिणामशुद्ध्यनुभवादनुभवविरुद्धम्, समुद्रादिप्रतरणादिप्रवृत्तेर्लोकविरुद्धम्, यस्य कस्यचिद्विधानादागमविरुद्धम् एतत्पूर्वपक्षवादिवचनमिति योगः । न ज्ञातसमयानां नावगतसिद्धान्तानां मतिविभ्रमस्य हेतुः कथमेतच्छोभनं मतिविप्लवस्य कारणम्, किंविशिष्टं वचनम् ? भावार्थनिस्सारं अभिप्रेतगर्भार्थशून्यमिति ॥१७४॥

उक्त दोषसे अनिवृत्ति भी कैसे रह सकती है, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

जिन दोषोंका निर्देश किया जा चुका है उन्ही दोषोंके कारण अनिवृत्ति—प्राणवधका अप्रत्याख्यान—भी कैसे किया जा सकता है ? वह भी सम्भव नहीं होगा। इसके अतिरिक्त अपराधकी सम्भावनासे आलोचना करना भी, जिसका कि निर्देश वादीके द्वारा पूर्वमें (१६७) किया गया है, योग्य नहीं होगी ॥१७३॥

उपर्युक्त वादीका अभिमत अनुभव आदिके भी विरुद्ध है, इसका निर्देश आगे किया जाता है—

वादीका यह कथन अनुभव, लोक और आगमके भी विरुद्ध है। इसलिए वह आगमके ज्ञाताजनोंके लिए बुद्धिभ्रमका कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि वह वचन भावार्थसे निःसार है—यथार्थ वस्तुस्वरूपक प्रतिपादनसे रहित है ।

विवेचन—अन्य कितने हा वादियोंके द्वारा यह कहा जाता है कि प्राणवधकी निवृत्तिसे चूँकि कितने ही आगन्तुक दोषोंकी सम्भावना है, इसलिए उसकी निवृत्तिको ग्रहण करने और करानेवाले दोनोंके ही लिए वह पापजनक है। उनका यह कहना अनुभव, लोक और आगमसे विरुद्ध है। इसका कारण यह है कि जितने अंशमें प्राणातिपातादि पापोंका परित्याग किया जाता है उतने अंशमें परिणामोंमें अधिक निर्मलताका अनुभव होता है। इसलिए उस प्राणवधकी निवृत्तिको पापजनक बतलाना उस अनुभवके विरुद्ध है। लोकमें कितने ही साहसी पुरुष समुद्र आदिको पार करते हुए देखे जाते हैं, अतः मरणादि रूप आगन्तुक दोषोंकी सम्भावनासे उक्त निवृत्तिको पापोत्पादक कहना, यह लोकके विरुद्ध है। उस प्राणिवधादिकी निवृत्तिका आगममें जहाँ तहाँ विधान किया गया है, अतः उसे आगन्तुक दोषोंकी शंकासे पापजनक बतलाना आगमके भी विरुद्ध है। इसीलिए जिन्होंने आगमके आश्रयसे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझ लिया है उनकी बुद्धि तो तत्त्वविचारसे रहित इस अनुभव, लोक और आगम विरुद्ध कथनसे भ्रमित होनेवाली नहीं है, पर जो मन्दबुद्धि जन हैं वे कदाचित् भ्रमको प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए उक्त

---

१. अ दोषादि । २. अ समुद्रादिप्रवृत्तेर्लोक ।

यस्मादेवम्—

तम्हा विसुद्धचित्ता जिणवयणविहीइ दोवि सद्धाला।
वहविरइसमुज्जुत्ता पावं छिंदंति धिइबलिणो ॥१७५॥

तस्माद्विशुद्धचित्तौ अपेक्षारहितौ[1] जिनवचनविधिना प्रवचनोक्तेन प्रकारेण। द्वावपि प्रत्याख्यातृ-प्रत्याख्यापयितारौ। श्रद्धावन्तौ वधविरतिसमुद्युक्तौ यथाशक्त्या पालनोद्यतौ। पापं छिन्तः कर्म क्षपयतः। धृतिबलिनौ अप्रतिपतितपरिणामाविति ॥१७५॥

सांप्रतमन्यद्वावस्थानकम्—

निच्चाण वहाभावा पयइअणिच्चाण चेव निव्विसया।
एगंतेणेव इहं वहविरइं केइ मन्नंति ॥१७६॥

जीवाः किल नित्या वा स्युरनित्या वेत्युभयथापि दोषः—नित्यानां वधाभावात्, प्रकृत्यनित्यानां चैव स्वभावभङ्गुराणां चैव वधाभावात्। निर्विषया निरालम्बना। एकान्तेनैव। अत्र पक्षद्वये। का वधविरतिः? संभवाभावात्। केचन वादिनो मन्यन्त इति ॥१७६॥

एतदेव भावयति—

कथनमें यहां अनेक दोषोंको दिखलाया गया है। आगन्तुक दोषोंकी सम्भावनासे तो कभी किसीके द्वारा कोई कार्य ही नहीं किया जा सकता है ॥१७४॥

आगे इसका उपसंहार किया जाता है—

इसलिए—अनुभवादिकसे विरुद्ध होनेके कारण वादीके उपर्युक्त कथनको हेय जानकर चित्तकी विशुद्धि पूर्वक श्रद्धान करनेवाले दोनों—प्रत्याख्याता और प्रत्याख्यान करानेवाला ये दोनों—ही जिनागमोक्त विधिके साथ वधको विरतिमें उद्यत होकर धैर्यके बलसे पापको नष्ट करते हैं ॥१७५॥

आगे दूसरे किन्हीं वादियोंके अभिमतको प्रकट करते हुए वादीकी ओर उस प्रसंग प्राप्त वधविरतिको निर्विषय ठहराया जाता है—

वादीके अभिमतानुसार नित्य जीवोंके वधके असम्भव होनेसे तथा प्रकृतिसे अनित्य जीवोंके स्वयं विनश्वर होनेके कारण वह वधकी विरति सर्वथा निर्विषय है—उसका कोई विषय (वध्य) ही नहीं है। इसीलिये कितने ही वादो उस विरतिको निरर्थक मानते हैं।

विवेचन—यहां वादी वधविरतिको निरर्थक ठहराता हुआ यह पूछता है कि जीव नित्य हैं या अनित्य ? यदि वे नित्य हैं—एक ही स्वभावसे सदा अवस्थित रहनेवाले हैं—तब तो उनका वध हो ही नहीं सकता। और यदि उनका वध होता है तो वैसी स्थितिमें उनकी नित्यताकी हानि होती है, क्योंकि उत्पन्न व विनष्ट न होकर सदा एक ही स्वरूपसे स्थित रहना, यह नित्यताका लक्षण है। तब यदि उन्हें अनित्य स्वीकार किया जाता है तो स्वभावतः जो नष्ट होनेवाले हैं उनका भी वध कैसे सम्भव है ? उनका भी वध सम्भव नहीं है। इस प्रकार उक्त दोनों ही पक्षोंमें जब वधकी सम्भावना नहीं है तब उस वधकी विरति करना निरर्थक है ॥१७६॥

आगे वादी अपने इसी अभिप्रायको स्पष्ट करता है—

---

१. अ °चित्तो अपेक्षा तो जिन°।

एगसहावो निच्चो तस्स कह वहो अणिच्चभावाओ ।
पयइअणिच्चस्स वि अन्नहेऊभावाणवेक्खाओ ॥१७७॥

एकस्वभावोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकधर्मा नित्यः । तस्य कथं वधः जिघांसनमनित्यभावाद्वताववस्थो नानित्यत्वापत्तेरित्यर्थः । प्रकृत्यनित्यस्यापि स्वभावतोऽप्यनित्यस्य । कथं वध इति वर्तते । कथं च नेत्याह—अन्यहेतुभावानपेक्षातः[1] स्वव्यतिरिक्तहेतुसत्तानपेक्षत्वात्, तत्स्वभावत्वे च स्वत एव निवृत्तेरिति ॥१७७॥

प्रक्रान्तोपचयमाह—

किं च सरीरा जीवो अन्नो णन्नो व हुज्ज जइ अन्नो ।
ता कह देहवहंमि वि तस्स वहो घडविणासेव्व ॥१७८॥

किं चान्यच्छरीरात्सकाशाज्जीवोऽन्योऽनन्यो वा भवेत् द्वयी गतिः । किं चातः यद्यन्यस्ततः कथम् देहवधे प्रकृतिविकारत्वेनार्थान्तरभूतदेहविनाशे तस्य जीवस्य वधो नैवेत्यर्थः, घटविनाश इव—न हि घटे विनाशिते जीववधो दृष्टः, तदर्थान्तरत्वादिति ॥१७८॥

द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह—

अह उ अणन्नो देह[2] व्व सो तओ सव्वहा विणस्सिज्जा[3] ।
एवं न पुण्णपावा वहविरई किंनिमित्ता मे ॥१७९॥

अथ त्वनन्यः शरीराज्जीव इत्येतदाशङ्क्याह—देह इवासौ ततः अनन्यत्वाद्धेतोः सर्वथा विनश्येत् । शरीरं च[4] विनश्यत्येव, न परलोकयायि । एवं च न पुण्यपापे, भोक्तुरभावात् । वध-

जो सदा एक ही स्वभावसे स्थित रहता है उसे नित्य माना जाता है, तदनुसार उसका वध कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। अन्यथा, अनित्यताका प्रसंग दुर्निवार प्राप्त होगा। इससे यदि उक्त जीवको अनित्य माना जाता है तो जो प्रकृतिसे अनित्य है—स्वभावतः क्षणनश्वर है—उसका भी वध कैसे सम्भव है ? उसका भी वध सम्भव नहीं है, क्योंकि वह अपने विनाशमें किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं रखता। इस प्रकार जैसे नित्य माननेपर उन जीवोंका वध सम्भव नहीं वैसे ही अनित्य माननेपर भी उनका वध नहीं सम्भव है। ऐसी अवस्थामें उनके वधकी विरति करना व कराना निरर्थक है ॥१७७॥

आगे वादी जीवको शरीरसे भिन्न माननेपर उसके वधकी असम्भवताको प्रकट करता है—

इसके अतिरिक्त जीव क्या शरीरसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि वह शरीरसे भिन्न है तो शरीरका वध करनेपर उससे भिन्न उस जीवका वध कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे घटका विनाश करनेपर उससे भिन्न जीवका कभी विनाश नहीं होता है वैसे ही शरीरके विनष्ट होनेपर उससे भिन्न जीवका विनाश नहीं हो सकता ॥१७८॥

आगे शरीरसे उसे अभिन्न माननेपर भी वादी दोष दिखलाता है—

वह कहता है—यदि जीव शरीरसे अभिन्न है तो जैसे शरीर सर्वथा विनष्ट हो जाता है वैसे ही उस शरीरसे अभिन्न जीव भी सर्वथा विनष्ट हो जावेगा। तब इस प्रकारसे—शरीरके समान ही उस जीवके सर्वथा नष्ट हो जानेपर परलोकमें गमनके असम्भव हो जानेसे—निराश्रय

१. अ हेतुभावादनापेक्षातः । २. अ देहो । ३. अ विणासोज्जा । ४. अ हि ।

विरतिः किंनिमित्ता भे भवतां विरतिवादिनामिति। एष पूर्वपक्षः ॥१७९॥

अत्रोत्तरमाह—

निच्चाणिच्चो जीवो भिन्नाभिन्नो इ तह सरीराओ।
तस्स वहसंभवाओ तव्विरई[1] कहमविसया उ ॥१८०॥

एकान्तनित्यत्वादिभेदप्रतिषेधेन नित्यानित्यो जीवो द्रव्य-पर्यायरूपत्वात्। भिन्नाभिन्नश्च तथा शरीरात्, तथोपलब्धेः अन्यथा दृष्टेष्टविरोधात्। तस्य वधसंभवाद्धेतोस्तद्विरतिर्वधविरतिः। कथमविषया ? नैवेत्यर्थः ॥१८०॥

नित्यानित्यत्वव्यवस्थापनायाह—

पुण्य और पापका भी सद्भाव न रहेगा। तब वैसी अवस्थामें उस वधकी विरतिका आपके यहाँ—वधकी विरतिको अभीष्ट माननेवालोंके यहाँ—प्रयोजन ही क्या रहेगा ? प्रयोजनके बिना वह निरर्थक ही सिद्ध होती है। इस प्रकार वादीने इन १७६-७९ गाथाओंमें अपने पक्षको स्थापित किया है ॥१७९॥

आगे वादीके उपर्युक्त अभिमतका निराकरण करते हुए वधकी सम्भावना प्रकट की जाती है—

वह जीव कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य भी है। इसी प्रकार वह शरीरसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न भी है। इस प्रकारसे उसका वध सम्भव है। अतएव उसके वधकी विरतिको अविषय कैसे कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता।

विवेचन—वादीने जीव नित्य है या अनित्य इन दो विकल्पोंमें वधकी असम्भावना प्रगट की थी। इसी प्रकार वह शरीरसे भिन्न है या अभिन्न इन दो विकल्पोंको उठाकर उनमें भी उस वधकी असम्भवताको प्रगट किया था। यहाँ उसके उत्तरमें यह कहा गया है कि जीव न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य भी है, किन्तु वह द्रव्य दृष्टिसे जहाँ नित्य है वहीं वह पर्याय दृष्टिसे अनित्य भी है। अभिप्राय यह है कि जो स्वाभाविक चेतना गुण (ज्ञान-दर्शन) है उसका कभी किसी भी पर्यायमें जीवके अवस्थित रहनेपर विनाश सम्भव नहीं है। इस अपेक्षासे जोव नित्य है। साथ ही 'अमुककी मृत्यु हो गयी तथा अमुकके पुत्रका जन्म हुआ है' इत्यादि पर्यायकी प्रधानतासे चूँकि लोकमें व्यवहार देखा जाता है, अतः पर्यायकी विवक्षासे वह अनित्य भी है। इस प्रकार जीवके कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य माननेमें कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार जीवको संसारमें सदा शरीरके आश्रित देखा जाता है तथा शरीरके आश्रयसे किये जानेवाले शुभ-अशुभ कामोंसे वह पुण्य-पापको उपार्जित करता है व यथासमय उसके फलको भी भोगता है, इस अपेक्षा उसे कथंचित् शरीरसे अभिन्न माना गया है। साथ ही जीव जहाँ स्वभावतः चेतन व अमूर्तिक है वहीं वह शरीर जड़ (चेतनासे रहित) व मूर्तिक है, इस प्रकार स्वरूप-भेदके कारण उन दोनोंमें कथंचित् भेद भी है। इससे वादीके द्वारा उपर्युक्त एकान्त पक्षोंमे दिये गये दोषोंके सम्भव न होनेसे वह वध जब सम्भव है तब उसकी विरतिको निर्विषय नहीं कहा जा सकता है ॥१८०॥

आगे इस नित्यता व अनित्यताको ही स्पष्ट किया जाता है—

---

१. अ भवाउ तव्विरइ।

निच्चाणिच्चो संसार-लोगववहारओ मुणेयव्वो ।
न य एगसहावंमी संसाराई[1] घडंति त्ति ॥१८१॥

नित्यानित्यो जीव इति गम्यते । कुतः ? संसाराल्लोकव्यवहारतो मुणितव्यः—त एव सत्त्वा नरकं व्रजन्तीत्यादि संसारात्, गत आगत इति लोकव्यवहाराच्च विज्ञेय इति । विपक्ष-व्यवच्छेदार्थमाह—न चैकस्वभावे न च नित्याद्येकधर्मिण्येवात्मनि संसारादयो घटन्त इति गाथा-समुदायार्थः ॥१८१॥

अधुना अवयवार्थमाह—

निच्चस्स सहावंतरमपावमाणस्स कह णु संसारो ।
जंमाणंतरनट्ठस्स चेव एगंतओ मूलो ॥१८२॥

नित्यस्याप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावेन हेतुना, स्वभावान्तरमप्राप्नुवतः सदैवैकरूपत्वात्, कथं नु संसारो नैव विचित्रत्वात्तस्य । जन्मानन्तरनष्टस्यैव[2] च सर्वथोत्पत्त्यनन्तरापवर्गिणः । एकान्ततोऽमूलः तस्यैव तथापरिणामवैकल्यत एकान्तेनैवाकारणः कुतः संसार इति ॥१८२॥

एत्तो च्चिय ववहारो गमणागमणाइ लोगसंसिद्धो ।
न घडइ जं परिणामी तम्हा सो होइ नायव्वो ॥१८३॥

अत एवानन्तरोदितादेकान्तनित्यत्वादेर्हेतोर्व्यवहारो गमनागमनादिर्न घटते, एकत्रैक-

---

संसार और लोकव्यवहारके कारण जीवको कथंचित् नित्य-अनित्य जानना चाहिए। कारण यह कि उसके नित्य व अनित्य आदि एक स्वभाववाला होनेपर वे संसार आदि घटित नहीं होते हैं।

विवेचन—संसरण अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त होते हुए चतुर्गतिमें परिभ्रमण करनेका नाम संसार है। यह संसार जीवके एक रूपमें अवस्थित होनेपर घटित नहीं होता है। वह जब अपने स्वाभाविक शान्त स्वरूपको छोड़कर राग-द्वेषके वशीभूत होता है तब यथासम्भव नरकादि गतिको प्राप्त होकर सुख-दुखको भोगता है। इस प्रकार अपने चैतन्य स्वभावको न छोड़ता हुआ ही उन गतियोंमें परिभ्रमण करता है। तथा जो वहाँ गया था वह आ गया है, इत्यादि प्रकारका लोकव्यवहार भी नित्यता व अनित्यताके एकान्त पक्षमें सम्भव नहीं है। इस प्रकारके संसार व लोकव्यवहारको देखते हुए जीवकी अपेक्षाकृत नित्यता व अनित्यता दोनों सिद्ध होते हैं ॥१८१॥

आगे जीवको एक स्वभाव माननेपर वह संसार घटित नहीं होता है, यह प्रकट करते हैं—

जो नित्य होता है वह दूसरे स्वभावको प्राप्त नहीं होता है, कारण यह कि उत्पत्ति व विनाशसे रहित वह सदा एकरूप ही रहता है। ऐसी परिस्थितिमें उसके वह संसार कैसे सम्भव हो सकता है ? असम्भव होगा वह। इसके विपरीत अनित्य पक्षमें जन्मके अनन्तर ही विनष्ट होनेवाले उस जीवके संसारका मूल कारण ही नहीं सम्भव होगा। अभिप्राय यह है कि जीवके क्षणभंगुर मानने पर जो हिंसादि पापको करता है वह तो अनन्तर पूर्व क्षणमें विनष्ट हो चुका। तब उस परिस्थितिमें जब उसके फलको वह भोग ही नहीं सकता है तब उसके भी संसारकी सम्भावना कैसे की जा सकती है ? पाप या पुण्यका आचरण एक करे और फल उसका दूसरा भोगे, यह हास्यास्पद ही होगा ॥१८२॥

---

१. अ संसाराती । २. अ जन्मान्तर ।

स्वभावस्याध्यासितदेशव्यतिरेकेण देशान्तराध्यासायोगात् अन्यत्र च तस्यैवाभावेनापरानुत्पत्तेरिति। आदिशब्दात्स्थान-शयनासनभोजनादिपरिग्रहः। यद्यस्मादेवं तस्मात्। परिणाम्यसावात्मा भवति ज्ञातव्यः। परिणामलक्षणं चेदम् —

परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न तु सर्वथा व्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥१॥ इति ॥१८३॥

एतदेव भावयति—

जह कंचणस्य कंचणभावेण अवट्ठियस्स कडगाई।
उप्पज्जंति विणस्संति चेव भावा अणेगविहा ॥१८४॥

यथा काञ्चनस्य सुवर्णस्य। काञ्चनभावेन सर्वभावानुयायिन्या[1] सुवर्णसत्तया। अवस्थितस्य कटकादयः कटक-केयूर-कर्णालंकारादयः। उत्पद्यन्ते आविर्भवन्ति, विनश्यन्ति च तिरोभवन्ति च। भावाः पर्यायाः। अनेकविधा अन्वय-व्यतिरेकवन्तः स्वसंवेदनसिद्धा अनेकप्रकारा इति ॥१८४॥

कथंचित् नित्य-अनित्य माननेके बिना लोकव्यवहार भी घटित नहीं होता, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

इसीसे—जीवको सर्वथा नित्य या अनित्य माननेके कारण—गमनागमनादिरूप लोकप्रसिद्ध व्यवहार भी घटित नहीं हो सकता है। इसीलिए वह परिणामी है, ऐसा जानना चाहिए।

विवेचन—जीवको सर्वथा नित्य माननेपर जो गमन, आगमन, अन्य स्थानसे आकर स्थित होना, शयन, आसन और भोजन आदिका व्यवहार लोकमें देखा जाता है वह भी घटित नहीं होगा। कारण इसका यह है कि गमन क्रिया करते हुए एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेमें एकरूपता (नित्यता) रह नहीं सकती, स्थितिरूप अवस्थाको छोड़कर जब वह गमन क्रियासे परिणत होगा तभी वह अन्य अभीष्ट स्थानपर पहुँच सकेगा। यही अभिप्राय आगमन आदि अन्य व्यवहारके विषयमें समझना चाहिए। इसके विपरीत जो उस जीवको सर्वथा अनित्य मानता है उसके मतमें भी उपर्युक्त गमनागमनादिका व्यवहार नहीं बन सकता। कारण यह कि यह सब व्यवहार कालक्रमकी अपेक्षा रखता है, अतः जीवको क्षणभंगुर माननेपर अनेक समयोंमें निष्पन्न होनेवाला वह सब व्यवहार कार्य बन नहीं सकता। इसीलिए जीवको सर्वथा नित्य या अनित्य न मानकर परिणमन स्वभाववाला मानना चाहिए। पदार्थका न सर्वथा अवस्थित रहना और न सर्वथा विनष्ट होना, किन्तु उसका अवस्थान्तरको प्राप्त होना, यही परिणमनका लक्षण है। उदाहरणार्थ सुवर्णके कड़ेको तुड़वाकर उसकी सांकल बनवानेमें जहाँ कड़ेरूप पर्यायका विनाश व सांकलरूप पर्यायकी उत्पत्ति होती है वहीं उन दोनों अवस्थाओंमें सुवर्णरूपता बराबर बनी रहती है, न उसका विनाश होता है और न उत्पाद ही होता है, यही उस सुवर्णकी परिणमनशीलता है। इस परिणमनस्वभावको जीवमें ही नहीं, बल्कि चेतन-अचेतन सभी पदार्थोंमें अनिवार्यरूपसे समझना चाहिए। तब ही लोकमें प्रचलित सब व्यवहार बन सकता है, अन्यथा नहीं बन सकता ॥१८३॥

आगे ग्रन्थकार इसी अभिप्रायको उक्त उदाहरणके द्वारा स्वयं व्यक्त करते हैं—

जिस प्रकार सुवर्णरूपसे सभी अवस्थाओंमें अवस्थित सुवर्णकी अनेक प्रकारकी—कटक, केयूर और कर्णफूल आदि—अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं और विनष्ट भी होती हैं ॥१८४॥

---

१. अ सर्वभेदानुयाजिन्या।

एवं च[2] जीवदव्वस्स दव्वपज्जवविसेसमइयस्स ।
निच्चत्तमणिच्चत्तं च होइ णाओवलब्भंतं ॥१८५॥

एवं च[2] जीवद्रव्यस्य । किंविशिष्टस्य ? द्रव्य-पर्यायविशेषभक्तस्यानुभवसिद्धया उभयरूपतया विकल्पितस्य । नित्यत्वमनित्यत्वं च भवति न्यायोपलभ्यमानम् । पृथग्विभक्तिकरणं द्वयोरपि निमित्तभेदख्यापनार्थम् । न्यायः पुनरिह नारकाद्यवस्थासु मिथो भिन्नास्वपि जीवान्वय उपलभ्यते, तस्मिंश्च नारकादिभेद इति ॥१८५॥

द्वितीयपक्षमधिकृत्याह—

एगंतेण सरीरादन्नत्ते तस्स तक्कओ बंधो ।
न घडइ न य सो कत्ता देहादत्थंतरभूओ ॥१८६॥

एकान्तेन सर्वथा । शरीरादन्यत्वे अभ्युपगम्यमाने । तस्य जीवस्य । किम् ? तत्कृतो बन्धः

इसी प्रकार द्रव्य व पर्यायरूप विशेषोंमें विभक्त जीव द्रव्यकी नित्यत्व व अनित्यत्व रूप अवस्था न्यायसे उपलब्ध होती है ।

विवेचन—प्रमुखतासे नयके दो भेद स्वीकार किये गये हैं—एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक । इनमें जिसका प्रयोजन द्रव्य रहता है, अर्थात् जो पर्यायको गौण कर द्रव्यको मुख्यतासे वस्तुको ग्रहण किया करता है, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और जो द्रव्यको गौण कर पर्यायको प्रमुखतासे वस्तुको ग्रहण किया करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं । प्रकृतमें जीवका द्रव्य जीवत्व या चेतना है, इसकी प्रमुखतासे जब उसका विचार किया जाता है तब उसे कथंचित् नित्य कहा जाता है । कारण यह कि नर-नारकादिरूप जितनी भी जीवकी अवस्थाएँ हैं उन सभीमें उस चेतनाका अन्वय रहता है, नर-नारकादिरूप अवस्थाका विनाश होनेपर भी कभी उस चेतनाका विनाश नहीं होता, अन्यथा जड़ताका प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होगा। इसके विपरीत जब उस द्रव्यको गौण कर पर्यायकी प्रमुखतासे उस जीवका विचार किया जाता है तब उक्त नर-नारकादि पर्यायोंके उत्पन्न व विनष्ट होनेके कारण उस जीवको पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथंचित् अनित्य भी कहा जाता है । इस प्रकार अपेक्षाकृत उसके नित्य व अनित्य माननेमें कोई विरोध नहीं है । लोकव्यवहारमें भी यही दृष्टि रहती है । जैसे—एक ही व्यक्तिको अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता और अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र कहा जाता है । इसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं माना जाता । उक्त दोनों नयोंके बिना वस्तुतः तत्त्वका विचार ही सम्भव नहीं है । इस प्रवादीके द्वारा जो नित्य पक्षमें या अनित्य पक्षमें दोष दिये गये हैं उनके प्रकृतमें सम्भव न होनेसे वह वधकी विरति सार्थक ही है, निरर्थक नहीं है ॥१८५॥

आगे दूसरे पक्षमें जो वादीके द्वारा दोष प्रदर्शित किये गये हैं उनका भी निराकरण करते हुए शरीरसे जीवके सर्वथा भिन्न माननेमें दोष दिखलाते हैं—

जीवको शरीरसे सर्वथा भिन्न माननेपर उसके शरीरके आश्रयसे किया गया बन्ध घटित नहीं होगा, इसके अतिरिक्त शरीरसे सर्वथा भिन्न होकर वह कर्ता भी नहीं हो सकता है।

विवेचन—प्राणी शरीरके आश्रयसे जब प्राणघातादिरूप पापाचरणमें प्रवृत्त होता है तब उसके बन्ध होता है । पर वादीके मतानुसार यदि वह शरीरसे सर्वथा भिन्न है तो उस अवस्थामें

१. अ तु । २. अ 'च' नास्ति ।

जीवस्य शरीरनिर्वर्तितो बन्धो न घटते, न हि स्वत एव गिरिशिखरपतितपाषाणतो जीवघाते देवदत्तस्य बन्ध इति । स्यादर्थान्तरस्यापि तत्करणकर्तृत्वेन बन्ध इत्येतदाशंक्याह—न चासौ कर्ता देहादर्थान्तरभूतः, निःक्रियत्वान्मुक्तादिभिरतिप्रसङ्गादिति ॥१८६॥

स्यादेतत्प्रकृतिः करोति, पुरुष उपभुंक्त इत्येतदाशंक्याह—

अन्नकयफलुवभोगे अइप्पसंगो अचेयणं कह य ।
कुणइ तकं तदभावे[1] भुंजइ य कहं अमुत्तो त्ति ॥१८७॥

अन्यकृतफलोपभोगे प्रकृत्यादिनिर्वर्तितफलानुभवेऽभ्युपगम्यमाने[2]ऽतिप्रसङ्गः, भेदाविशेषेऽन्यकृतस्यान्यानुभवप्रसङ्गात् वास्तवसंबंधाभावात् । अचेतनं च कथं करोति तत्प्रधानम्, किंचिदध्यवसायशून्यत्वात् घटवत् । न हि घटस्यापराप्रेरितस्य क्वचित्करणमुपलब्धम् । न च प्रेरकः पुरुषः, उदासीनत्वादेकस्वभावत्वाच्च । तदभावे भोग्याभावे शरीराभावे वा । भुंक्ते च कथं अमूर्त इति

उसके शरीरके आश्रयसे होनेवाला वह कर्मबन्ध घटित नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि शरीरसे उसके भिन्न होनेपर भी शरीरके द्वारा की गयी क्रियासे उसके बन्ध माना जाता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण यह कि ऐसा माननेपर पर्वतके शिखरसे स्वयं नीचे गिरे हुए पाषाणसे किन्हीं जीवोंका घात होनेपर उससे देवदत्तके कर्मबन्धका प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि भिन्नता दोनों जगह समान है—वादीके मतानुसार जैसे जीवसे भिन्न शरीरके आश्रयसे उस जीवके बन्ध होता है उसी प्रकार देवदत्तसे भिन्न उस पाषाणकी क्रियासे देवदत्तके भी बन्ध होना चाहिए। पर वह वादीको भी इष्ट नहीं है। इसपर यदि वादी यह कहे कि यद्यपि जीव शरीरसे भिन्न है, फिर भी जीवकी प्रेरणा पाकर ही चूँकि शरीरमें क्रिया होती है इसलिए कारणकर्तृत्वरूपसे उसके बन्ध मानना उचित है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीरसे भिन्न होनेपर वह स्वयं तो क्रियासे रहित है, अतः निष्क्रिय होनेसे वह कर्ता नहीं हो सकता। और यदि निष्क्रिय होते हुए भी उसके बन्ध माना जाता है तो मुक्त आदि जीवोंके साथ अतिप्रसंग प्राप्त होता है—निष्क्रिय होते हुए उनके भी बन्ध होना चाहिए। परन्तु उनके बन्ध होना वादीको भी अभीष्ट नहीं है ॥१८६॥

यदि वादी इसे अभीष्ट मानकर यह कहे कि कर्ता तो प्रकृति है, पुरुष तो मात्र भोक्ता है, तो उसका समाधान आगे किया जाता है—

अन्य (प्रकृति) के द्वारा किये गये कार्यके फलका उपभोग माननेपर अतिप्रसंग अनिवार्य होगा। दूसरे, जब वह प्रकृति (प्रधान) अचेतन है तब वह कर भी कैसे सकती है? नहीं कर सकती है। इसके अतिरिक्त उसके—भोग्य अथवा शरीरके—अभावमें वह अमूर्तिक पुरुष भोग भी कैसे सकता है? नहीं भोग सकता है।

विवेचन—सांख्य मतमें प्रकृतिको कर्ता और पुरुषको भोक्ता माना गया है। इस अभिमतको दूषित करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि यदि प्रकृतिके द्वारा किये गये कर्मके फलको पुरुष भोगता है, ऐसा माना जाता है तो इसमें अव्यवस्था होनेवाली है—उदाहरणार्थ देवदत्तके शरीरके द्वारा किये गये कर्मका फल जिनदत्तके भोगनेमें आ सकता है। कारण यह कि जैसे देवदत्तका शरीर उस देवदत्तसे भिन्न है वैसे ही वह जिनदत्तसे भी भिन्न है। ऐसी अवस्थामें देवदत्तके

१. कुणइ तव्वतयभावे। २. अ '°भ्युपगम्यमाने' इत्यतोऽग्रे × एतच्चिह्नं दत्वा 'किंचिदध्यवसायशून्यत्वात्' पर्यन्तोऽग्रिमसंदर्भो न लिखितोऽत्र दृश्यते।

बुद्धिप्रतिबिम्बोदयरूपोऽपि भोगो न युज्यते, अमूर्तस्य प्रतिबिम्बाभावात्। भावेऽपि मुक्ताविभिरतिप्रसङ्गः। न च सन्निहितमपि किंचिदेव प्रतिबिम्ब्यते न सर्वं तत्स्वभावमिति, विशेषहेत्वभावात्। अलं प्रसङ्गेन ॥१८७॥

किं च—

न य चेयणा वि अणुभवसिद्धा देहंमि पावई एवं।
तीए विरहंमि दढं सुहदुक्खाई न[1] जुज्जंति ॥१८८॥

न च चेतनापि अनुभवसिद्धा स्पृष्टोपलब्धिद्वारेण देहे प्राप्नोति। एवमेकान्तभेदे सति। न हि घटे काष्ठादिना स्पृष्टे चैतन्यम्, वेद्यते च देह इति। तस्याश्चेतनाया[2] विरहे चाभावे च। दृढमत्यर्थम्। सुख-दुःखादयो न युज्यन्ते[3], न हि पाषाणप्रतिमायां सुखादयोऽचेतनत्वादिति ॥१८८॥

शरीरके आश्रयसे किये गये कर्मका फल देवदत्तको ही भोगना पड़े और जिनदत्तको नहीं भोगना पड़े, यह नियमव्यवस्था कैसे रह सकती है? उपर्युक्त मान्यतामें वह सब प्रचलित नियमव्यवस्था भंग हो सकती है। कारण यह कि पुरुषसे सर्वथा भिन्न उस प्रकृतिका उसके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं माना गया। तब वैसी अवस्थामें वह स्वयं अचेतन होनेसे कुछ कर भी कैसे सकती है? लोकमें अचेतन (जड़) वस्तुओंमें जो क्रिया देखी जाती है वह किसी चेतनकी प्रेरणासे ही देखी जाती है। जैसे—रेल व मोटर आदिमें। यदि कहा जाये कि वह प्रकृति भी चेतन पुरुषकी प्रेरणा पा करके कार्यको करती है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सांख्य मतानुसार पुरुष उदासीन व सर्वथा एक ही स्वभाववाला है, उसके स्वभावमें परिणमन कुछ होता नहीं है और उस परिणमनके बिना प्रेरणा करना असम्भव है। अन्यथा, उसके अनित्यताका प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होनेवाला है। उसके अतिरिक्त पुरुष जब प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न है तब अमूर्तिक होनेसे वह शरीरके बिना भोक्ता भी कैसे हो सकता है? शरीरके बिना वह भोग भी नहीं कर सकता है। यदि कहा जाये कि बुद्धिके प्रतिबिम्बका जो उदय है वही पुरुषका भोग है तो यह कहना भी असंगत होगा। कारण यह कि प्रतिबिम्बका मूर्तिक दर्पण आदिपर ही पड़ना सम्भव है, न कि अमूर्तिक उस पुरुषपर। यदि अमूर्तिक पर भी प्रतिबिम्ब माना जाता है तो फिर अमूर्तिक मुक्तजीवोंमें भी उक्त प्रतिबिम्बकी सम्भावना रहनेसे उन्हें भी भोक्ता मानना पड़ेगा। समीपस्थ होनेपर भी किसीके ऊपर प्रतिबिम्ब पड़े और किसीके ऊपर वह न पड़े, यह नियमव्यवस्था कैसे बन सकती है? नहीं बन सकती, क्योंकि उसका नियामक कोई विशेष हेतु नहीं है ॥१८७॥

जीवसे शरीरके सर्वथा भिन्न होनेपर उसमें चेतना व सुख-दुःख आदि भी सम्भव नहीं है—

इस प्रकारसे शरीरसे जीवके सर्वथा भिन्न होनेपर—अनुभवसिद्ध चेतना भी शरीरमें नहीं प्राप्त होती। तथा उस चेतनाके अभावमें सुख-दुख आदि भी सर्वथा नहीं हो सकते।

विवेचन—यह अनुभवसिद्ध है कि शरीरके कोमल गादी आदिका स्पर्श होनेपर सुखका अनुभव तथा तीक्ष्ण काँटे आदिका स्पर्श होनेपर दुखका अनुभव होता है। परन्तु जब शरीरको आत्मासे सर्वथा भिन्न माना जाता है तब आत्मासे भिन्न उस शरीरके चेतनासे रहित होनेके कारण उक्त गादी आदि अथवा काँटे आदिका स्पर्श होनेपर भी सुख-दुखका वेदन नहीं होना चाहिए, जिस प्रकार कि जड़ घटके कोमल या कठोर किसी वस्तुका स्पर्श होनेपर उसे सुख-दुखका वेदन नहीं हुआ करता है। पाषाण निर्मित मनुष्यकी मूर्तिमें भी अचेतन होनेसे कभी सुख-दुखका

---

१. अ सुहदुहादी ण। २. अ तस्या चेतनाया। ३. अ °र्थं सुहदुहादयो न युज्यते।

यदि न युज्यन्ते नाम का हानिरित्येतदाशंक्याह[1]—

सग-चंदण-विस-सत्थाइजोगओ तस्स अह य दीसंति ।
तब्भावंमि वि तब्भिन्नवत्थुपगए[2] ण एवं तु ॥१८९॥

स्रक्-चन्दन-विष-शस्त्रादियोगतस्तस्य शरीरस्याथ च दृश्यन्ते स्वकीयेऽनुभवेन अन्यदीये रोमाञ्चादिलिङ्गत इति । विपक्षे बाधामाह—तद्भावेऽपि स्रगादिभावेऽपि । तद्भिन्नवस्तुप्रगते आत्मभिन्नघटादिवस्तुसंगते न एवं सुखादयो दृश्यन्ते । न हि घटे स्रगादिभिरर्चितेऽपि देवदत्तस्य सुखादय इति ॥१८९॥

उपसंहरन्नाह—

अन्नुन्नाणुगमाओ भिन्नाभिन्नो तओ सरीराओ ।
तस्स य वहंमि एवं तस्स वहो होइ नायव्वो ॥१९०॥

अन्योन्यानुगमाज्जीव-शरीरयोरन्यानुवेधाद्भिन्नाभिन्नोऽसौ जीवः शरीरात् । आह—अन्योन्य-रूपानुवेधे इतरेतररूपापत्तिस्ततश्च[3]

नामूर्तं मूर्ततां याति मूर्तं नायात्यमूर्तताम्[4] ।
द्रव्यं त्रिष्वपि कालेषु च्यवते नात्मरूपतः ॥

वेदन नहीं होता । परन्तु कोमल या कठोर वस्तुका सम्बन्ध होनेपर शरीरमें चूँकि सुख-दुखका वेदन अवश्य होता है इसीलिए वह आत्मासे सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता ॥१८८॥

आगे इसी अभिप्रायको स्पष्ट किया जाता है—

परन्तु माला व चन्दन आदि इष्ट वस्तुओंके संयोगसे और विष व शस्त्र आदि अनिष्ट वस्तुओंके संयोगसे उस शरीरके वे सुख-दुख अवश्य देखे जाते हैं—अपने शरीरमें जहाँ उनका वेदन अपने अनुभवसे सिद्ध है वहाँ दूसरेके शरीरमें उनका वेदन रोमांच आदि हेतुके आश्रयसे अनुमित है । इसके विपरीत देवदत्त आदिकी आत्मासे भिन्न घट आदिसे उक्त माला आदिका सम्बन्ध होनेपर कभी देवदत्त आदिको उस प्रकारसे सुख-दुख आदिका अनुभव नहीं होता है । इससे सिद्ध होता है कि जिस प्रकार जीवसे घट-पटादि पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं उस प्रकारसे शरीर जीवसे सर्वथा भिन्न नहीं है, किन्तु उन दोनोंमे कथंचित् अभेद भी है ॥१८९॥

आगे इसका उपसंहार करते हुए निष्कर्ष प्रकट किया जाता है—

इसलिए परस्परमें अनुप्रविष्ट होनेके कारण उसे (जीवको) शरीरसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना चाहिए । इस प्रकार शरीरका वध करनेपर उस जीवके वधको जानना चाहिए ।

विवेचन—जिस प्रकार दूधमें पानीके मिलनेपर वे दोनों एक दूसरेमें अनुप्रविष्ट होकर एकक्षेत्रावगाहरूपसे रहते हैं व इसीलिए उन दोनोंमें साधारण जनके लिए भेद परिलक्षित नहीं होता है, पर स्वभावतः वे दोनों पृथक्-पृथक् ही हैं, अथवा सुवर्णमें तांबेके मिलानेपर जिस प्रकार उन दोनोंमें साधारण जनको भिन्नताका बोध नहीं होता, किन्तु हैं वे दोनों स्वभावतः पृथक् पृथक्, यही कारण है जो सुवर्णकार रासायनिक प्रक्रियासे उनको अलग-अलग कर देता है ।

---

१. अ युज्यते नाम क नो हानि° । २. अ तब्भिन्नवउगए । ३. अ °त्तिस्ततज्ज । ४. अ नामूर्तं नायाति मूर्ततां ।

इति वचनाद् भगवन्मतविरोधः ? न, भगवद्वोवृढदानात्[1] आलदानात् । नह्यनुभवविरुद्ध-वस्तुवादी भगवान्, नयविषयत्वात् । तस्य च शरीरस्य वधे घाते । एवमुक्तन्यायाज्जीवानुवेध-सिद्धौ तस्य जीवस्य वधो भवति ज्ञातव्य इति ॥१९०॥

अधुना वधलक्षणमेवाह—

> तप्पज्जायविणासो दुक्खुप्पाओ अ संकिलेसो य ।
> एस वहो जिणभणिओ तज्जेयव्वो पयत्तेणं ॥१९१॥

तत्पर्यायविनाशः मनुष्यादिजीवपर्यायविनाशः, दुःखोत्पादश्च व्यापाद्यमानस्य चित्तसंक्लेशश्च[2] क्लिष्टचित्तोत्पादश्चात्मनः । एष वधो व्यस्तः समस्तो वा ओघतो जिनभणितः तीर्थंकरोक्तो वर्जयितव्यः प्रयत्नेनोपयोगसारेणानुष्ठानेनेति ॥१९१॥

इदानीमन्यद्वादस्थानकम्—

> अन्ने अकालमरणस्समावओ वहनिवित्तिमो मोहा ।
> वंझासुअपिसियासणनिवित्तितुल्लं ववइसंति[3] ॥१९२॥

ठीक इसी प्रकारसे जीव और शरीर एकक्षेत्रावगाहरूप होकर एक दूसरेके प्रदेशोंमें अनुप्रविष्ट होते हुए स्थित रहते हैं । इससे उनमें कथंचित् अभेद होकर भी वस्तुतः भेद ही है । उनके इस भेदका अनुभव सम्यग्दृष्टिको होता है, मिथ्यादृष्टिको नहीं होता । यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब वे दोनों एक दूसरेके प्रदेशोंमें अनुप्रविष्ट हैं तो उनमें इतरेतररूपताका प्रसंग प्राप्त होता है—वैसी अवस्थामें जीवको शरीर और शरीरको जीव हो जाना चाहिए । इसके अतिरिक्त आगममें जो यह कहा गया है कि अमूर्त द्रव्य कभी मूर्त नहीं होता और मूर्त द्रव्य कभी अमूर्त नहीं होता है, इस आगमविरोधको भी वैसी अवस्थामें कैसे टाला जा सकता है ? नहीं टाला जा सकता । इसके उत्तरमें यहाँ यह कहा जा रहा है कि आगममें जो वैसा कहा गया है वह यथार्थ है, उसमें कुछ विरोध नहीं है । सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा जो कुछ कहा गया है वह अनुभवसिद्ध है, अनुभवके विरुद्ध आगममें कुछ नहीं कहा गया । वह सब कथन नयसापेक्ष है । यथा—व्यवहारमें शरीरसे पृथक् जीवको नहीं देखा जाता तथा उस शरीरके आश्रयसे उसे सुख-दुखका वेदन भी होता है, इसलिए व्यवहार नयकी अपेक्षा जीव व शरीरमें कथंचित् अभेद माना गया है । परन्तु जीव जहाँ चेतन है वहाँ वह शरीर जड़ है—चेतनासे शून्य है, इसी प्रकार जहाँ स्वभावतः वर्णादिसे विरहित होकर अमूर्त है वहाँ वह शरीर वर्णादिसे सहित होकर मूर्त है । इस प्रकार निश्चयनयकी अपेक्षा स्वरूपभेद होनेसे उन दोनोंमें कथंचित् भेद भी है । इसीलिए शरीरके वधसे उससे सम्बद्ध जीवका वध अवश्य होनेवाला है । यही उस आगमका रहस्य है ॥१९०॥

आगे उस वधका ही लक्षण कहा जाता है—

जिससे जीवकी उस पर्यायका—मनुष्य व हिरण आदि अवस्था विशेषका—विनाश होता है, उसे दुख उत्पन्न होता है, तथा परिणाममें संक्लेश होता है उसे जिन भगवान्‌के द्वारा वध कहा गया है । उसे प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए ॥१९१॥

अब जो अकालमरणको नहीं मानते हैं उनके अभिमतानुसार वधकी असम्भवताको प्रकट किया जाता है—

---

१. अ विरोधो न भवद्वोढदानात् । २. अ °मानस्य संक्लेशश्च । ३. अ ववदिसंति ।

अन्ये वादिनः स्वकृतकर्मफलं प्रत्युपभोगभावेन अकालमरणस्याभावाद्वधनिवृत्तिमेव मोहाद्धेतोर्वन्ध्यासुतपिशिताशननिवृत्तितुल्यां व्यपदिशन्ति—वन्ध्यासुतस्यैवाभावात्तत्पिशितस्याप्यभावः, पिशितं मांसमुच्यते, तदभावाच्च कुतस्तस्याशनं भक्षणम्? असति तस्मिन्निर्विषया तन्निवृत्तिः। एवमकालमरणाभावेन वधाभावाद्वधनिवृत्तिरपीति[1] ॥१९२॥

एतदेव समर्थयति—

अज्झीणे पुव्वकए न मरइ झीणे य जीवइ न कोइ।
सयमेव ता कह वहो उवक्कमाओ वि नो जुत्तो ॥१९३॥

अक्षीणे पूर्वकृते आयुष्ककर्मणि। न म्रियते कश्चित्, स्वकृतकर्मफलं प्रत्युपभोगाभावप्रसङ्गात्। क्षीणे च तस्मिन् जीवति न कश्चित्, अकृताभ्यागम-कृतनाशप्रसङ्गात्[2]। स्वयमेवात्मनैवैतदेवमिति। ततस्तस्मात्कथं वधो निमित्ताभावात्? नास्त्येवेत्यभिप्रायः। कर्मोपक्रमाद्भविष्यतीत्येतदाशङ्क्याह—उपक्रमादपि अपान्तराल एव तत्क्षयलक्षणान्न युक्त इति ॥१९३॥

अत्रैवोपपत्तिमाह—

कम्मोवक्कामिज्जइ अपत्तकालं पि जइ तओ पत्ता।
अकयागम-कयनासा मुक्खाणासासया[3] दोसा ॥१९४॥

अन्य कितने ही वादी अकालमरणके अभावसे उस वधकी निवृत्तिको अज्ञानताके कारण वन्ध्यापुत्रके मांसके भक्षणकी निवृत्तिके समान बतलाते हैं।

विवेचन—कितने ही वादी यह मानते हैं कि प्राणी जो भी कर्म बांधता है उसका पूरा फल भोग लेनेके पश्चात् ही वह यथासमय निर्जीर्ण होता है। तदनुसार जिस जीवने जितने काल प्रमाण आयु कर्मको बांधा है उतने काल उसके फलको भोग लेनेपर ही वह समयानुसार नष्ट होती है, पूर्वमें उसका विनाश सम्भव नहीं है। इस प्रकार जब प्राणीके अकालमें मरनेकी सम्भावना ही नहीं है तब उसके वधकी निवृत्ति कराना इस प्रकार हास्यास्पद है जिस प्रकार कि वन्ध्यापुत्रके मांसके भक्षणकी निवृत्ति कराना। अभिप्राय यह है कि जब बांझ स्त्रीके पुत्रका होना ही असम्भव है तब उसका मांस भी आकाशके फूलके समान असम्भव होगा। ऐसी अवस्थामें जिस प्रकार उसके मांसके भक्षणका त्याग कराना अज्ञानतासे परिपूर्ण है उसी प्रकार अकालमें किसी भी जीवके मरनेकी सम्भावना न होनेसे उसके वधका परित्याग कराना भी अज्ञानतासे परिपूर्ण होगा ॥१९२॥

उक्त वादी आगे अपने इसी अभिमतका समर्थन करता है—

पूर्वकृत आयुकर्मके क्षीण न होनेपर कोई जीव मरता नहीं है तथा उसके क्षयको प्राप्त हो जानेपर कोई स्वयं ही जीवित नहीं रह सकता है। फिर ऐसी अवस्थामें वध कैसे हो सकता है? वैसी अवस्थामें उस वधकी सम्भावना ही नहीं रहती। यदि कहा जाये कि उपक्रमसे वह वध हो सकता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपक्रमसे भी वह वध योग्य नहीं है ॥१९३॥

उपक्रमसे वह वध क्यों योग्य नहीं है, इसके लिए वादी आगे युक्ति देता है—

यदि समयके प्राप्त होनेके पूर्व भी कर्मका उपक्रम कराया जा सकता है तो इससे अकृतका अभ्यागम—उसकी प्राप्ति—और कृतका नाश तथा मोक्षके विषयमें आश्वासता ये दोष प्राप्त होते हैं।

---

१. अ °मरणाभावाद्वधनिवृत्तिरपीति। २. अ जीवति न कश्चित् कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसंगात्। ३. अ मोक्खाणोसासया।

कर्मोपक्रम्यते अर्धमार्ग एव सवमुपक्रीयते। अप्राप्तकालमपि स्वविपाकापेक्षया यदि। ततः प्राप्तावकृतागम-कृतनाशौ—अपान्तराल एव मरणादकृतागमः, प्रभूतकालोपभोग्यस्यारल[1] एव क्षयात्कृतनाशः। मोक्षानाश्वासता अतः मोक्षेऽनाश्वासता अनाश्वासभावः मृत्युवत्[2] अकृतस्यापि कर्मणो भावाशङ्कानिवृत्तेः कृतस्यापि च कर्म [कर्मणः] क्षयश्च नाशसंभवात्। एत एव दोषा इति एष पूर्वपक्षः॥१९४॥

अधुनोत्तरपक्षमाह—

न हि दीहकालियस्स वि नासो तस्साणुभूइओ[3] खिप्पं।
बहुकालाहारस्स व[4] दुयमग्गियरोगिणो भोगो॥१९५॥

न हि नैव। दीर्घकालिकस्यापि प्रभूतकालवेद्यस्यापि उपक्रमतः स्वल्पकालवेदनेऽपि नाशः। तस्य कर्मणः। अनुभूतितः क्षिप्रं समस्तस्यैव शीघ्रमनुभूतेः। अत्रैव निदर्शनमाह—बहुकालाहारस्येव सेतिका-पलभोगेन[5] वर्षशताहारस्येव। द्रुतं शीघ्रमग्निकरोगिणो भस्मकव्याधिमतो भोगः,

---

विवेचन—जो वादी अकालमरणको स्वीकार नहीं करते हैं उनका कहना है कि प्राणीने जितनी स्थिति प्रमाण-आयुकर्मको पूर्वमें बाँधा है उसको उतनी स्थितिके क्षीण हो जानेपर ही जीव मरणको प्राप्त होता है, इसके पूर्व वह नहीं मरता है। तथा आयुकर्मकी स्थितिके क्षीण हो जानेपर प्राणी कभी जीवित नहीं रह सकता है। इस प्रकार वह अन्य किसी निमित्तके बिना स्वयमेव मरणको प्राप्त होता है। ऐसी स्थितिमें जब वधकी सम्भावना ही नहीं है तब उस वधकी निवृत्ति कराना मूर्खतापूर्ण ही होगा। इसपर यदि कोई वादीसे यह कहे कि उपक्रमसे—विष-शस्त्रादिरूप आयुके अपवर्तनके निमित्तसे—उस आयुकर्मका क्षय नियत स्थितिके पूर्वमें भी कराया जा सकता है तो वह भी योग्य नहीं है, क्योंकि समयके प्राप्त होनेके पूर्वमें ही यदि आयुका क्षय होता है तो इससे अकृत-आगम और कृतनाश दोष उपस्थित होते हैं। कारण यह कि जितने काल प्रमाण आयुको किया गया था उतनी आयुस्थितिके भोगे बिना ही चूँकि प्राणी बीचमें ही उपक्रमसे मरणको प्राप्त हो जाता है, इसलिए यह तो अकृतागम हुआ तथा दीर्घ काल तक जिस आयुकर्मको भोगना चाहिए था उसका पूर्वमें ही विनाश हो गया, यह कृतका नाश हुआ। इस प्रकार उपक्रमसे बीचमें ही आयुकर्मका विनाश माननेपर ये दो दोष बलात् उपस्थित होते हैं। साथ ही मोक्षके विषयमें भी इस प्रकारसे कोई अश्वासन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि बीचमें हुए मरणके समान अकृत कर्मके सद्भावकी शंका बनी रहनेके साथ कृत कर्मके नाशकी भी सम्भावना बनी रहती है। इस प्रकार प्रसंगप्राप्त इन दोषोंके कारण जब अकालमरणकी सम्भावना नहीं है तब किसी प्राणीका वध किया ही नहीं जा सकता है। ऐसी स्थितिमें उस वधकी निवृत्ति कराना निरर्थक व अज्ञानतापूर्ण ही कही जायेगी। इस प्रकारसे वादीने अपने पक्षको स्थापित किया है॥१९२-१९४॥

अब इस अभिमतका निराकरण करते हुए दीर्घकालिक कर्मका भी शीघ्र नाश हो सकता है, इसे स्पष्ट किया जाता है—

वादीका वह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि लम्बे समय तक भोगे जानेवाले उस कर्मका उपक्रमके वश शीघ्र ही भोगनेमें आ जानेसे नाश हो जाता है। जैसे—बहुत काल तक उपभोगके

---

१. अ भोग्यस्यातरल। २. अ मोक्षानासाश्वता अत एव मोक्षे अनाश्वासस्तदभावः मृत्युवत्। ३. अ भूतिउ। ४. अ वि दुयममीय°। ५. अ पलाभोगेन।

स हि तमेकदिवसेनैव[1] भुंक्ते व्याधिसामर्थ्यात् । न च तत्र किंचिन्नश्यति संपूर्णभोगात् । एवमुपक्रमकर्मभोगेऽपि योज्यमिति ॥१९५॥

एतदेवाह—

> सव्वं च पएसतया भुज्जइ कम्ममणुभावओ भइयं ।
> तेणावस्साणुभवे के कयनासादओ तस्स ॥१९६॥

सर्वं च प्रदेशतया कर्मप्रदेशविघटन-क्षपणलक्षणया । भुज्यते[2] कर्म । अनुभावतो भाज्यं विकल्पनीयम् । विपाकेन तु कदाचिद्भुज्यते कदाचिन्नेति, क्षपकश्रेणिपरिणामादावन्यथापि[3]भोगसिद्धेरन्यथा निर्मोक्षप्रसङ्गात् । तेन कारणेन । अवश्यानुभवे प्रदेशतया नियमवेदने । के कृतनाशादयः ? नैव कृतनाशादय इति ॥१९६॥

किं च—

> उदयक्खयक्खओवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया ।
> दव्वाइपंचयं[4] पइ जुत्तमुवक्कामणमओ वि ॥१९७॥

उदय-क्षय-क्षयोपशमोपशमाः यच्च यस्मात्कारणात्[6] कर्मणो भणितास्तीर्थंकरगणधरैः ।

योग्य आहारक अग्निक (भस्मक) रोगी शीघ्र ही भोग लेता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सौ वर्ष तक चलनेवाले आहारको भस्मकरोगी एक ही दिनमें खाकर समाप्त कर देता है उसी प्रकार उपक्रमके वश दीर्घ काल तक भोगे जानेवाले कर्मका विनाश शीघ्र हो जाता है ॥१९५॥

आगे इसीको स्पष्ट करते हैं—

वह कर्म प्रदेशरूपसे तो सब ही भोगनेमें आ जाता है, पर अनुभाग रूपसे वह भाज्य है—विपाकके रूपमें वह कदाचित् भोगा भी जाता है और कदाचित् नहीं भी भोगा जाता है । इस कारण उसका अवश्य अनुभव कर लेनेपर वादीके द्वारा उद्भावित वे कृतनाशादिक दोष कहाँ सम्भव है ? उनकी सम्भावना यहाँ सर्वथा नहीं है ।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि जब उस कर्मको उपक्रमके वश प्रदेशस्वरूपसे पूरा भोग लिया जाता है व उसका कुछ शेष नहीं रहता है तब वादीने अकृताभ्यागम, कृतनाश और मोक्षविषयक अनाश्वासतारूप जिन दोषोंको उद्भावित किया था उनकी सम्भावना नहीं है । विपाकस्वरूपसे जो उसे भाज्य कहा गया है, इसका कारण यह है कि क्षपकश्रेणिमें अपूर्वकरणादि विशिष्ट परिणामोंके द्वारा उसके विपाकका वेदन अन्य रूपमें भी हुआ करता है । यदि ऐसा न हो तो बन्ध व निर्जराके क्रमके निरन्तर चालू रहनेपर मोक्ष कभी न हो सकेगा । इस प्रकार विपाकरूपसे भले ही उसका अन्यथा वेदन हो, पर प्रदेशरूपसे जब वह पूरा भोग लिया जाता है तब उक्त कृतनाशादि दोष सम्भव नहीं है ॥१९६॥ इसके अतिरिक्त—

कर्मके विषयमें चूँकि उदय, क्षय, क्षयोपशम और उपशम कहे गये हैं इसलिए भी द्रव्य आदि पाँचके निमित्तसे उपक्रम कराना योग्य है—

विवेचन—आगममें कर्मकी उदयादिरूप विविध अवस्थाओंका निर्देश किया गया है । वे

---

१. अ व्याधिमातो भोगे सति तदैक सति तदेकदिवसेनैव । २. अ कम्मा । ३. अ क्षपणकश्रेणीपरिणामोदवेन्यथा भोगे । ४. अ दव्वातिपंचयं । ५. अ °मतो । ६. अ यस्माच्च कारणात् ।

द्रव्यादिपञ्चकं प्रति द्रव्यं क्षेत्रं कालं भवं भावं च प्रतीत्य। यथा—द्रव्यं माहिषं दधि, क्षेत्रं जांगलम्, कालं प्रावृड्लक्षणम्, भवमेकेन्द्रियादिकम्, भावमौदयिकादिकमालस्यादिकं वा प्रतीत्योदयो निद्रावेदनीयस्य। एवं व्यत्ययानां क्षयादियोजना कार्या। युक्तमुपक्रामणमतोऽपि[1] अनेन कारणं कर्मण उपक्रमो युज्यत इति इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम् ॥१९७॥

अन्यथेदमनिष्टमापद्यते इति दर्शयन्नाह—

जइ याणुभूइओ च्चिय खविज्जए[2] कम्म नन्नहाणुमयं।
तेणासंखभवज्जियनाणागइकारणत्तणओ ॥१९८॥

यदि चानुभूतित एव विपाकानुभवेनैव। क्षप्यते कर्म, नान्यथानुमतमुपक्रमद्वारेण। तेन प्रकारेणासङ्ख्यातभवार्जितनानागतिकारणत्वात् कर्मणः असङ्ख्यातभवार्जितं हि विचित्रगतिहेतुत्वान्नारकादिनानागतिकारणमेव भवतीति ॥१९८॥

तत्र—

नाणाभवाणुभवणाभावा एगंमि पज्जएणं वा।
अणुभवओ बंधाओ मुक्खाभावो स चाणिट्ठो ॥१९९॥

नानाभवानुभवनाभावादेकस्मिन्। तथाहि—नानुपक्रमतो नारकादिनानाभवानुभवनमेकस्मिन् भवे। पर्यायतो वानुभवतः विपाकानुभवक्रमेण वा क्षपयतः। बन्धादिति नारकादिभवेषु चारित्राभावेन प्रभूततरबन्धान्मोक्षाभाव आपद्यते, स चानिष्ट इति ॥१९९॥

जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके आश्रयसे हुआ करता है तब उस कर्मका उपक्रम युक्तिसंगत ही है। उदाहरणार्थ—निद्रा दर्शनावरणका उदय द्रव्यमें भैंसके दही, क्षेत्रमें जांगल, कालमें वर्षाकाल, भवमें एकेन्द्रियादि अवस्था और भावमें औदयिकादि भाव या आलस्य आदिके आश्रयसे हुआ करता है। इसी प्रकार विपरीत रूपसे उसके क्षय आदिको भी जानना चाहिए। इस कारणसे भी कर्मका उपक्रम मानना उचित है ॥१९७॥

आगे उपक्रमके बिना जो अनिष्टका प्रसंग प्राप्त होता है उसे दिखलाते हैं—

यदि अनुभवनसे ही कर्मका क्षय होता है, अन्य प्रकारसे—उपक्रमके बिना—उसका क्षय नहीं माना जाता है तो उस प्रकारसे असंख्यात भवोंमें उपार्जित नाना गतियोंके कारणभूत उस कर्मके फलका एक भवमें भोगना अशक्य होगा ॥१९८॥

अशक्य कैसे होगा, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

कारण यह कि एक भवमें अनेक भावोंका अनुभव करना सम्भव नहीं है। अथवा पर्यायसे—विपाकके क्रमसे—कर्मका यदि अनुभव किया जाये तो बन्धका प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होता है, तब वैसी स्थितिमें मोक्षका अभाव हो जायेगा, जो इष्ट नहीं है।

विवेचन—जैसा कि वादीको अभीष्ट है तदनुसार अनुभागके क्रमसे फलके भोग लेनेपर ही कर्म क्षयको प्राप्त होता है, उपक्रमसे वह क्षीण नहीं होता; ऐसा माननेपर यह एक आपत्ति उपस्थित होती है कि असंख्यात भवोंमें जिस कर्मको उपार्जित किया गया है वह उन अनेक गतियोंका कारण होगा, जिनका उपक्रमके बिना एक भवमें अनुभव करना असम्भव है। इसपर यदि यह कहा जाये कि विपाकके क्रमसे अनुभव करते हुए ही उसका क्षय सम्भव है तो यह

---

१. अ °मुपक्रमणमतो। २. अ खविज्जइ कम्ममन्नहाणुमयं।

निदर्शनगर्भमुपपत्त्यन्तरमाह—

किंचिदकाले वि फलं पाइज्जइ पच्चए य कालेण ।
तह कम्मं पाइज्जइ कालेण विपच्चए चन्नं ॥२००॥

किञ्चिदकालेऽपि पाककालादारतोऽपि । फलमाम्रफलादि । पाच्यते गर्ताप्रक्षेप-कोद्रवपलाल-स्थगनादिनोपायेन । पच्यते च कालेन किंचित्तत्रस्थमेव स्वकालेन[1] पच्यते । यथेदं तथा कर्म पाच्यते उपक्राम्यते[2] विचित्रैरुपक्रमहेतुभिः । कालेन विपच्यते चान्यत् विशिष्टानुपक्रमहेतून् विहाय विपाककालेनैव विपाकं गच्छतीति ॥२००॥

दृष्टान्तान्तरमाह—

भिन्नो[3] जहेह[4] कालो तुल्ले वि पहंमि गइविसेसाओ ।
सत्थे व गहणकालो मइमेहाभेयओ भिन्नो ॥२०१॥

भिन्नो यथेह कालो ऽर्धप्रहरादिलक्षणस्तुल्येऽपि पथि समाने योजनादौ मार्गे । गतिविशेषाद्[5] गमनविशेषेण शीघ्रगतिरर्धप्रहरेण गच्छति, मध्यमः प्रहरेणेत्यादि । शास्त्रे वा व्याकरणादौ ग्रहणकालो मतिमेधाभेदाद्भिन्नः कश्चिद्द्वादशभिर्वर्षैः तदधीते, कश्चिद्वर्षद्वयेनेत्यादि ॥२०१॥

एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—

भी उचित नहीं होगा, क्योंकि यथाक्रमसे नारकादि भवोंमें उसका अनुभव करते हुए वहाँ चारित्र-के सम्भव न होनेसे उत्तरोत्तर बन्ध ही अधिक होनेवाला है। ऐसी अवस्थामें बन्धकी उस प्रक्रियाके चालू रहनेपर मोक्षकी प्राप्ति असम्भव हो जावेगी जो वादीको भी इष्ट नहीं होगी ॥१९८-१९९॥

इसके लिए दृष्टान्तपूर्वक अन्य युक्ति भी दी जाती है—

आम आदि कोई फल अकालमें भी—पाक—कालके पूर्वमें भी गड्ढेमें या कोदोंके पलाल आदिमें रखकर कृत्रिम उपायसे—पका लिया जाता है, और कोई फल बाहरी उपायके बिना वृक्षपर ही संलग्न रहकर समयपर भी पकता है। उसी प्रकारसे कोई कर्म तपश्चरण आदि रूप उपक्रमके विविध कारणोंके द्वारा अपनी स्थितिके पूर्वमें विपाकको प्राप्त करा दिया जाता है तथा अन्य कोई कर्म उपक्रमके बिना समयके अनुसार ही विपाकको प्राप्त होता है ॥२००॥

आगे दूसरा दृष्टान्त भी उपस्थित करते हैं—

जिस प्रकार मार्गके लम्बाईमें समान होनेपर भी पथिकोंकी गतिकी भिन्नतासे उसके पूरा करनेमें भिन्न-भिन्न समय लगता है—शीघ्र गतिवाला पुरुष जहाँ उसे घण्टे-भरमें पूरा कर लेता है वहीं मन्द गतिवाला उसे डेढ़-दो घण्टोंमे पूरा कर पाता है। अथवा जैसे व्याकरण आदि विषयक किसी शास्त्रके अध्ययनमें बुद्धि व मेधाकी भिन्नतासे भिन्न समय लगता है—कोई तीक्ष्ण-बुद्धि शिष्य जहाँ उसे छह मासमें पढ़ लेता है वहीं मन्दबुद्धि शिष्य उसीको वर्ष-भरमें या उससे भी अधिक समयमें पढ़ पाता है ॥२०१॥

आगे इन दृष्टान्तोंसे दार्ष्टान्तिककी समानता प्रकट की जाती है—

१. अ °मेव कालेन । २. अ उपक्रम्यते । ३. अ भिन्ने । ४. अ 'अहे-' इत्यतोऽग्रे टीकागत 'लक्षणस्तुल्ये' पदपर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति । ५. अ मार्गगति ।

तह तुल्लंमि वि कम्मे परिणामाइकिरियाविसेसाओ[1] ।
भिन्नो अणुभवकालो जिट्ठो मज्झो जहन्नो य ॥२०२॥

तथा तुल्येऽपि कर्मणि कर्मद्रव्यतया । परिणामादिक्रियाविशेषात्तीव्र-तीव्रतरपरिणाम-बाह्यसंयोगक्रियाविशेषेण । भिन्नोऽनुभवकालः कर्मणः । कथम् ? ज्येष्ठो मध्यो जघन्यश्च—ज्येष्ठो निरुपक्रमस्य यथाबद्धवेदनकालः[2], मध्यस्तस्यैव तथाविधतपश्चरणभेदेन, जघन्यः क्षपकश्रेण्यनुभवनकालः शैलेश्यनुभवनकालो वा; तथाविधपरिणामबद्धस्य तत्तत्परिणामानुभवनेन, अन्यथा विरोध इति ॥२०२॥

दृष्टान्तान्तरमाह[3]—

जह वा दीहा रज्जू डज्झइ कालेण पुंजिया खिप्पं ।
वियओ[4] पडो वि सूसइ पिंडीभूओ उ कालेणं ॥२०३॥

उसी प्रकार कर्मके समान होनेपर भी परिणाम आदि क्रियाविशेषसे उसके अनुभवका काल उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य रूपसे भिन्न हुआ करता है ।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वृक्षसे संलग्न आम आदि फल स्वाभाविक रूपसे कुछ लम्बे समयमें पक पाते हैं, पर उन्हीं फलोंको जब वृक्षसे तोड़कर पलाल आदिके मध्यमें रख दिया जाता है तब वे फल कुछ जल्दी ही पक जाते हैं । अथवा किसी नगरविशेषको जानेवाले मार्गकी दूरीको मन्द गतिसे जानेवाला पुरुष उस मार्गसे चलकर विलम्बसे नगरमें पहुँचता है, किन्तु शीघ्र गतिसे जानेवाला अन्य पुरुष उसी मार्गसे चलकर पूर्व पुरुषकी अपेक्षा शीघ्र ही नगरमें जा पहुँचता है । अथवा जिस प्रकार मन्दबुद्धि शिष्य जिस व्याकरणादि विषयक ग्रन्थको पढ़कर दीर्घकालमे समाप्त कर पाता है उसे ही पढ़कर तीव्र बुद्धिवाला शिष्य शीघ्र समाप्त कर देता है । ठीक इसी प्रकारसे जो कोई कर्म जिस स्थिति और अनुभागके साथ बाँधा गया है वह उपक्रमके बिना स्वाभाविक रूपमें उतनी स्थिति व अनुभागके भोग लेनेपर ही सविपाक निर्जरासे निर्जीर्ण होता है । यह उसका उत्कृष्ट काल है । पर उक्त स्थिति व अनुभागके साथ बाँधा गया वही कर्म उपक्रमके वश तपश्चरण विशेषसे बद्ध स्थिति और अनुभागको हीन कर समयके पूर्व ही निर्जराको प्राप्त करा दिया जाता है । इसे उसका मध्यम काल कहा जायेगा । वही कर्म क्षपकश्रेणि आरूढ़ हुए संयतके परिणामोंकी विशेषतासे अतिशय हीन स्थिति व अनुभागके रूपमें भोगा जाता है, अथवा शैलेशी अवस्थामें अयोगकेवलीके वह कर्म सर्वजघन्य स्थिति व अनुभागके साथ ही निर्जीर्ण होता है । यदि ऐसा न माना जाये तो मुक्तिकी प्राप्ति भी असम्भव हो जावेगी । इसे उसका जघन्य समझना चाहिए । इस प्रकार परिणामोंकी विशेषताके अनुसार कर्म जब बन्धकी अपेक्षा भिन्न स्वरूपसे अनुभवमे आता है तब पूर्वोक्त अकृतागम व कृतनाशादि दोषोंकी सम्भावना नहीं है ॥२००-२०२॥

आगे रस्सी व वस्त्रका भी दृष्टान्त दिया जाता है—

१. अ 'परिणामा' इत्यतोऽग्रे टीकागत'परिणामा' पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति । २. अ यथावद्वेदन° । ३. अ दृष्टांतमाह । ४. अ वियतो ।

यथा वा दीर्घा रज्जुः पर्यन्तदीपिता सती तथाक्रमेणैव दह्यते, कालेन प्रदीर्घेणेति भावः। पुञ्जिता क्षिप्रं शीघ्रमेव दह्यते। विततः पटो वा जलार्द्रोऽपि शुष्यति। क्षिप्रमिति वर्तते। पिण्डीभूतस्तु कालेन शुष्यति प्रदीर्घेणेति हृदयम्, न च तत्राधिकं जलमिति ॥२०३॥

अत्राह—

नणु तं न जहोवचियं तहाणुभवओ कयागमाईया।
तप्पाओग्गं चिय तेण तं चियं सज्झरोगु[1] व्व ॥२०४॥

नन्वेवमपि तत्कर्म। न यथोपचितं तथानुभवतः वर्षशतभोग्यतयोपचितं उपक्रमेणारादेवानुभवतोऽकृतागमादयस्तदवस्था एव। अत्रोत्तरमाह—तत्प्रायोग्यमेवोपक्रमप्रायोग्यमेव तेन तच्चितं बद्धम्। किंवदित्याह—साध्यरोगवत् साध्यरोगो हि मासादिवेद्योऽप्यौषधैरपान्तराल एवोपक्रम्यत इति ॥२०४॥

तथा चाह—

अणुवक्कमओ नासइ कालेणोवक्कमेण खिप्पं पि[2]।
कालेणेवासज्झो सज्झासज्झं तहा कम्मं[3] ॥२०५॥

अनुपक्रमतः औषधोपक्रममन्तरेण। नश्यत्यपैति। कालेनात्मीयेनैव। उपक्रमेण क्षिप्रमपि नश्यति। साध्ये रोगे इयं स्थितिः। कालेनैवासाध्य उभयमत्र न संभवति। साध्यासाध्यं तथा कर्म साध्ये उभयम्, असाध्ये एक एव प्रकार इति ॥२०५॥

अथवा जिस प्रकार क्रमसे जलती हुई लम्बी रस्सी दीर्घ कालमें जल पाती है, पर वही पुंजित (इकट्ठा) कर देनेपर शीघ्र ही भस्म हो जाती है, अथवा जैसे फैलाया गया गीला वस्त्र भी शीघ्र सूख जाता है, पर वही पिण्डीभूत (इकट्ठा) होनेपर दीर्घ कालमें सूख पाता है ॥२०३॥

आगे वादीके द्वारा की गयी शंकाको दिखलाकर उसका समाधान किया जाता है—

यहाँ वादी कहता है कि जीवने जिस प्रकारसे कर्मका संचय नहीं किया है उस प्रकारसे यदि वह उसका अनुभव करता है तो वे अकृताभ्यागम आदि दोष तदवस्थ रहनेवाले हैं—उनका निराकरण नहीं किया जा सकता है। इस शंकाके समाधानमें कहा जाता है कि जीवने उसके योग्य—उपक्रमके योग्य—ही उसे संचित किया है, जैसे साध्य रोग ॥२०४॥

इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

कर्म उपक्रमके बिना समयानुसार ही विनष्ट होता है, वही उपक्रमके द्वारा शीघ्र भी नष्ट हो जाता है। जैसे—असाध्य रोग समयपर ही नष्ट होता है, किन्तु साध्य रोग समयपर भी नष्ट होता और उससे पूर्व भी। यही स्थिति साध्य व असाध्य कर्मके विषयमें भी जानना चाहिए।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि कर्मको सौ या दो सौ वर्ष आदि कालमें भोगनेके योग्य जिस अवस्थामें बाँधा गया है वह उस रूपमें न नष्ट होकर यदि उसके पूर्व भी उपक्रमके द्वारा नष्ट होता है तो उस अवस्थामें पूर्वमें दिये गये अकृताभ्यागम आदि दोष तदवस्थ ही रहेंगे। इस शंकाके उत्तरमें यहाँ यह कहा गया है कि जिस प्रकार साध्य रोग उपक्रमके बिना समयपर ही नष्ट होता है, किन्तु वह उपक्रमके द्वारा—औषधि आदिके आश्रयसे—समयके पूर्व भी नष्ट होता

---

१. अ सज्झरोगो। २. अ वि। ३. अ कालेणेवा सज्झोसज्झं तहा।

साध्यासाध्ययोरेव स्वरूपमाह—

सोवक्कममिह सज्झं इयरमसज्झं त्ति होइ नायव्वं।
सज्झासज्झविभागो एसो नेओ जिणाभिहिओ ॥२०६॥

सोपक्रममिह साध्यम्, तथाविधपरिणामजनितत्वात्। इतरन्निरुपक्रमसाध्यमेव भवति ज्ञातव्यम्। साध्यासाध्यविभागः एष ज्ञेयो जिनाभिहितस्तीर्थंकरोक्त इति ॥२०६॥

निगमयन्नाह—

आउस्स उवक्कमणं सिद्धं जिणवयणओ य सद्धेयं[1]।
जं छउमत्थो सम्मं नो केवलिए मुणइ भावे ॥२०७॥

आयुष उपक्रमणं सिद्धमुक्तन्यायात्। जिनवचनाच्च भवति श्रद्धेयम्। किमित्यत्रोपपत्तिमाह—यद्यस्माच्छद्मस्थः अर्वाग्दर्शी। सम्यगशेषधर्मापेक्षया। न केवलज्ञानगम्यान् मुणति भावान् जानाति पदार्थानिति ॥२०७॥

प्रकृतयोजनायाह[2]—

एयस्स य जो हेऊ सो वहओ तेण तन्निवित्ती य[3]।
वंझासुयपिसियासणनिवित्तितुल्ला[4] कहं होइ ॥२०८॥

हुआ देखा जाता है उसी प्रकार साध्य—उपक्रमके योग्य बाँधा गया—कर्म भी उपक्रमके बिना तो समयपर ही नष्ट होता है. किन्तु उपक्रमके वश वह बाँधी गयी स्थितिके पूर्व भी नष्ट हो जाता है। इसलिए उन अकृताभ्यागम आदि दोषोंकी सम्भावना वहाँ नहीं रहती। हाँ, जिस प्रकार असाध्य रोगमें यह क्रम सम्भव नहीं है—वह समयपर ही नष्ट होता है—उसी प्रकार असाध्य कर्म भी समयपर ही नष्ट हुआ करता है। इस प्रकार रोगके समान कर्मको भी साध्य व असाध्यके भेदसे दो प्रकारका जानना चाहिए ॥२०४-२०५॥

आगे इस साध्य व असाध्यके स्वरूपको ही प्रकट किया जाता है—

प्रकृतमें उपक्रम सहित कर्मको साध्य और इतर—उस उपक्रमसे रहित—को असाध्य जानना चाहिए। यह कर्मका साध्य व असाध्य रूप विभाग जिनदेवके द्वारा कहा गया जानना चाहिए ॥२०६॥

आगे इस सबका निष्कर्ष प्रकट किया जाता है—

प्रकृतमें आयुका उपक्रम जिनागमसे सिद्ध है, ऐसा श्रद्धान करना चाहिए। कारण यह है कि छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जीव केवलज्ञानके विषयभूत पदार्थोंको समीचीनतया नहीं जानता है ॥२०७॥

अब आगे इसका प्रकृतसे सम्बन्ध जोड़ा जाता है—

इस उपक्रमका जो हेतु है—दण्ड आदिके द्वारा प्राणीको पीड़ा पहुँचानेवाला है—वह वधक (हत्यारा) है। इसलिए उस वधकी निवृत्ति बाँझ स्त्रीके पुत्रके माँसके भक्षणकी निवृत्तिके समान कैसे हो सकती है।

१. अ आउस्सवक्कमणसिसिद्धं जणवयणउ य सेद्धेयं। २. अ प्रकृतियोजनामाह (अतोऽग्रे 'यद्यस्मात् छद्मस्थः' इत्येतावानधिकः पाठः लिखितोऽस्ति पूर्वगाथागतटीकायाः)। ३. अ वहगो जेण तं निवित्तेवं। ४. अ पिसियासिणिनिवत्तितुल्ला।

एतस्य चोपक्रमस्य यो हेतुर्दण्डादिपीडाकरणेन स वधकः[1] असौ हन्ता येन कारणेन तन्निवृत्तिः वधनिवृत्तिः एवं[2] वंध्यासुतपिशिताशननिवृत्तितुल्या कथं भवति सविषयत्वाद्वधनिवृत्तेरिति ॥२०८॥

अधुनान्यद्वावस्थानकम्—

> अन्ने भणंति कम्मं जं जेण कयं स भुंजई[3] तयं तु ।
> चित्तपरिणामरूवं अणेगसहकारिसाविक्खं[4] ॥२०९॥

अन्ये भणन्ति[5]—कर्म ज्ञानावरणादि । यद्येन कृतं प्राणिना । स भुङ्क्ते तदेव चित्रपरिणामरूपं कर्मानेकसहकारिसापेक्षम् अस्मादिदं प्राधान्यमित्यादिरूपमिति ॥२०९॥

> तक्कयसहकारित्तं पवज्जमाणस्स को वहो तस्स ।
> तस्सेव तओ दोसो जं तह कम्मं कयमणेणं ॥२१०॥

तत्कृतसहकारित्वं व्यापाद्यकृतसहकारित्वम् । प्रपद्यमानस्य को वधस्तस्य व्यापादकस्य । तस्यैव व्यापाद्यस्यासौ दोषो यत्तथा कर्म अस्मान्मया मर्तव्यमिति विपाकरूपम् । कृतमनेन व्यापाद्येनेति ॥२१०॥

एतदेव समर्थयति—

> जइ तेण तहा अकए तं वहइ तओ सतंतभावेण ।
> अन्नं पि किं न एवं वहेइ अणिवारियप्पसरो ॥२११॥

विवेचन—प्रकृतमें वादीने अकालमरणको असम्भव बतलाकर प्राणिवधकी निवृत्तिको वन्ध्यापुत्रके मांसके भक्षणकी निवृत्तिके समान अज्ञानतापूर्ण कहा था (गा. १९२) । उसका निराकरण करते हुए यहाँ यह सिद्ध किया गया है कि उपक्रमके द्वारा जब आयुका विनाश पूर्वमें भी सम्भव है तब अकालमरणको असम्भव नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार जब अकालमरण प्रमाणसे सिद्ध है तब उस वधको निवृत्ति कराना सर्वथा उचित है—उसे वन्ध्यापुत्रके मांसके भक्षणकी निवृत्तिके समान अज्ञानतापूर्ण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह निर्विषय नहीं है, यह सिद्ध किया जा चुका है । जो व्यक्ति उस आयुके उपक्रमका कारण होता है—लाठी व छुरी आदिके द्वारा प्राणीको पीड़ा पहुँचाता है—वह वधक कहलाता है । उसके इस क्रूरतापूर्ण कृत्यसे पापका संचय होता है । इससे उसे प्राणिवधका परित्याग कराना योग्य ही है ॥२०८॥

अब आगे चार (२०९-२१२) गाथाओंमें अन्य किन्हीं वादियोंके अभिमतको दिखलाते हैं—

दूसरे कितने ही वादी यह कहते हैं कि जिस जीवने जिस कर्मको किया है वह नियमसे अनेक प्रकारके परिणामस्वरूप उस कर्मको अनेक सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे भोगता है ॥२०९॥

वध्यमान उस जीवके द्वारा की गयी सहकारिताको प्राप्त होनेवाले वधकके उस वध्यमान जीवके वधका कौन-सा दोष है ? उसका उसमें कुछ भी दोष नहीं है । वह दोष तो उस वध्यमान प्राणीका ही है, क्योंकि उसने उस प्रकारके—उसके निमित्तसे मारे जानेरूप—कर्मको किया है ॥२१०॥

---

१. अ बंधक । २. अ तन्निवृत्तिर्वधरेवं । ३. अ जेण सयं पुज्जइ । ४. अ °कारिवावेक्खं । ५. अ पठंति ।

यदि तेन व्यापाद्येन। तथा तेन प्रकारेण अस्मान्मर्तव्यमित्यादिलक्षणेन। अकृते अनुपात्ते, कर्मणीति गम्यते। तं व्यापाद्यम्। हन्ति व्यापादयति। तको वधकः। स्वतन्त्रभावेन स्वयमेव कथंचित्। अत्र दोषमाह—अन्यमपि देवदत्तादिकम्। किं न एवं हन्ति यथा तम्, निमित्ताभावस्याविशेषात्। अनिवारितप्रसरः स्वातन्त्र्येण व्यापादनशील इति ॥२११॥

न य[1] सव्वो सव्वं चिय वहेइ निययस्सभावओ अह नं[2]।
वज्झस्स अफलकम्मं वहगसहावेण मरणाओ[3] ॥२१२॥

न च सर्वो व्यापादकः। सर्वमेव व्यापाद्यं हन्ति, अदर्शनात्। नियतस्वभावतोऽय न अथैवं मन्यसे नियतहन्तृस्वभावात् न सर्वान् हन्तीत्येतदाशङ्क्याह—वध्यस्य व्यापाद्यस्याफलं कर्म। कुतो वधकस्वभावेन मरणात्। यो हि यद्व्यापादनस्वभावः स तं व्यापादयतीति निःफलं कर्मापद्यते। न चैतदेवम्। तस्मात्तस्यैवासौ दोषो यत्तथा कर्म कृतमनेनेति। वधकोऽनपराध इति एष पूर्वपक्षः ॥२१२॥

वध्यमान प्राणीके द्वारा उस प्रकारके कर्मके न किये जानेपर भी यदि वह स्वतन्त्रतासे उसे मारता है तो फिर वैसी अवस्थामें वह उस प्रकारसे अन्य भी किसी प्राणीको बिना रुकावटके (स्वतन्त्रतासे) क्यों नहीं मारता है ? अन्य किसी भी प्राणीको मार सकता था ॥२११॥

पर सब (वधक) सभीका वध नहीं करते हैं। इसपर यदि यह कहा जाये कि नियत स्वभाववाले होनेसे सब वधक सबको नहीं मारते हैं, नियत प्राणीको ही मारते हैं तो वैसी अवस्थामें वध्य (मारे जानेवाले) प्राणीका वह कर्म निष्फल हो जायेगा, क्योंकि वह वधकके स्वभावसे मरणको प्राप्त होता है, न कि स्वकृत कर्मके प्रभावसे ॥२१२॥

विवेचन—इन वादियोंका अभिप्राय यह है कि जिस जीवने जिस प्रकारके कर्मको किया है उसे उस कर्मके विपाकके अनुसार उसके फलको भोगना ही पड़ता है। वध करनेवाला प्राणी तो उसके इस वधमें निमित्त मात्र होता है। वह भी इसलिए कि उसने 'मैं इसके निमित्तसे मरूँगा' ऐसे ही कर्मको उपार्जित किया है। इस प्रकार वध करनेवालेको जब उसके ही कर्मके अनुसार उसके वधमें सहकारी होना पड़ता है तब भला इसमें उस बेचारे वधकका कौन-सा अपराध है ? उसका कुछ भी अपराध नहीं है। कारण यह कि वध्यमान प्राणीने न वैसा कर्म किया होता न उसके हाथों मरना पड़ता। प्रकृत वादियोंके द्वारा अपने उपर्युक्त अभिमतको पुष्ट करते हुए कहा जाता है कि मरनेवाले प्राणीने यदि 'मैं अमुकके निमित्तसे मरूँगा' इस प्रकारके कर्मको नहीं किया है तो फिर जब वधक इस वधकार्यमें स्वतन्त्र है तब क्या कारण है जो वह उसी प्राणीको तो मारता है और अन्य प्राणीको नहीं मारता है। परन्तु यह प्रत्यक्षमें देखा जाता है कि सब सभी प्राणियोंको नहीं मारते हैं, किन्तु वधक किसी विशेष प्राणीका ही वध करता है, अन्यका नहीं। इससे सिद्ध होता है कि जिसने अमुक प्राणीके द्वारा मारे जानेपर कर्मको बाँधा है वही उसके द्वारा मारा जाता है, अन्य नहीं मारा जाता। इसपर यदि प्रतिवादी यह कहे कि वधक अपने नियत स्वभावके अनुसार विवक्षित प्राणीका ही वध करता है, अन्यका वध वह नहीं करता है, सो यह भी युक्तिसंगत नहीं है। कारण यह है कि वैसा माननेपर मारे जानेवाले प्राणीका वह कर्म निरर्थक सिद्ध होगा। इसका भी कारण यह है कि प्रतिवादीके उक्त अभिमतके अनुसार वह अपने द्वारा उपार्जित कर्मके उदयसे तो नहीं मारा गया, किन्तु वधकके नियत स्वभावके अनुसार मारा

१. अ नहि। २. अ भावओ अणहो। ३. अ सहावेण परमाउ।

अत्रोत्तरमाह—

नियकयकम्मुवभोगे वि संकिलेसो धुवं वहंतस्स ।
तत्तो बंधो तं खलु तव्विरईए विवज्जिज्जा ॥२१३॥

निजकृतकर्मोपभोगेऽपि व्यापाद्यव्यापत्तौ स्वकृतकर्मविपाकेऽपि सति । तस्य संक्लेशोऽकुशलपरिणामो ध्रुवमवश्यं घ्नतो व्यापादयतस्ततस्तस्मात्संक्लेशाद्बन्धस्तं खलु तमेव बन्धम् । तद्विरत्या वधविरत्या वर्जयेदिति ॥२१३॥

तत्तु च्चिय मरियव्वं इय बद्धे आउयंमि[2] तव्विरई ।
नणु किं साहेइ फलं तदारओ कम्मखवणं तु ॥२१४॥

तत एव देवदत्तादेः सकाशात् । मर्तव्यम् इय एवमनेन प्रकारेण । बद्धे आयुषि उपात्ते आयुष्कर्मणि व्यापाद्येन । वधविरतिर्ननु किं साधयति फलम्, तस्यावश्यभावित्वेन तद्वसंभवात् विरत्यसंभवात् ? न किंचिदित्यभिप्रायः । अत्रोत्तरम्—तदारतः कर्मक्षपणं तु मरणकालादारतः वधविरतिः कर्मक्षयमेव साधयतीति गाथार्थः ॥२१४॥

एतदेव भावयति—

तत्तु च्चिय सो भावो जायइ सुद्धेण जीववीरिएणं[3] ।
कस्सइ जेणं[4] तयं खलु अवहित्ता गच्छई मुक्खं ॥२१५॥

गया है । इससे यही सिद्ध होता है कि मारे जानेवाले प्राणीने जिस प्रकारके कर्मको उपार्जित किया है तदनुसार ही वह अमुक वधके द्वारा मारा जाता है । इसलिए इसमें जब मारनेवालेका कुछ अपराध नहीं है तब उक्त प्रकारसे वधकको निवृत्ति कराना व्यर्थ है । इस वादीने उपर्युक्त चार गाथाओंमें अपने पूर्व पक्षको स्थापित किया है ॥२०९-२१२॥

आगे वादीके इस अभिमतका निराकरण किया जाता है—

स्वकृत कर्मके उपभोगमें भी वध करनेवालेके परिणाममें निश्चयसे जो संक्लेश होता है उससे उसके कर्मका बन्ध होता है । उसे उस वधका व्रत करानेसे छुड़ाया जाता है ।

विवेचन—जो प्राणी किसी वधकके हाथों मारा जाता है वह यद्यपि अपने द्वारा किये गये कर्मके ही उदयसे मारा जाता है व तज्जन्य दुखको भोगता है, फिर भी इस क्रूर कार्यसे मारनेवालेके अन्तःकरणमें जो संक्लेश परिणाम होता है उससे निश्चित ही उसके पाप कर्मका बन्ध होनेवाला है । उपर्युक्त उस वधविरतिके द्वारा उसे इस पाप कर्मके बन्धसे बचाया जाता है जो उसके लिए सर्वथा हितकर है ॥२१३॥

आगे वादीकी ओरसे प्रसंगप्राप्त शंकाको उठाकर उसका समाधान किया जाता है—

वादी पूछता है कि मरनेवाले प्राणीने जब उसके निमित्तसे ही मारे जाने रूप आयु कर्मको बांधा है तब उसके होते हुए वधकी विरति करानेसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है ? उसका कुछ भी फल नहीं है । कारण यह कि उक्त प्रकारसे बांधे गये कर्मके अनुसार उसे उसीके हाथों मरना पड़ेगा । वादीकी इस शंकाके उत्तरमें यहाँ यह कहा गया है कि मरणकालके पूर्वमें ग्रहण करायी उस वधकी विरतिसे उसके कर्मका क्षय होनेवाला है, यही उस वधविरतिका फल है ॥२१४॥

इसे आगे स्पष्ट किया है—

---

१. अ नियकम्मं कम्मवि भोग वि संकिलेसे साहुवं । २. अ आउगंमि । ३. अ जायइ तुट्टेण जीवविरिएण । ४. अ जणेण ।

तत एव वधविरतेः । स भावः क्लिष्टपरिणामलक्षणः । जायते शुद्धेन जीववीर्येण कर्मानभिभूतेनात्मसामर्थ्येन । कस्यचित्प्राणिनः । येन भावेन । तकं व्यापाद्यम् । अवधित्वा अहत्वैव । गच्छति मोक्षं प्राप्नोति निर्वाणमिति ॥२१५॥

इय तस्स तयं कम्मं न जहकयफलं ति पावई अह तु ।
तं नो अज्झवसाणा ओवट्टणमाइभावाओ ॥२१६॥

इय एवमुक्तेन न्यायेन । तस्य व्यापाद्यस्य तत्कर्म अस्मान्मर्तव्यमित्यादिलक्षणम् । न यथाकृतफलमेव ततो मरणाभावात्प्राप्नोत्यापद्यते । अथ त्वमेवं मन्यसे इत्याशङ्क्याह—तन्न तदेतन्न, अध्यवसायात्तथाविधचित्तविशेषादपवर्तनादिभावात्तथा ह्रास-संक्रमानुभवश्रेणिवेदनादिति गाथार्थः ॥२१६॥

सकयं पि अणेगविहं तेण पगारेण भुंजिउं सव्वं ।
अपुव्वकरणजोगा पावइ मुक्खं तु किं तेण ॥२१७॥

किं च स्वकृतमप्यात्मोपात्तमप्यनेकविधं चतुर्गतिनिबन्धनम् । तेन प्रकारेण चतुर्गतिवेद्य-

---

उस वधविरतिसे किसी जीवके निर्मल आत्माके सामर्थ्यसे वह परिणाम प्रादुर्भूत होता है कि जिसके आश्रयसे वह उस प्राणीका घात न करके मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

विवेचन—यह ऐकान्तिक नियम नहीं है कि जिसने अमुक (देवदत्त आदि) के हाथसे मारे जानेरूप आयु कर्मको बाँधा है वह उसीके द्वारा मारा जाये। कारण यह कि उस वधकके ग्रहण करायी गयी वधकी विरतिसे कदाचित् निर्मल आत्मपरिणामके बलसे वह भाव उत्पन्न होता है कि जिसके प्रभावसे वह उस वध्य प्राणीका घात न करके मुक्तिको प्राप्त कर लेता है ॥२१५॥

इसपर वादीके द्वारा जो आशंका उठाया गया है उसका निराकरण किया जाता है—

वादी कहता है कि इस प्रकारसे तो उस वध्य प्राणीके द्वारा जिस प्रकारके फलसे युक्त कर्मको किया गया है उसके उस प्रकारके फलसे रहित हो जानेका प्रसंग प्राप्त होगा। इसके समाधानमें यहाँ यह कहा जा रहा है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि अध्यवसायके वश—उस प्रकारकी चित्तकी विशेषतासे—प्राणीके उक्त कर्मके विषयमें अपवर्तन आदि सम्भव हैं।

विवेचन—वादीके कहनेका अभिप्राय यह था कि वध्य प्राणीने 'मैं अमुकके हाथों मारा जाऊँगा' इस प्रकारके कर्मको बाँधा था, पर वधकी विरतिके प्रभावसे जब वह उसके द्वारा नहीं मारा गया तब वह उसका कर्म निरर्थकताको क्यों न प्राप्त होगा? इसका समाधान करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि प्राणी जिस प्रकारके विपाकसे युक्त कर्मको बाँधता है उसमें आत्माके परिणाम विशेषसे अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण आदि भी सम्भव है। अतएव जो कर्म जिस रूपसे बाँधा गया है उसकी स्थितिमें हीनाधिकता हो जानेसे अथवा उसके अन्य प्रकृतिरूप परिणत हो जानेके कारण यदि उसने वैसा फल नहीं दिया तो इसमें कोई विरोध सम्भव नहीं है ॥२१६॥
इसके अतिरिक्त—

स्वकृत भी जो अनेक प्रकारका कर्म है उस सबको उस प्रकारसे न भोगकर अपूर्वकरणके सम्बन्धसे जीव मोक्षको पा लेता है। फिर भला उस कर्मसे क्या होनेवाला है? कुछ भी नहीं।

विवेचन—पूर्व गाथामें यह कहा जा चुका है कि मारे जानेवाले प्राणीने 'मैं अमुक (देवदत्त

---

१. अ कम्मं ण य जहँ । २. अ अन्ना अवक्कमणसाण। अपवत्तणमादिभावाच ।

त्वेन। अभुक्त्वा सर्वमननुभूय निरवशेषम्। अपूर्वकरणयोगात् क्षपकश्रेण्यारम्भकादपूर्वकरण-संबन्धात्। प्राप्नोति मोक्षमेवासादयति निर्वाणमेव। किं तेन व्यापादकभावनिबन्धनत्वपरिकल्पितेन कर्मणेति ॥२१७॥

स्यात्तस्मिन् सति न चरणभाव एवेति। अत्राह—

परकयकम्मनिबंधा चरणाभावंमि पावइ अभावो।
सकयस्स निप्फलत्ता सुहदुहसंसारमुक्खाणं ॥२१८॥

परकृतकर्मनिबन्धाद्व्यापाद्यकृतकर्मनिबन्धनेन व्यापादकस्य चरणाभावे अभ्युपगम्यमाने। प्राप्नोत्यभावः सुख-दुःख-संसार-मोक्षाणामिति योगः। कुतः? स्वकृतस्य निःफलत्वान्निःफलत्वं चान्यकृतेन प्रतिबन्धादिति ॥२१८॥

अकयागमकयनासा सपरेगत्तं च पावई एवं।
[1]तच्चरणाउ च्चिय तओ खओ वि अणिवारियप्पसरो ॥२१९॥

आदि) प्राणीके हाथसे मारा जाऊँगा' इस प्रकारके फलयुक्त जिस कर्मको बांधा था वह अध्यवसाय विशेषसे संक्रमण आदिको प्राप्त होता हुआ उस प्रकारके फलको नहीं भी देता है। अब यहाँ यह कहा जाता है कि वधक प्राणीके द्वारा भी जो चतुर्गतिके कारणभूत अनेक प्रकारके कर्मको बांधा गया है उसे वह उस रूपमें नहीं भी भोगता है और क्षपकश्रेणिपर आरूढ़ होता हुआ अपूर्वकरण परिणामके वश मोक्षको प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि कर्म चाहे स्वकृत हो या परकृत हो वह जिस रूपमें बांधा जाता है, अध्यवसाय-विशेषके वश वह अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमणादि रूप अवस्थान्तरको प्राप्त होता हुआ उस प्रकारके फलको नहीं भी देता है। ऐसी परिस्थितिमें जो वधकी विरति करायी जाती है वह निरर्थक न होकर प्राणीके लिए हितकर ही है, ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥२१७॥

परकृत कर्मके वश चारित्रके अभावमें क्या अनिष्ट हो सकता है, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

परकृत—वध्य प्राणीके द्वारा किये गये—कर्मके कारण वधकके चारित्रका अभाव माननेपर स्वकृत कर्मके निष्फल हो जानेसे सुख, दुख, संसार और मोक्षके अभावका प्रसंग प्राप्त होगा।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि मारणोन्मुख प्राणीने अमुक प्राणीके निमित्तसे मारे जाने-रूप जिस कर्मको बांधा है उसके प्रभावसे यदि दूसरेके—उसके मरनेमें निमित्त बननेवाले वधकके—वधकी विरतिरूप चारित्रका प्रतिबन्ध होता है तो वैसी अवस्थामें उसके स्वकृत कर्मके निष्फल हो जानेसे सुख, दुख, संसार और मोक्ष आदिके अभावका भी प्रसंग दुर्निवार होगा। इससे यही सिद्ध होता है कि प्राणी स्वकृत कर्मके अनुसार ही यथासम्भव सुख-दुख आदिका उपभोक्ता होता है, न कि परकृत कर्मके वशीभूत होकर, अन्यथा उपर्युक्त अनिष्टका प्रसंग अनिवार्य प्राप्त होगा ॥२१८॥

उपर्युक्त मान्यतामें जो अन्य दोष सम्भव हैं उन्हें भी आगे प्रकट किया जाता है—

इस प्रकारसे—परकृत कर्मके प्रभावसे—चारित्रका लोप होनेपर अकृतागम व कृतनाश दोषोंके साथ स्व और परमें अभेदका भी प्रसंग प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उसके चारित्रसे ही—वध्यके चारित्रसे ही—वधकके कर्मक्षय भी बे-रोक-टोक हो सकता है।

---

१. अ तच्चरणउ च्चिय तउ खउ अणि°।

अकृताभ्यागमकृतनाशौ—तेनाकृतमपि तस्य प्रतिबन्धकमित्यकृतागमः, शुभपरिणामभावेऽपि च ततः प्रतिबन्धात्तत्फलमिति[1] कृतनाशः। स्वपरैकत्वं च प्रतिबन्धकाविशेषात् प्राप्नोत्येवं तच्चरणत एव। ततः क्षयोऽप्यनिवारितप्रसरस्तस्येत्युपसंहरन्नाह ॥२१९॥

एवंपि य वहविरई कायव्वा चेव सव्वजत्तेणं।
तदभावंमि पमाया बंधो भणिओ जिणिंदेहिं ॥२२०॥

एवमपि चोक्तप्रकाराद्। वधविरतिः कर्तव्यैव सर्वयत्नेनाप्रमादेनेत्यर्थः। तदभावे च विरत्यभावे च। प्रमादाद्बन्धो भणितो जिनेन्द्रैरिति ॥२२०॥

इदानीमन्यद्वादस्थानकम्—

केइ बालाइवहे बहुतरकम्मस्सुवक्कमाउ त्ति।
मन्नंति पावमहियं बुड्ढाईसु विवज्जासं ॥२२१॥

केचिद्वादिनो बालादिवधे बाल-कुमार-युवव्यापादने। बहुतरकर्मण उपक्रमणात्कारणात्-मन्यन्ते पापमधिकम्। वृद्धादिषु विपर्यासं, स्तोकतरस्य कर्मण उपक्रमादिति ॥२२१॥

अत्रोत्तरमाह—

एयं पि न जुत्तिखमं जं परिणामाउ पावमिह वुत्तं[2]।
दव्वाइभेयभिन्ना तह[3] हिंसा वन्निया[4] समए ॥२२२॥

विवेचन—इसके अतिरिक्त उक्त मान्यताके अनुसार वधकने चारित्रके रोधक जिस कर्मको नहीं किया है वह उसका रोधक हो जाता है, अतः अकृताभ्यागम दोषका प्रसंग प्राप्त होता है। साथ ही उसने चारित्रके उत्पादक शुभ परिणामको तो किया है, पर वध्यके द्वारा किये गये कर्मके प्रभावसे उसके चारित्रका प्रादुर्भाव हो नहीं सका अतः 'कृतनाश' दोष भी प्रसक्त होता है। इस प्रकार वध्य और वधकमें विशेषता न रहनेसे दोनोंमें अभेद प्राप्त होता है। और जब दोनोंमें भिन्नता न रही तब उसके चारित्रसे कर्मक्षयके प्रसारको भी नहीं रोका जा सकता है ॥२१९॥

अब इस प्रकरणका उपसंहार किया जाता है—

इस प्रकार—वादीके द्वारा वधविरतिमें प्रदर्शित दोषोंका निराकरण हो जानेपर—पूर्ण प्रयत्नके साथ उस वधकी विरतिको करना ही चाहिए। कारण यह कि उक्त वधविरतिके अभावमें प्रमादके वश जिनेन्द्र देवके द्वारा बन्धका सद्भाव कहा गया है ॥२२०॥

आगे अन्य किन्हीं वादियोंके अभिमतको प्रकट किया जाता है—

कितने ही वादी यह मानते हैं कि बाल आदि—बालक, कुमार, युवा और वृद्ध—इनका वध करनेपर अधिकाधिक कर्मका उपक्रम होनेसे क्रमसे अधिक पाप होता है। इसके विपरीत वृद्ध आदि—वृद्ध, युवा, कुमार और बालक—इनका वध करनेपर अतिशय स्तोक कर्मका उपक्रम होनेसे क्रमसे उत्तरोत्तर अल्प पाप होता है ॥२२१॥

आगे इस अभिमतका निराकरण करते हैं—

यह भी—वादीका उपर्युक्त अभिमत भी—युक्तिसंगत नहीं है। कारण इसका यह है कि यहाँ पापका उपार्जन परिणामके अनुसार कहा गया है। तथा आगममें हिंसाका वर्णन द्रव्य-क्षेत्रादिके भेदसे भिन्न-भिन्न रूपमें किया गया है।

---

१. अ प्रतिबंधान्न तत्फलं°। २. अ जुत्ति सह जं परि°। ३. अ तवा। ४. अ वन्निता।

एतदपि न युक्तिक्षमं यद्यस्मात्परिणामात्पापमिहोक्तम् । स च न नियतो बाल-वृद्धादिषु क्लिष्टेतररूपः । द्रव्यादिभेदभिन्ना तथा हिंसा वर्णिता समये । यथोक्तम्—दव्वउ णामेगे[1] हिंसा ण भावउ इत्यादि ॥२२२॥

प्रथमहिंसाभेदमाह—

उच्चालियंमि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जिज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥२२३॥

उच्चालिते उत्क्षिप्ते पादे संक्रमार्थं गमनार्थमिति योगः । ईर्यासमितस्योपयुक्तस्य साधोः । किम् ? व्यापद्येत महतीं वेदनां प्राप्नुयात् म्रियेत प्राणत्यागं कुर्यात् । कुलिङ्गी कुत्सितलिङ्गवान् द्वीन्द्रियादिसत्त्वः । तं योगमासाद्य तथोपयुक्तसाधुव्यापारं प्राप्येति ॥२२३॥

न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
जम्हा सो अपमत्तो स उ पमाउ त्ति निद्दिट्ठो[2] ॥२२४॥

विवेचन—यहाँ उक्त अभिमतका निराकरण करते हुए कहा गया है कि बालक आदिके वधमें अधिक और वृद्ध आदिके वधमे अल्प पाप होता है, यह जो वादीका अभिमत है वह युक्तिको सहन नहीं करता—युक्तिसे विचार करनेपर वह विघटित हो जाता है। इसका कारण यह है कि पापका जनक संक्लेश है, वह बाल व कुमार आदिके वधमें अधिक है। और वृद्ध व युवा आदिके वधमे अल्प हो, ऐसा नियम नहीं है—कदाचित् बालके वधमे अधिक और कुमारके वधमे कम भी संक्लेश हो सकता है। कभी परिस्थितिके अनुसार इसके विपरीत भी वह हो सकता है। इसके अतिरिक्त आगममे द्रव्य व क्षेत्र आदिके अनुसार हिंसा भी अनेक प्रकारकी निर्दिष्ट की गयी है। यथा—कोई हिंसा केवल द्रव्यसे होती है, भावसे वह नही होती। कोई हिंसा भावसे ही होती है, द्रव्यसे नहीं होती। जो हिंसा भावके बिना केवल द्रव्यसे होती है वह संक्लेश परिणामसे रहित होनेके कारण पापकी जनक नही होती। जैसे—ईर्यासमितिसे गमन करते हुए साधुके पाँवोंके नीचे आ जानेसे चींटी आदि क्षुद्र जन्तुका विघात। इसके विपरीत जो किसीको शत्रु मानकर उसके वधका विचार तो करता है, पर उसका घात नही कर पाता। इसमे घातरूप द्रव्य हिंसाके न होनेपर भी संक्लेश परिणामरूप भावहिंसाके सद्भावमें उसके पापका संचय अवश्य होता है ॥२२२॥

अब आगमोक्त उन हिंसाके भेदोंमें प्रथम भेदभूत हिंसाका स्वरूप दिखलाते है—

ईर्यासमितिके परिपालनमें उद्यत साधुके गमनमें पाँवके उठानेपर उसके सम्बन्धको पाकर क्षुद्र द्वीन्द्रिय आदि किन्हीं प्राणियोंको पीड़ा हो सकती है व कदाचित् वे मरणको भी प्राप्त हो सकते हैं ॥२२३॥

फिर भी वह हिंसाका भागी नहीं होता, यह आगे स्पष्ट किया जाता है—

परन्तु उसके निमित्तसे ईर्यासमितिमें उद्युक्त उस साधुके आगममें सूक्ष्म भी कर्मका बन्ध नहीं कहा गया है। इसका कारण यह है कि वह प्रमादसे रहित है—प्राणिरक्षणमें सावधान होकर ही गमन कर रहा है। और प्रमादको ही हिंसाका निर्देश किया गया है ॥२२४॥

---

१. अ दव्वगुणमेगा । २. अ °त्तो सोय मभाउ त्ति णिद्दिट्ठो ।

न च तस्य साधोस्तन्निमित्तः कुलिङ्गिव्यापत्तिकारणो बन्धः सूक्ष्मोऽपि देशितः समये। किमिति ? यस्मात्सोऽप्रमत्तः, सूत्राज्ञया प्रवृत्तेः। सा च हिंसा प्रमाद इत्येवं निर्दिष्टा तीर्थंकर-गणधरैरिति इयं द्रव्यतो[1] हिंसा, न भावतः ॥२२४॥

सांप्रतं भावतो न द्रव्यत इत्युच्यते—

मंदपगासे देसे रज्जुं किण्हाहिसरिसयं दट्ठुं ।
अच्छित्तु तिक्खखग्गं वहिज्ज तं तप्परीणामो[2] ॥२२५॥

मन्दप्रकाशे देशे श्यामले निम्नादौ। रज्जुं दर्भादिविकाररूपाम्। कृष्णाहिसदृशीं कृष्ण-सर्पतुल्याम्। दृष्ट्वा आकृष्य तीक्ष्णखड्गं बधेत् ताम् हन्यादित्यर्थः। तत्परिणामो वधपरिणाम इति ॥२२५॥

सप्पवहाभावंमि वि वहपरिणामाउ चेव एयस्स ।
नियमेण संपराइयबंधो खलु होइ नायव्वो ॥२२६॥

सर्पवधाभावेऽपि तत्त्वतः वधपरिणामादेवैतस्य व्यापादकस्य। नियमेन सांपरायिको[3] बन्धो भवपरंपराहेतुः कर्मयोगः। खलु भवति ज्ञातव्य इति ॥२२६॥

विवेचन—कर्मबन्धका कारण संक्लेश और विशुद्धि है। संक्लेशसे प्राणीके जहाँ पापका बन्ध होता है वहाँ विशुद्धिसे उसके पुण्यका बन्ध होता है। इस प्रकार जो साधु ईर्यासमितिसे—चार हाथ भूमिको देखकर सावधानीसे—गमन कर रहा है उसके पाँवोंके धरने-उठानेमें कदाचित् जन्तुओंका विघात हो सकता है, फिर भी आगममें उसके तन्निमित्तक किंचित् भी कर्मबन्ध नहीं कहा गया है। कारण इसका यही है कि उसके परिणाम प्राणिपीड़नके नहीं होते, वह तो उनके संरक्षणमें सावधान होकर ही गमन कर रहा है। उधर आगममें इस हिंसाका लक्षण प्रमाद (असावधानी) ही बतलाया है (त. सू. ७।१३)। इसीलिए प्रमादसे रहित होनेके कारण गमनादि क्रियामें कदाचित् जन्तुपीड़ाके होनेपर भी साधुके उसके निमित्तसे पापका बन्ध नहीं कहा गया है। यह द्रव्यहिंसाका उदाहरण है ॥२२३–२२४॥

आगे द्रव्यसे हिंसा न होकर भावसे होनेवाली हिंसाका स्वरूप दिखलाया जाता है—

मन्द प्रकाशयुक्त देशमें काले सर्प-जैसी रस्सीको देखकर व तीक्ष्ण खड्गको खींचकर उसके मारनेका विचार करनेवाला कोई व्यक्ति उसका घात करता है ॥२२५॥

इस प्रकारसे सर्पके वधके न होनेपर भी हिंसाजनित पापका वह भागी होता है, इसे आगे प्रकट किया जाता है—

तदनुसार सर्पवधके बिना भी उसके केवल सर्पघातके परिणामसे ही नियमसे साम्परायिक—संसारपरम्पराका कारणभूत—बन्ध होता है, यह जानना चाहिए ॥२२६॥

विवेचन—अब यहाँ दूसरे प्रकारकी हिंसाका स्वरूप दिखलाते हुए दृष्टान्त द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि कोई मनुष्य अँधेरेमें पड़ी हुई रस्सीको भ्रमवश काला सर्प समझकर उसे मार डालनेके विचारसे उसके ऊपर शस्त्रका प्रहार करता है। परन्तु यथार्थमें वह सर्प तो था नहीं, इसीलिए सर्पके घातके न होनेपर भी उस व्यक्तिके सर्पघातरूप हिंसासे जनित पापका बन्ध अवश्य होता है। इस प्रकार यहाँ द्रव्यसे हिंसाके न होनेपर भी भावहिंसारूप उस हिंसाके दूसरे भेदका उदाहरण दिया गया है ॥२२५–२२६॥

---

१. अ गणधरै रित्यादितीर्थ द्रव्यतो। २. अ तप्परीणामे। ३. अ सांप्रतं परायिको।

तृतीयं हिंसाभेदमाह—

मिगवहपरिणामगओ आयण्णं कड्ढिऊण[1] कोदंडं ।
मुत्तूणमिसुं उभओ वहिज्ज तं पागडो एस ॥२२७॥

मृगवधपरिणामपरिणतः[2] समाकर्णमाकृष्य । कोदण्डं धनुर्मुक्त्वेषुं बाणम् । उभयतो वधेत् हन्यात् द्रव्यतो भावतश्च । तं मृगम् । प्रकट एव हिंसक इति ॥२२७॥

चतुर्थं भेदमाह—

उभयाभावे हिंसा धणिमित्तं भंगयाणुपुव्वीए ।
तहवि य दंसिज्जंती सीसमइविगोवणमदुट्ठा[3] ॥२२८॥

उभयाभावे द्रव्यतो भावतश्च वधाभावे । हिंसा ध्वनिमात्रम्, न विषयतः भङ्गकानुपूर्व्यायाता । तथापि च दर्श्यमाना शिष्यमतिविकोपनं विनेयबुद्धिविकाशायादुष्टैवेति ॥२२८॥

इय परिणामा बंधे बालो वुड्ढुत्ति थोवमियमित्थ ।
बाले वि सो न तिव्वो कयाइ वुड्ढे[4] वि तिव्वुत्ति ॥२२९॥

आगे तीसरे प्रकारकी हिंसाको दिखलाते हैं—

कोई मनुष्य मृगघातके विचारमें मग्न होकर कान पर्यन्त धनुषको खींचता हुआ उसके ऊपर बाणको छोड़ता है । इस प्रकार वह प्रकटमें दोनों रूपमें—द्रव्यसे व भावसे भी—उस मृगका वध करता है ।

विवेचन—एक व्याध मृगके घातके विचारसे धनुषकी डोरीको खींचकर उसके ऊपर बाणको छोड़ देता है, जिससे विद्ध होकर वह मरणको प्राप्त हो जाता है । यहाँ व्याधने मृगके वधका जो प्रथम विचार किया, यह तो भावहिंसा हुई, साथ ही उसने बाणको छोड़कर उसका जो वध कर डाला, यह द्रव्यहिंसा हुई । इस प्रकारसे वह व्याध द्रव्य और भाव दोनों प्रकारसे हिंसक होता है ॥२२७॥

अब उक्त हिंसाके चौथे भेदको दिखलाते हैं—

द्रव्य और भाव दोनों प्रकारसे वधके न होने पर भंगकानुपूर्वीसे—उस प्रकारके वाक्यके उच्चारण मात्रसे—ध्वनि (शब्द) मात्र हिंसा होती है । यह वस्तुतः हिंसा नहीं है, फिर भी शिष्यकी बुद्धिके विकासके लिए वह केवल दिखलाई जाती है, अतएव वह दोषसे रहित है ।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि कभी-कभी गुरु शिष्यकी बुद्धिको विकसित करनेके लिए—उसे सुयोग्य विद्वान् बनानेके विचारसे—केवल शब्दों द्वारा मारने-ताड़ने आदिके विचारको प्रकट करता है, पर अन्तरंगमें वह दयालु रहकर उसके हितको ही चाहता है । इस प्रकार द्रव्य व भाव दोनों प्रकारसे हिंसाके न होनेपर भी वैसे शब्दोंके उच्चारण मात्रसे हिंसा होती है जो यथार्थमें हिंसा नहीं है, क्योंकि इस प्रकारके आचरणमें न तो मारण-ताड़न किया जाता है और न गुरुका वैसा अभिप्राय भी रहता है ॥२२८॥

आगे हिंसाकी तर-तमताकी कारण बाल व वृद्ध आदि अवस्था नहीं है, यह अभिप्राय प्रकट किया जाता है—

---

१. अ मिगविहपरिणामो गओ यायन्नं कड्ढिऊण । २. अ परिणामगतः । ३. अ विगोविणुमदुट्ठा । ४. अ कयाति वुड्ढे ।

इय एवं परिणामाद्बन्धे सति बालो वृद्ध इति स्तोकमिदमत्र हिंसाप्रक्रमे। किमिति ? बालेऽप्यसौ न तीव्रः परिणामः कदाचिद्वृद्धेऽपि तीव्र इति, जिघांसतामाशयवैचित्र्यादिति ॥२२९॥

अह परिणामाभावे वहे वि बंधो न पावई[1] एवं।
कह न वहे परिणामो तब्भावे कह य नो बंधो[2] ॥२३०॥

अथैवं मन्यसे परिणामाभावे सति वधेऽप्यबन्ध एव प्राप्नोत्येवं परिणामवादे एतदाशङ्क्याह—कथं न वधे परिणामः ? किं तर्हि ? भवत्येवादुष्टाशयस्य तत्राप्रवृत्तेः। तद्भावे वधपरिणामभावे। कथं च वधे न बन्धो बन्ध एवेति ॥२३०॥

सिय न वहे परिणामो अन्नाण-कुसत्थभावणाओ य।
उभयत्थ तदेव तओ किलिट्ठबंधस्स हेउ त्ति ॥२३१॥

स्यान्न वधे परिणामः क्लिष्टः। अज्ञानात् अज्ञानं व्यापादयतः, कुशास्त्रभावनातश्च यागादावेतदाशङ्क्याह—उभयत्र तदेवाज्ञानमसौ परिणामः क्लिष्टबन्धस्य हेतुरिति सांपरायिकस्येति ॥२३१॥

जम्हा सो परिणामो अन्नाणादवगमेण नो होइ।
तम्हा तयभावत्थी नाणाईसु सइ जइज्जा ॥२३२॥

इस प्रकार—पूर्वप्रदर्शित युक्तिसंगत विचारके अनुसार—परिणामसे बन्धके सिद्ध होनेपर बाल अथवा वृद्ध यह इस प्रसंगमें स्तोक मात्र है—वे हिंसाकी हीनाधिकताके कारण नहीं हैं। कारण यह है कि बालकके वधमें भी कदाचित् वह तीव्र संक्लेश परिणाम न हो और कदाचित् वृद्धके वधमें वह तीव्र संक्लेश परिणाम हो सकता है। यह सब मारनेका विचार करनेवाले व्यक्तियोंके अभिप्राय विशेषपर निर्भर है ॥२२९॥

आगे प्रसंगानुरूप शंकाको उठाकर उसका समाधान किया जाता है—

इस प्रसंगमें यदि यह कहा जाये कि इस परिस्थितिमें परिणामके अभावमें—वधके संकल्पके बिना—वधके करनेपर भी बन्ध नहीं प्राप्त होता है—उसके अभावका प्रसंग प्राप्त होगा, इस शंकाके समाधानमें पूछा जाता है कि जीवघातके करनेपर तद्विषयक परिणाम (संकल्प) कैसे न रहेगा ? वह अवश्य रहनेवाला है। क्योंकि दुष्ट अभिप्राय बिना प्राणी कभी जीववधमें प्रवृत्त नहीं होता। और जब वैसा परिणाम रहेगा तब उसके रहते हुए वह बन्ध कैसे नहीं होगा ? अवश्य होगा ॥२३०॥

आगे प्रसंगप्राप्त दूसरी शंकाको उठाकर उसका भी निराकरण किया जाता है—

यदि यहाँ यह कहा जाये कि वध करनेवाला चूँकि अज्ञानतासे अथवा मिथ्यात्वके पोषक कुशास्त्रोंके चिन्तनसे उस वधमें प्रवृत्त होता है, अतः उसका उसमें परिणाम नहीं रहता है। इससे उसके बन्ध नहीं होना चाहिए। इसके उत्तरमें कहा गया है कि दोनों जगह—अज्ञानता या कुशास्त्रके विचारसे किये जानेवाले वधमें—जो अज्ञान है वही उस संसारपरम्पराके कारणभूत क्लिष्ट बन्धका कारण होता है ॥२३१॥

इसीलिए आगे ज्ञानके विषयमें प्रयत्नशील रहनेकी प्रेरणा की जाती है—

---

१. अ भावे हि बंधो त्ति पावती। २. अ कह ण विहे परिणामो तहावे कह ये णो बंधो।

यस्मादसौ वधपरिणामो अज्ञानाद्यपगमेन हेतुना न भवति, सति त्वज्ञानादौ भवत्येव, वस्तुनस्तस्यैव तद्रूपत्वात् । तस्मात्तदभावार्थी वधपरिणामाभावार्थी । ज्ञानादिषु सदा यतेत, तत्प्रतिपक्षत्वात् इति ॥२३२॥

एवं वस्तुस्थितिमभिधायाधुना परोपन्यस्तहेतोरनेकान्तिकत्वमुद्भावयति—

बहुतरकम्मोवक्कमभावो वेगंतिओ न जं केइ ।

बाला वि य थोवाऊ हवंति[1] वुड्ढा वि दीहाऊ ॥२३३॥

बहुतरकर्मोपक्रमभावोऽपि बालादि-वृद्धादिष्वेकान्तिको न । यद्यस्मात्केचन बाला अपि स्तोकायुषो भवन्ति वृद्धा अपि दीर्घायुषस्तथा लोके दर्शनादिति ॥२३३॥

तम्हा सव्वेसि चिय वहंमि पावं अपावभावेहिं ।

भणियमहिगाइभावो परिणामविसेसओ पायं ॥२३४॥

यस्मादेवं तस्मात् । सर्वेषामेव बालादीनां वधे पापमपापभावैर्वीतरागैर्भणितम् । अधिकादिभावस्तस्य पाप्मनः परिणामविशेषतः प्रायो भणित इति वर्तते[2] । प्रायोग्रहणं तपस्वीतरादिभेदसंग्रहार्थमिति ॥२३४॥

चूँकि जीववधका वह परिणाम उक्त अज्ञानादिके अभावमें नहीं होता है—किन्तु उक्त अज्ञानादिके रहते हुए ही होता है, इसीलिए जो जीववधके परिणामको नहीं चाहता है उसे निरन्तर ज्ञान आदि (समीचीन शास्त्रके अध्ययन आदि) में प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥२३२॥

आगे वादीके द्वारा निर्दिष्ट हेतुकी अनैकान्तिकताको प्रकट करते हैं—

बहुतर कर्मका उपक्रमपना ऐकान्तिक नहीं है—वह बाल आदिमें बहुतर और वृद्ध आदिमें हीनतर हो, ऐसा सर्वथा नियम नहीं है, क्योंकि कोई-कोई बालक भी अल्पायु होते हैं और वृद्ध भी दीर्घायु होते हैं ।

विवेचन—वादीने पूर्व (२२१)में यह कहा था कि बाल आदिके वधमें बहुतर कर्मका उपक्रम होनेसे अधिक पाप और वृद्ध आदिके वधमें वह हीन होता है । इसको दूषित करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि बाल आदिके वधमें बहुतर कर्मका ही उपक्रम हो, ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है । कारण इसका यह है कि कोई बालक भी अल्पायु और वृद्ध भी दीर्घायु देखे जाते हैं । अतः बाल आदिके वधमें अधिक पापकी सिद्धिमें जो बहुतर कर्मका उपक्रम रूप हेतु वादीके द्वारा प्रयुक्त किया गया था वह विपक्षमें भी सम्भव होनेसे अनैकान्तिक दोषसे दूषित है ॥२३३॥

अब प्रकृतवादका उपसंहार किया जाता है—

इसलिए पाप परिणामसे रहित (वीतराग) जिनदेवके द्वारा बाल व वृद्ध आदि सभी जीवोंके वधमें पाप कहा गया है । उस पापकी अधिकता आदि प्रायः परिणाम विशेषके अनुसार जानना चाहिए ।

विवेचन—बाल आदि वधमें कर्मका अधिक उपक्रम होनेसे अधिक और इसके विपरीत वृद्ध आदिके वधमें अल्प पाप होता है, इस मान्यताका निराकरण करते हुए यह कहा जा चुका है कि कर्मका बन्ध वधकर्ताके परिणाम विशेषके अनुसार होता है, न कि बाल-वृद्धादि अवस्था विशेषके आधारपर । इन सबका उपसंहार करते हुए यह कहा गया है कि वीतराग जिनेन्द्रने सभी जीवोंके वधमें पाप बतलाया है । इसमें जो अधिकता और हीनता होती है वह वधकर्ताके

---

१. अ थोआउ भवंति । २. अ 'भणित इति वर्तते प्रायो०' एतावान् पाठः स्खलितोऽस्ति ।

सांप्रतमन्यद्वावस्थानकम्—

संभवइ वहो जेसिं जुज्जइ तेसिं निवित्तिकरणं पि ।
आवडियाकरणंमि य सत्तिनिरोहा फलं तत्थ ॥२३५॥

संभवति वधो येषु कृमि-पिपीलिकादिषु । युज्यते तेषु निवृत्तिकरणमपि, विषयाप्रवृत्तेः । आपतिताकरणे च पर्युपस्थितानासेवने च सति । शक्तिनिरोधात्फलं तत्र, युज्यत इति वर्तते । अविषयशक्त्यभावयोस्तु कुतः फलमिति ॥२३५॥

तथा चाह—

नो अविसए पवित्ती तन्निवित्तिइ अचरणपाणिस्स ।
झसनायधम्मतुल्लं तत्थ फलमबहुमयं केइ ॥२३६॥

नोऽविषये नारकादौ । प्रवृत्तिर्वधक्रियायाः । ततश्च तन्निवृत्त्या अविषयप्रवृत्तिनिवृत्त्या । अचरणपाणेः छिन्नगोवुकरस्य झषज्ञातधर्मतुल्यं छिन्नगोवुकरस्य मत्स्यनाशे धर्म इत्येवं कल्पम् । तत्र निवृत्तौ । फलं अबहुमतं विदुषामश्लाघ्यं केचन मन्यन्त इत्येष पूर्वपक्षः ॥२३६॥

परिणाम विशेषके अनुसार हुआ करता है—यदि वधकर्ताका परिणाम अतिशय संक्लिष्ट है तो उसमे अधिक पाप होगा और उसका परिणाम मन्द सक्लशरूप है तो पाप कम होगा । गाथामें जो 'प्रायः' शब्दको ग्रहण किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि किसो तपस्वो अथवा लोकोपकारक गुणो पुरुषका वध किया जाता है तो उससे प्रचुर मात्रामें पापका बन्ध होनेवाला है और यदि किसी साधारण प्राणोका वध किया जाता है तो उस गुणी जनके वधको अपेक्षा इसमे कम पापका बन्ध होगा ॥२३४॥

आगे अन्य वादियोंके अभिमतको प्रकट किया जाता है—

किन्हीं वादियोंका कहना है कि जिन प्राणियोंका वध सम्भव है उनके वधविषयक निवृत्ति-का कराना योग्य है, क्योंकि आपातितके न करनेमें—उपस्थितका सेवन न करनेपर—शक्तिका निरोध होता है, अतः उसका वहाँ फल सम्भव है ॥२३५॥

आगे इसोका स्पष्टीकरण किया जाता है—

जो नारक व देव आदि वधके विषय नहीं हैं उनके वधमें चूंकि प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, अतएव उनके वधकी निवृत्तिसे सम्भाव्य फल हाथ-पाँवस रहित प्राणाके मछलोके वधको निवृत्तिसे होनेवाले धर्मके उदाहरणके समान बहुतोंको सम्मत नहीं है ।

विवेचन—किन्हीं वादियोंका अभिमत है जिन चींटा आदि क्षुद्र जन्तुओं अथवा हिरण व कबूतर आदि पशु-पक्षियोंके वधकी सम्भावना है उनके वधको निवृत्ति कराना उचित है । कारण यह कि उनके वधका अवसर प्राप्त होनेपर उस वधसे निवृत्त हुआ पुरुष अपनो उस वधशक्तिको रोककर उनके वधसे विमुख रहता है, अतः उसका फल उसे अवश्य प्राप्त होनेवाला है । किन्तु जो नारक व देव आदि उस वधके विषयभूत नहीं हैं उनके वधको निवृत्ति कराना उचित नहीं है, क्योंकि उनके वधकी निवृत्तिसे कुछ फलको प्राप्ति सम्भव नहीं है । इसका भी कारण यह है कि

---

१. अ संभवउ । २. अ किरणंमि य सत्त सत्तणिरोहा । ३. अ करणमविषयाप्रवृत्ते सपतिता । ४. अ णा अणविषये पवत्ती य मिव्वत्ती अचरण । ५. अ अचलनप्राणाः छिन्नगोदुरकरस्य । ६. अ छिन्नगोधुकरस्य मत्स्यमाशे मत्स्यनिवृत्तौ धम्मं इत्येवं फलं ।

अत्रोत्तरमाह—संभवति वधो येष्वित्युक्तं अथ कोऽयं संभव इति ?

किं ताव तव्वहु[1] च्चिय उयाहु[2] कालंतरेण वहणं तु[3] ।
किंवावहु त्ति किं वा सत्ती को संभवो एत्थ ॥२३७॥

किं तावत्तद्वध एव तेषां व्यापाद्यमानानां वधस्तद्वधः क्रियारूप एव । उताहो कालान्तरेण हननं जिघांसनमेव वा । किं अवधो[4] अव्यापादनमित्यर्थः । किं वा शक्तिः व्यापादकस्य व्यापाद्य-विषया । कः संभवोऽत्र प्रक्रम इति । सर्वेऽप्यमी पक्षा दुष्टाः ॥२३७॥

तथा चाह—

जइ ताव तव्वहु च्चिय अलं निवित्तिइ[5] अविसयाए उ ।
कालंतरवहणंमि वि किं तीए नियमभंगाओ ॥२३८॥

यदि तावत्तद्वध एव तेषां व्यापाद्यमानवधक्रियैव संभव इति । अत्र दोषमाह—अलं निवृत्त्या न किंचिद्वधनिवृत्त्याविषययेति हेतुः, 'निमित्त-कारण-हेतुषु सर्वासां प्रायो दर्शनम्' इति वचनात् । अविषयत्वं च वधक्रियाया एव संभवत्वात्, संभवे च सति निवृत्त्यभ्युपगमात्, ततश्च वधक्रिया-

---

उनका जब वध करना ही सम्भव नहीं है तब उसमें शक्तिके निरोधकी कल्पना ही नहीं होती। उदाहरणार्थ जो प्राणी हाथ और पाँवसे रहित है वह यदि मछलीके वधसे निवृत्त होकर उस अनिवृत्तिके फलकी अभिलाषा करता है तो जिस प्रकार यह हास्यास्पद है उसी प्रकार वधके विषयभूत नारकादिके वधको निवृत्तिसे फलकी प्राप्तिकी सम्भावना करना भी विद्वज्जनोंके लिए हास्यास्पद है। इस प्रकार कितने वादी अपने पूर्व पक्षको स्थापित करते है ॥२३५-२३६॥

आगे इस अभिमतका निराकरण करते हुए प्रथमतः 'सम्भव' शब्दसे वादीको क्या अभिप्रेत है, यह पूछते हैं—

जिनका वध सम्भव है, यह जो वादीके द्वारा कहा गया है उसमें 'सम्भव' से उसे क्या अभीष्ट है, इसमें चार विकल्प उठाये जाते हैं—क्या वध्य प्राणीका क्रियात्मक वध करना यह 'सम्भव' से अभीष्ट है, अथवा भविष्यमें उसका वध करना यह क्या 'सम्भव'का अर्थ है, अथवा वध न करना यह 'सम्भव' से अभिप्रेत है, अथवा वध्य प्राणीके वधविषयक शक्ति उस 'सम्भव' से इष्ट है, इस प्रकार वादीको 'सम्भव'से इन विकल्पोंमें कौन-सा विकल्प अभीष्ट है, यह प्रश्न यहाँ पूछा गया है ॥२३७॥

अब इन विकल्पोंको दूषित ठहराते हुए उनमेंसे प्रथम दो विकल्पोंमें दोष दिखलाते हैं—

यदि वादीको वध्य प्राणीका वध ही 'सम्भव'से अभीष्ट है तो विषयसे रहित उस निवृत्तिसे बस हो—वह तब निरर्थक सिद्ध होती है। कालान्तरमें वधरूप दूसरे विकल्पमें भी उस निवृत्तिसे क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? तब भी वह निरर्थक रहनेवाला है, क्योंकि वैसी परिस्थितिमें नियम भंग होनेवाला है ।

विवेचन—उपर्युक्त चार विकल्पोंमें वध्य प्राणीकी वधक्रियारूप प्रथम विकल्प तो नहीं बनता, क्योंकि वधक्रियाको सम्भव स्वीकार करनेपर उस वधको निवृत्तिका विषय ही कुछ नहीं रहता, अतः वह निरर्थक सिद्ध होती है। अभिप्राय यह है कि जिस वधकी निवृत्ति करायी जाती है वह वध तो पूर्वमें ही किया जा चुका, तब वैसी अवस्थामें उस वधकी निवृत्तिका प्रयोजन ही

---

१. अ तव्वहो । २. अ उदाहु । ३. अ वहं तु । ४. अ जिघांसनमेवा अवधो । ५. अ णिवत्तीए ।

नियमभावे अविषया[1] वधनिवृत्तिरिति । कालान्तरहननेऽपि नियमतः संभवेऽभ्युपगम्यमाने । किं तया निवृत्त्या ? न किंचिदित्यर्थः । कुत इत्याह—नियमभङ्गात् संभव एव सति निवृत्त्यभ्युपगमः, संभवश्च कालान्तरहननमेवेति नियमभङ्ग इति ॥२३८॥

चरमविकल्पद्वयाभिधित्सयाह—

अवहे वि नो पमाणं सुट्ठुयरं अविसओ य विसओ से ।
सत्ती उ कज्जगम्मा सइ तंमि किं पुणो तीए ॥२३९॥

अवधेऽपि न प्रमाणं यद्यवधः संभवः इत्यत्रापि प्रमाणं न ज्ञायते एतेषामस्मादवध इति । सुष्ठुतरं अतितराम् । अविषयश्च विषयः तेतस्या निवृत्तेः । अविषयत्वं तु तेषां वधासंभवात्, अवधस्यैव, संभवत्वात्, अस्मिंश्च सति निवृत्त्यभ्युपगमादिति । शक्तिस्तु कार्यगम्या वधशक्तिरपि संभवो न युज्यते, यतोऽसौ कार्यगम्यैवेति न वधमन्तरेण ज्ञायते । सति च तस्मिन्वधे किं पुनस्तया निवृत्त्या, तस्य संपादितत्वादेवेति ॥२३९॥

संभवमधिकृत्य पक्षान्तरमाह—

जज्जाईओ अ इओ तज्जाईएसु संभवो तस्स ।
तेसु सफला निवित्ती न जुत्तमेयं पि वभिचारा ॥२४०॥

क्या रह जाता है ? कुछ भी नहीं । इससे यदि सम्भवका अर्थ कालान्तरमें उस वध्य प्राणोका वध ही वादोको अभोष्ट हो तो वह भा उचित न होगा, क्योंकि कालान्तरमें वधके करनेपर पूर्वमें जो उस वधका नियम किया गया था वह नियमसे भंग हो जानेवाला है, क्योंकि वादीने भविष्यमें किये जानेवाले उस वधको ही सम्भव माना है ॥२३८॥

आगे अन्तिम दो विकल्पोंमें भी दोष दिखलाये जाते हैं—

तीसरे विकल्पभूत अवधमें कोई प्रमाण नहीं है, इस प्रकार जो वधका अतिशय अविषय है वही उस वधकी निवृत्तिका विषय ठहरता है । तब सम्भवसे यदि शक्तिको ग्रहण किया जाता है तो वह शक्ति तो कार्यसे जानी जा सकती है, इस प्रकार कार्य हो जानेपर उस निवृत्तिका प्रयोजन ही क्या रह जाता है ? कुछ भी नहीं ।

विवेचन—तीसरे विकल्पभूत सम्भवका अर्थ यदि अवध किया जाता है तो इसमें 'ये प्राणी अमुक प्राणीसे अवध्य हैं' इसका ज्ञान कैसे हो सकता है ? वह अशक्य है । इसके अतिरिक्त जिसके द्वारा जिनका वध नहीं हो सकता है उनके अवधको सम्भव स्वीकार करते हुए तदनुसार जो वधके विषय नहीं हैं वे ही उस वधनिवृत्तिके विषय ठहरते हैं । इस प्रकार इस तीसरे विकल्पमें अविषयको विषय करनेके कारण वह वधनिवृत्ति निष्फल ही सिद्ध होती है । तब अन्तिम विकल्पका आश्रय लेकर यदि सम्भव शब्दसे वधशक्तिको ग्रहण किया जाता है तो उस वधशक्तिका परिचय वधरूप कार्यसे ही हो सकता है । इस प्रकार उस शक्तिको ज्ञात करनेके लिए यदि वध ही कर दिया जाता है तो वैसी स्थितिमें उस वधकी निवृत्तिसे कुछ प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है । इस प्रकार विचार करनेपर जब 'सम्भव' का अर्थ ही घटित नहीं होता तब 'जिन प्राणियोंका वध सम्भव है उन्हींके वधकी निवृत्ति कराना चाहिए' यह जो वादीके द्वारा कहा गया है वह असंगत ही ठहरता है ॥२३७-२३९॥

इस प्रकार उक्त चार विकल्पोंमें सम्भवके घटित न होनेपर वादीके द्वारा स्थापित सम्भवके अन्य पक्षको दिखलाते हुए उसका निराकरण किया जाता है—

---

१. अ क्रियाद्दमभावे अपिविषया ।

यज्जातीय एव हतः स्यात् कृम्यादिस्तज्जातीयेषु संभवस्तस्य वधस्य। अतस्तेषु सफला निवृत्तिः, सविषयत्वादिति एतदाशङ्क्याह—न युक्तमेतदपि, व्यभिचारात् ॥२४०॥

व्यभिचारमेवाह—

वावाइज्जइ कोई हए वि मनुयंमि अन्नमणुएणं।
अहए वि य सीहाओ दीसइ वहणं पि वभिचारा ॥२४१॥

व्यापाद्यते कश्चिदेव हतेऽपि मनुष्ये सकृत् अन्यमनुष्येण, तथा लोके दर्शनात्। अतो यज्जातीयस्तु हतस्तज्जातीयेषु संभवस्तस्येति नैकान्तः, तेनैव अन्यमनुष्येणैव व्यापादनात्। तथा अहतेऽपि च सिंहादौ आजन्म दृश्यते हननं कादाचित्कमिति व्यभिचार इति ॥२४१॥

नियमो न संभवो इह हंतव्वा किं तु सत्तिमित्तं तु।
सा जेण कज्जगम्मा तयभावे किं न सेसेसु ॥२४२॥

जिस जातिका प्राणी मारा जा चुका है उस जातिके प्राणियोंमें उस वधकी सम्भावना है, अतः ऐसे प्राणियोंके वधकी निवृत्ति सफल ही रहती है। यह भी वादीका कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उसमें व्यभिचार (दोष) सम्भव है ॥२४०॥

आगे उसी व्यभिचारको दिखलाया जाता है—

मनुष्यके मारे जानेपर कोई प्राणी अन्य मनुष्यके द्वारा मारा जाता है। तथा सिंहादिके न मारे जानेपर भी उनका मारा जाना देखा जाता है, इससे इस पक्षमें व्यभिचार सम्भव है।

विवेचन—वादीका अभिप्राय यह है कि किसी मनुष्यके द्वारा एक मृगका वध करनेपर यह ज्ञात हो जाता है कि मृगजातिके सभी प्राणी मनुष्यके द्वारा वध्य हैं, अतः उसे मृगोंके वधकी जब निवृत्ति करायी जाती है तो वह सफल ही रहता है, ऐसी अवस्थामें उसे निष्फल कहना उचित नहीं, वादीके इस कथनमें यहाँ दोष दिखलाते हुए यह कहा गया है कि वादीका वैसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उसमें व्यभिचार (अनैकान्तिकता) देखा जाता है। जैसे—किसी सर्पने मनुष्यको डँस लिया, जिससे वह मरणको प्राप्त हो गया। इसे देखते हुए भी यह नियम नहीं बन सकता कि सर्प मनुष्य जातिके सभी प्राणियोंका वध कर सकता है, क्योंकि अन्य मनुष्यके द्वारा उस सर्पका भी मारा जाना देखा जाता है। इसके अतिरिक्त किसीने कभी सिंहका वध नहीं किया था, पर अन्तमें कभी उसके द्वारा सिंहका वध करते भी देखा जाता है। इससे यह नियम नहीं बन सकता कि सिंह मनुष्यके द्वारा अवध्य है। इस कारण वादीका यह कहना कि जिस जातिका प्राणी मारा गया है उस जातिके सभी प्राणी उसके द्वारा वध्य है, युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उस प्रकारके नियममें ऊपर दोष दिखलाया जा चुका है ॥२४०-२४१॥

आगे वादीके द्वारा प्रकट किये जानेवाले 'सम्भव'के अन्य अभिप्रायका भी निराकरण किया जाता है—

वादी कहता है कि उस जातिके सभी वध्य हैं, ऐसे नियमका नाम सम्भव नहीं है, किन्तु वधकी शक्ति मात्रका नाम सम्भव है। इस अभिप्रायका भी निराकरण करते हुए कहा गया है कि यह कहना भी योग्य नहीं है, क्योंकि वह शक्ति कार्यके होनेपर ही जानी जा सकती है। यदि कहो कि वधरूप कार्यके बिना भी उस शक्तिका बोध हो सकता है तो उस अवस्थामें शेष प्राणियों-

---

१. अ ति। २. अ केश्चित् हते पि मनुष्येण तथा।

नियमो न संभव इहावश्यंता[1] न संभव इहोच्यते, यतुत यज्जातीय एको हतस्तज्जातीयाः सर्वेऽपि हन्तव्याः, यज्जातीयस्तु न हतस्तज्जातीया न हन्तव्या एव। किन्तु शक्तिमात्रमेव तज्जातीयेतरेषु व्यापादनशक्तिमात्रमेव संभवः। तत्कथं बोधोऽनन्तरोदितो नैवेत्यभिप्राय इति एतदाशङ्क्याह—सा येन कार्यगम्येति सा शक्तिर्यस्मात्कार्यगम्या वर्तते अतो बोध इति, वधमन्तरेण तदपरिज्ञानात्। सति च तस्मिन् किं तयेत्यभिहितमेवैतत्। अथ सा कार्यमन्तरेणाप्यभ्युपगम्यते इति एतदाशङ्क्याह—तदभावे कार्याभावे। किं न शेषेषु सत्त्वेषु साभ्युपगम्यते ? तथा च सत्यविशेषत एव निवृत्तिसिद्धिरिति ॥२४२॥

स्यादेतन्न सर्वसत्त्वेषु सा अतो नाभ्युपगम्यत इति। आह च—

नारगदेवाईसुं असंभवा समयमाणसिद्धीओ।
इत्तु च्चिय तस्सिद्धी असुहासयवज्जणमदुट्ठा ॥२४३॥

नारक-देवादिष्वसंभवाद्व्यापादनशक्तेर्निरुपक्रमायुषस्त इति आदिशब्दाद्देवकुरुनिवास्यादिपरिग्रहः[2] कुत एतदिति चेत् समयमानसिद्धेरागमप्रामाण्यादिति। एतदाशङ्क्याह—अत एव

के विषयमें भी उस शक्तिकी सम्भावना क्यों नहीं हो सकती है ? उनके वधविषयक शक्तिकी भी सम्भावना की जा सकती है।

विवेचन—जिस जातिका एक प्राणी मारा गया है उस जातिके सब प्राणियोंके वधकी शक्ति है, इसे वादीने सम्भव बतलाया था, जिसका निराकरण करते हुए उसे व्यभिचरित ठहराया गया था। इस व्यभिचार दोषको असम्भव बतलाते हुए यहाँ वादी कहता है कि जिस जातिका प्राणी मारा गया है उस जातिके सभी प्राणी वध्य हैं तथा जिस जातिका प्राणी नहीं मारा गया है उस जातिके सब वध्य नहीं हैं, इस प्रकारके नियमको हम सम्भव नहीं कहते, जिसके आश्रयसे व्यभिचार दोष दिया गया है। किन्तु विवक्षित वधकके द्वारा जिस जातिका एक प्राणी मारा गया है उस जातिके सब प्राणियोंके वधविषयक शक्ति उसमें है। अतः उस शक्तिके निरोधके लिए उसे उनके वधकी निवृत्ति कराना उचित व सफल है। इससे जो पूर्वमें (२४०) व्यभिचार दोष दिया गया है वह दोष लागू नहीं होता। वादीके इस कथनको असंगत ठहराते हुए यहाँ पुनः यह कहा गया है कि उस शक्तिका बोध वधरूप कार्यके बिना नहीं हो सकता है। और यदि वधरूप कार्यके बिना भी उस शक्तिका परिज्ञान सम्भव है तो फिर विवक्षित जातिके अतिरिक्त अन्य प्राणियोंके वधविषयक शक्तिकी भी सम्भावना उसमें क्यों नहीं की जा सकती है ? उनके विषयमें भी वह सम्भव है। इसलिए सामान्यसे सभी प्राणियोंके वधविषयक निवृत्ति कराना चाहिए, न कि किसी विशेष जातिके ॥२४२॥

इसपर वादी पुनः कहता है—

नारक व देव आदिके विषयमें वधशक्ति सम्भव नहीं है, यह आगमप्रमाणसे सिद्ध है। इसके उत्तरमें कहा जाता है कि उस आगम प्रमाणसे तो समस्त प्राणियोंके वधकी निवृत्ति भी सिद्ध है। सामान्यसे की जानेवाली वधकी निवृत्तिमें चूंकि अशुभ अभिप्रायका परित्याग किया जाता है, इसीलिए वह निर्दोष है।

विवेचन—वादी कहता है कि जब नारक व देव आदिके वधकी शक्ति किसीमें नहीं है तब उनके भी वधकी निवृत्ति कराना असंगत है। उक्त नारक आदि किसीके द्वारा नहीं मारे जा

---

१. अ इहावस्यंता। २. अ °देवगुरुनिवास्या परिग्रहः।

समयमानसिद्धेः तत्सिद्धिः सर्वप्राणातिपातनिवृत्तिसिद्धिः "सव्वं भंते पाणाइवायं पच्चक्खामि" इत्यादिवचनप्रामाण्याद् । आगमस्याप्यविषयप्रवृत्तिर्दुष्टैवेति एतदाशङ्क्याह—अशुभाशयवर्जनमिति कृत्वा अदुष्टा तद्वधनिवृत्तिः, अन्तःकरणाविसंभवालंबनत्वाच्चेति वक्ष्यतीति ॥२४३॥

आवडियाकरणं पि हु न अप्पमायाओ नियमओ अन्नं ।
अन्नत्ते तब्भावे वि हंत विहला तई होइ ॥२४४॥

आपतिताकरणमपि पूर्वपक्षवाद्युपन्यस्तम् । नाप्रमादान्नियमतोऽन्यत्, अपि त्वप्रमाद एव तदिति । अन्यत्वेऽप्रमादादर्थान्तरत्वे आपतिताकरणस्य । तद्भावेऽप्यप्रमादभावेऽपि हंत विफलासौ निवृत्तिर्भवति, इष्यते चाविप्रतिपत्त्या अप्रमत्ततायां फलमिति ॥२४४॥

सकते हैं, यह आगमप्रमाणसे सिद्ध है, क्योंकि परमागममें उन्हें निरुपक्रमायुष्क कहा गया है। वादीके इस अभिमतका निराकरण करते हुए यहां यह भी कहा गया है कि जिस आगममें उक्त देव-नारक आदिको निरुपक्रमायुष्क कहा गया है उसी आगममें समस्त प्राणियोंके वधके प्रत्याख्यानको भी विधेय कहा गया है। तदनुसार सामान्य सब ही प्राणियोंके वधकी निवृत्तिको क्यों न उचित माना जाये ? उसे ही उचित मानना चाहिए। इसपर वादी पुनः यह कहता है कि आगमकी इस अविषय प्रवृत्तिको निर्दोष नहीं कहा जा सकता। इसको लक्ष्यमें रखकर यहां कहा गया है कि सब प्राणियोंका वध सम्भव हो या न भी हो तो भी सामान्यसे समस्त प्राणियोंके वधकी निवृत्तिको स्वीकार करनेपर प्रत्याख्यान करनेवालेका अभिप्राय निर्मल रहता है, अतः समस्त प्राणियोंके ही वधविषयक निवृत्तिको उचित माना गया है ॥२४३॥

आगे वादीके द्वारा जिस आपतिताकरणका पूर्वमें (२३५) निर्देश किया गया है उसका यथार्थ अभिप्राय क्या है, यह दिखलाते हैं—

आपतितका अकरण—वधकी निवृत्तिके स्वीकार करनेपर वधविषयक शक्तिके होते हुए भी अवसर प्राप्त होनेपर उसे न करना –भी अप्रमादसे कुछ भिन्न नहीं है, किन्तु वह अप्रमाद (प्रमादके अभाव) स्वरूप ही है। यदि ऐसा न मानकर उक्त आपतितके अकरणको उससे (प्रमादके अभावसे) भिन्न माना जाता है तो आपतितके न करनेपर भी खेद है कि वह निवृत्ति निष्फल हो रहनेवाली है।

विवेचन—वादीने अपने पक्षको स्थापित करते हुए यह कहा था कि जिन प्राणियोंका वध किया जा सकता है उन्हींके वधकी निवृत्ति करना योग्य है, क्योंकि तब निवृत्तिको स्वीकार करनेवाला आपतितके अकरणमें—उपस्थित वध्य प्राणीके वधका अवसर प्राप्त होनेपर भी वह अपनी वधविषयक उस शक्तिको रोककर उसका वध नहीं करता है। इसलिए यहां उस वधकी निवृत्तिकी सफलता देखी है। पर जिन नारक और देवादिका वध शक्य ही नहीं है उनके वधकी निवृत्तिका कुछ फल सम्भव नहीं है, क्योंकि वहां उस अविद्यमान शक्तिका निरोध सम्भव नहीं है। इस प्रकार वादीने जिस आपतिताकरणको सम्भवका अर्थ प्रकट किया था उसके यथार्थ अभिप्रायको व्यक्त करते हुए सिद्धान्त पक्षकी ओरसे कहा गया है कि उपर्युक्त आपतिताकरण अप्रमादसे कुछ भिन्न नहीं है, किन्तु वह उस अप्रमाद—प्रमादके अभावस्वरूप ही है। इसके विपरीत यदि उसे अप्रमादसे भिन्न-प्रमादस्वरूप माना जाता है तो उस आपतिताकरणके होते हुए भी उस निवृत्तिका कुछ फल सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रमादके रहनेपर किया जानेवाला

---

१. अ °भावे हित।

अह परपीडाकरणे ईसिंवहसत्तिविप्फुरणभावे ।
जो तीइ निरोहो खलु आवडियाकरणमेयं तु ॥२४५॥

अथैवं मन्येत परः—परपीडाकरणे व्यापाद्यपीडासंपादने सति । ईषद्वधशक्तिविस्फुरणभावे व्यापादकस्य मनाग्वधसामर्थ्यविजृंभणसत्तायां सत्याम् । यस्तस्याः शक्तेर्निरोधो दुष्करतरं[1] आपतिताकरणमेतदेवेति एतदाशङ्क्याह ॥२४५॥

विहिउत्तरमेवेयं अणेण सत्ती उ[2] कज्जगम्मत्ति ।
विप्फुरणं पि हु तीए बुहाण नो बहुमयं लोए ॥२४६॥

विहितोत्तरमेवेदम् । केनेति अत्राह—अनेन शक्तिस्तु कार्यगम्येति । विस्फुरणमपि तस्याः शक्तेर्बुधानां न बहुमतं लोके मरणाभावेऽपि परपीडाकरणे बन्धादिति ॥२४६॥

एवं च जानिवित्ती सा चेव वहोऽहवावि[3] वहहेऊ ।
विसओ वि सु च्चिय फुडं अणुबंधा होइ नायव्वा ॥२४७॥

कोई भी प्रत्याख्यान सफल नहीं हो सकता । इस प्रकार वह अप्रमादभाव जिस प्रकार शक्य वधवाले प्राणियोंके विषयमें रह सकता है उसी प्रकार अशक्य वधवाले प्राणियोंके विषयमें भी वह सम्भव है। अतएव सामान्यसे समस्त प्राणियोंके वधविषयक निवृत्ति ही उचित ठहरती है ॥२४४॥

आगे वादी प्रकारान्तरसे उस आपतिताकरणके अभिप्रायको व्यक्त करता है—

वह कहता है कि वधके योग्य अन्य प्राणीको पीड़ित करनेपर जिस वधविषयक उस शक्तिका कुछ परिचय प्राप्त होता है उस शक्तिको रोकना—उसका वध न करना, यही निश्चयसे वह आपतिताकरण है । इस प्रकार वादीकी ओरसे यह शंका की गयी है ।

विवेचन—वधक किसी जातिके एक प्राणीको जो पीड़ा पहुँचाता है उससे उस जातिके समस्त प्राणियोंके वधविषयक शक्तिका परिचय वधक्रियाके न करनेपर भी प्राप्त हो जाता है। अवसर प्राप्त होनेपर इस शक्तिको रोकना, यही उस आपतिताकरणका अभिप्राय है। तदनुसार पूर्वोक्त दोषकी सम्भावना नहीं रहती ॥२४५॥

इस अभिप्रायका निराकरण करते हुए यहाँ यह कहा जाता है—

'वह शक्ति वधरूप कार्यसे ही जानी जा सकती है' यह जो पूर्वमें (२४२) कहा जा चुका है उसीसे इसका उत्तर हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्राणीको पीड़ा पहुँचाकर जो उस शक्तिके विकासका परिचय पाना है वह भी लोकमें विद्वज्जनको बहुमत नहीं है, किन्तु घृणास्पद ही है; किन्तु मारनेके बिना भी जो प्राणीको पीड़ा पहुँचायी जाती है उससे भी संक्लेशके कारण कर्मका बन्ध होनेवाला ही है ॥२४६॥

अब इस प्रकरणका उपसंहार किया जाता है—

इस प्रकार—उपर्युक्त व्यवस्थाके अनुसार जो वधसे अनिवृत्ति है वही वध अथवा वधका हेतु है, वधका विषय भी स्पष्टतया वही अनिवृत्ति है, क्योंकि वधकी निवृत्तिके न होनेपर उसकी प्रवृत्तिका सम्बन्ध बना ही रहता है।

---

१. अ दुःकरतर । २. अ सत्तो ए । ३. अ °त्ती सव्वे वहो हवावि ।

एवं च व्यवस्थिते सति । या अनिवृत्तिः सैव वधो निश्चयतः, प्रमादरूपत्वात् । अथवापि वधहेतुरनिवृत्तितो वधप्रवृत्तेः । विषयोऽपि वस्तुतो गोचरोऽपि सैवानिवृत्तिर्वधस्य । स्फुटं व्यक्तम् । अनुबंधात्प्रवृत्त्यध्यवसायानुपरमलक्षणाद्भवति ज्ञातव्या अस्या एव वधसाधकत्वप्राधान्यख्यापनार्थं हेतुविषयाभिधानमदुष्टमेवेति ॥२४७॥

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह—

हिंसाइपायगाओ अप्पडिविरयस्स अत्थि अणुबंधो[1] ।
अत्तो[2] अणिवित्तीओ[3] कुलाइवेरं व नियमेण ॥२४८॥

हिंसादिपातकादादिशब्दात् मृषावादादिपरिग्रहः । अप्रतिविरतस्यानिवृत्तस्यास्त्यनुबन्धः प्रवृत्त्यध्यवसायानुपरमलक्षणः[4] । उपपत्तिमाह—अत एवानिवृत्तेः प्रवृत्तेः कुलादिवैरवन्नियमेनावश्यंतयेति ॥२४८॥

दृष्टान्तं व्याचिख्यासुराह—

जेसि मिहो कुलवेरं अप्पडिविरईउ तेसिमन्नोन्नं ।
वहकिरियाभावंमि वि न तं सयं चेवं[5] उवसमइ ॥२४९॥

विवेचन—यहाँ वधकी निवृत्तिको आवश्यक बतलाते हुए सर्वप्रथम उस वधविषयक अनिवृत्ति—उसके प्रत्याख्यान न करने—को ही वध कहा गया है। कारण इसका यह है कि जब-तक जीव वधकी निवृत्तिको स्वीकार नहीं करता तबतक प्रमाद बना ही रहता है, और जबतक प्रमाद है तबतक तज्जन्य कर्मका बन्ध भी सम्भव है। यही कारण है जो जन्तुपीड़ाके परिहारमें सदा सावधान रहनेवाले साधुके गमनागमनादि रूप प्रवृत्तिमें प्राणिपीड़ाके सम्भव होनेपर भी उसके अहिंसा महाव्रतमें कोई दोष नहीं लगता। इसीसे उसके प्रमादजनित बन्ध भी नहीं होता है। आगे चलकर वधकी अनिवृत्तिको उस वधका कारण भी कहा गया है। इसका भी कारण यह है कि जबतक उस वधकी निवृत्तिको स्वीकार नहीं किया जाता तबतक उसका परिहार सम्भव नहीं है—तदनुरूप परिस्थितिके निर्मित होनेपर वह वधमें प्रवृत्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त चूँकि उसकी निवृत्तिके बिना वधविषयक संकल्पका अन्त होता नहीं है, अतएव उस वधविषयक अनिवृत्तिको वधका विषय भी बतलाया गया है। इस प्रकार जब यह वधविषयक अनिवृत्ति स्वयं वधस्वरूप, वधकी कारण और उस वधकी विषय भी है तब उस वधकी निवृत्ति-को आवश्यक और कल्याण करनेवाली समझना चाहिए ॥२४७॥

आगे इसीका समर्थन करते हैं—

जो हिंसा व असत्यभाषण आदि पापोंसे विरत नहीं है उसके इस अनिवृत्तिसे कुलादि वैरके समान तद्विषयक अनुबन्ध—उससे सम्बन्ध रखनेवाली प्रवृत्तिके परिणामसे अविरक्ति—नियमसे बनी ही रहती है ॥२४८॥

आगे उक्त दृष्टान्तको स्पष्ट किया जाता है—

जिन मनुष्योंमें परस्पर कौटुम्बिक वैर रहता है उनके मध्यमें परस्पर वधरूप कार्यके न होनेपर भी वधक्रियासे निवृत्त न होनेके कारण वह वैरभाव स्वयं उपशान्त नहीं होता।

---

१. अ हिंसाएपाएगाउ अप्पडि° । २. अ एत्तो । ३. अ अणिवत्तीओ । ४. विरतअत्थिअणुबंधोस्या-प्रवृत्त्यध्यवसाया° । ५. अ वि णियवंस चेव ।

येषां पुरुषाणाम्। मिथः परस्परम्। कुलवैरमन्वयासंखटम्। अप्रतिविरतेः कारणात्। तेषाम् ,अन्योन्यं परस्परम्। वधक्रियाभावेऽपि सति न तत्स्वयमेवोपशाम्यति किं तूपशमितं सदिति ॥२४९॥

तत्तो य तन्निमित्तं इह बंधणमाइ जह[1] तहा बंधो।
सव्वेसु नाभिसंधी जइ तेसुं[2] तस्स तो नत्थि ॥२५०॥

ततश्च तस्मादनुपशमात्। तन्निमित्तं वैरनिबन्धनमिह बन्धनादि बन्धवधादि यथा भवति तेषां तथेतरेषामनिवृत्तानां तन्निबन्धनो बन्ध इति। अत्राह—सर्वेषु प्राणिषु। नाभिसंधि-

---

विवेचन—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार परस्पर वैरके वशीभूत हुए दो कुटुम्बोंमें एक दूसरेका घात तो करना चाहते हैं, पर तदनुकूल अवसर न मिलनेसे उनमें कोई किसीका घात नहीं कर पाता है। फिर भी जबतक उनका वह वैरभाव शान्त नहीं हो जाता है तबतक वे एक दूसरेके अनिष्टका चिन्तन किया ही करते हैं। इससे वे निरन्तर संक्लिष्ट परिणामके वशीभूत होनेसे पाप कर्मको बाँधते ही रहते हैं। ठीक इसी प्रकारसे गृहस्थ जबतक हिंसादि पापोंका परित्याग नहीं करता है तबतक वह उनसे निवृत्त न होनेके कारण समय आनेपर वह हिंसादि पापोंमें प्रवृत्त भी हो सकता है। अतः कर्मबन्धक कारणभूत संक्लेश परिणामसे बचनेके लिए उन हिंसादि पापोंका प्रत्याख्यान करना ही श्रेयस्कर है। प्राणीके प्राणोंका विघात करना ही हिंसा नहीं है, किन्तु जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है उसके विषयमें राग-द्वेषादि रूप परिणामोंका बना रहना ही वस्तुतः हिंसाका लक्षण है। आचार्य अमृतचन्द्रने अहिंसा और हिंसाका लक्षण इसी प्रकारका निर्दिष्ट किया है। यथा—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ पु. सि, ४४ ॥

अर्थात् राग-द्वेषादि परिणामोंके उत्पन्न न होने देनेका नाम अहिंसा और उन्हींकी उत्पत्तिका नाम हिंसा है। संक्षेपमें यह परमागमका रहस्य है ॥२४९॥

आगे उस कुलादि वैरका क्या परिणाम होता है, इसे स्पष्ट करते हुए वादीके द्वारा फिरसे की गयी शंकाको व्यक्त करते हैं—

उक्त कुलादि वैरके स्वयं शान्त न होनेसे उसके निमित्तसे यहाँ जिस प्रकार उनके वध-बन्धन आदि होते हैं उसी प्रकार पापकी निवृत्तिसे रहित जीवोंके संक्लेश परिणामके निमित्तसे कर्मका बन्ध हुआ करता है। यहाँ वादी पुनः आशंका करता है कि जिस प्रकार जिन दो कुलोंमें वैरभाव होता है उन्हींके मध्यमें परस्पर दुष्ट अभिप्राय रहता है, न कि सभी जीवोंके विषयमें, अतः उतने मात्रके आश्रय ही उनके बन्ध सम्भव है। इसी प्रकार प्रत्याख्यान करनेवाले जीवके भी समस्त प्राणियोंके आश्रयसे बन्ध नहीं होता है, किन्तु वध करने योग्य जिन प्राणियोंके वध-विषयक निवृत्ति नहीं की गयी है मात्र उनके आश्रयसे ही बन्ध सम्भव है।

विवेचन—यहाँ ऊपर दिये गये कुलवैरके आश्रयसे वादी अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहता है कि जिस कुलके मनुष्योंसे दूसरे कुलके मनुष्योंमें वैरभाव है वे केवल उसी कुलके मनुष्यों-

---

१. अ तन्निमित्तो वहबंधणमाति जह। २. अ एसिं। ३. अ °मिह बंधवधादियथा भवति तथा (अतोऽग्रेऽत्र पूर्वगाथा २४९ गत 'वधकिरियाभावंमि' इत्यादिसंदर्भोऽग्रिमगाथा २५० गत 'सव्वेसु नामि' पर्यन्तः पुनर्लिखितोऽस्ति। तदग्रे च 'किंतु' लिखित्वा 'वैरिक्षेत्रनिवासिनामेव' प्रभृतिरग्रिमसंदर्भो लिखितोऽस्ति।

र्थापादनपरिणामः। यथा तेषु इंगनिवासिषु वैरवत इति। तस्य प्रत्याख्यातुस्ततो नास्ति बन्धः इति। तथाहि—तेऽपि न यथादर्शनमेव प्राणिनां बन्धादि कुर्वन्ति, किंतु वैरिइंगनिवासिनामेव। एवं प्रत्याख्यातुरपि न सर्वेषु वधाभिसंधिरिति तद्विषये बन्धाभाव इति ॥२५०॥

एतदाशङ्क्याह—

अत्थि च्चिय अभिसंधी अविसेसपवित्तिओ जहा तेसु।
अपवित्ती य विणिवित्तीओ उ तेसिं व दोसो उ ॥२५१॥

अस्त्येवाभिसंधिरनन्तरोदितलक्षणः सर्वेषु। कुतोऽविशेषप्रवृत्तितः सामान्येन वधप्रवृत्तेः। यथा तेषु रिपुइंग निवासिषु वैरवतः। ततश्चाप्रवृत्तावपि वधे अनिवृत्तिज एव तेषामिव वैरवतां दोष एवमनिवृत्तस्य गर्भार्थो भावित एवेति ॥२५१॥

अदृष्टान्त एवायम्, सर्वसत्त्वैर्वैरासंभवादिति आशङ्क्याह—

सव्वेसिं विराहणओ परिभोगाओ य हंत वेराई।
सिद्धा अणाइनिहणो जं ससारो विचित्तो य ॥२५२॥

सर्वेषां प्राणिनाम्। विराधनात्तेन तेन प्रकारेण परिभोगाच्च स्रक्चन्दनोपकरणत्वेन। हन्त वैरादयः सिद्धाः हंत संप्रेषणे[2] स्थानान्तरप्रापणे सति वैरोन्मापकादयः कूटयन्त्रकादयः

के मारण-ताड़न आदिका अभिप्राय रखते हैं, न कि विश्वके सभी प्राणियोंके विषयमें। इसलिए केवल उनके निमित्तसे ही उनमें कर्मका बन्ध सम्भव है, न कि समस्त प्राणियोंके निमित्तसे। इसी प्रकारसे विशेष रूपसे शक्य वधवाले प्राणियोंके वधकी निवृत्तिको स्वीकार करनेवालेका दुष्ट अभिप्राय जब अशक्य वधवाले अन्य समस्त प्राणियोंके विषयमें नहीं रहता है तब उनके निमित्तसे उसके कर्मका बन्ध क्यों होगा ? वह नहीं होना चाहिए ॥२५०॥

आगे वादीकी इस शंकाका उत्तर दिया जाता है—

सामान्यसे सब जीवोंके वधके विषयमें निवृत्तिको स्वीकार न करनेवाले मनुष्यका वधविषयक अभिप्राय रहता ही है, क्योंकि वह सामान्यसे प्रवृत्ति करता है। जिस प्रकार कुलवैरवालेका अभिप्राय सामान्यसे उस कुलमें वर्तमान सभी मनुष्योंके वध-बन्धनादि-विषयक रहा करता है। इस प्रकार सबके वधमें प्रवृत्त न होनेपर भी उसके अनिवृत्तिजनित दोष होता ही है ॥२५१॥

कुलवैरका जो दृष्टान्त दिया गया है वह वस्तुतः दृष्टान्त नहीं है क्योंकि कुलवैरवालोंका विश्वके सब प्राणियोंसे वैर सम्भव नहीं है, वादीकी इस आशंकाको हृदयंगम कर आगे यह कहा जाता है—

सभी जीवोंकी विराधना करनेके कारण तथा माला व चन्दन आदि सबका उपभोग करनेके कारण सबके साथ वैर आदि सिद्ध है, क्योंकि संसार अनादि-निधन व विचित्र है।

विवेचन—वादीकी उक्त शंकाको हृदयंगम कर यहाँ यह कहा गया है कि संसार चूँकि अनादि व अनन्त है, अतएव वह इस संसार परम्परामें व्यक्ति जब तब जिस किसीके वध-बन्धनादिका विचार कर सकता है। इससे वैर-विरोधादिको असम्भव नहीं कहा जा सकता है। इसके

---

१. अ य विणिवित्तीओ उ। २. अ हते संप्रवणो।

प्रतिष्ठिताः सर्वसत्त्वविषया इति। उपपत्त्यन्तरमाह—अनादिनिधनो यत्संसारो विचित्रश्चातो युज्यते सर्वमेतदिति ॥२५२॥

उपसंहरन्नाह—

ता वंधमणिच्छंतो कुज्जा सावज्जजोगविनिविर्त्ति।
अविसयअनिवित्तीए सुहभावा दढयरं स भवे ॥२५३॥

यस्मादेवं तस्मात्। बन्धमनिच्छन्नात्मनः कर्मणाम्। कुर्यात्सावद्ययोगनिवृत्तिमोघतः सपापव्यापारनिवृत्तिमित्यर्थः। अविषयानिवृत्त्या नारकादिवधाभावेऽपि तदनिवृत्त्या। अशुभभावाद-विषयेऽपि वधविरतिं न करोतीत्यशुभो भावस्तस्मात्। दृढतरं सुतरां स भवेद्बन्धो भावप्रधान-त्वात्तस्येति ॥२५३॥

इत्तो य इमा जुत्ता जोगतिगनिबंधणा पवित्तीओ[1]।
जं ता इमीइ विसओ सव्वु च्चिय होई विन्नेओ ॥२५४॥

इतश्चेयं निवृत्तिर्युक्ता। योगत्रिकनिबन्धना मनोवाक्काययोगपूर्विका प्रवृत्तिर्यद्यस्मादस्या

अतिरिक्त उपभोगमें भी वह जीवोंको विराधना कर सकता है तथा कूटयन्त्र (पशु-पक्षियोंको पकड़नेके लिए मांस आदिसे संलग्न यन्त्रविशेष आदिको प्रतिष्ठित कर प्राणियोंको पीड़ित किया जा सकता है। इस कारण सामान्यसे सर्वसावद्यसे की जानेवाली निवृत्ति ही संगत व उपयोगी सिद्ध होती है ॥२५२॥

अब इसका उपसंहार किया जाता है—

इस कारण जो आत्महितैषी बन्धकी इच्छा नहीं करता है उसे सामान्यसे समस्त सावद्य योगसे निवृत्ति करना चाहिए। कारण यह है कि जो नारक-देवादि वधके विषय नहीं हैं उनके वधविषयक अनिवृत्तिसे होनेवाले अशुभ परिणामसे वह दृढ़तर कर्मबन्ध होनेवाला है।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि कुछ नारक व देव आदि निरुपक्रमायुष्क जीव भले ही उस वधके विषय न हों, फिर उनके वधको निवृत्ति न करनेसे परिणामोंमें कलुषता सम्भव है, जो दृढ़ कर्मबन्धकी कारण हो सकती है, क्योंकि कर्मबन्धका कारण जीवका परिणाम है जो वध्य-अवध्य सभी प्राणीके विषयमें सम्भव है। समस्त प्राणियोंके वधविषयक निवृत्तिको स्वीकार न करना, यह प्राणीकी आत्मदुर्बलता ही समझी जायेगी जो अशुभाशयसे भिन्न नहीं हो सकती। सामान्यसे वधका प्रत्याख्यान करनेपर जिन प्राणियोंका वध सम्भव नहीं उनके विषयमें तो और भी निर्मल परिणाम रह सकते हैं। इसलिए कर्मबन्धके अनिच्छुक भव्य जीवको सामान्यसे हिंसादिरूप समस्त ही सावद्य परित्याग करना उचित है ॥२५३॥

आगे सामान्यसे की जानेवाली वधनिवृत्तिका अन्य कारण भी बतलाते हैं—

चूँकि जीवकी प्रवृत्ति मन, वचन और कायरूप तीनों योगोंके कारणसे हुआ करती है, इसलिए भी सामान्यसे वधकी निवृत्ति करना योग्य है। इस प्रकार जब कि उस अनिवृत्तिका विषय सभी है तब निवृत्तिका विषय भी सब ही समझना चाहिए।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि जीवकी जो प्राणिवधादिमें प्रवृत्ति होती है वह मन, वचन व काय इन तीनों योगोंके आश्रयसे हुआ करती है। इसलिए जिन नारक आदिका वध कायसे

---

१. अ पवित्तीए।

अनिवृत्तेर्विषयः। सर्व एव भवति विज्ञेयः। पाठान्तरं योगत्रिकनिबन्धना निवृत्तिर्यस्मात्संगतार्थमेवेति ॥२५४॥

तथा चाह—

> किं चिंतेइ न मणसा किं वायाए न जंपए पावं।
> न य इत्तो वि न बंधो ता विरई[2] सव्वहा कुज्जा ॥२५५॥

किं चिन्तयति न मनसा, अनिरुद्धत्वात्सर्वत्राप्रतिहतत्वात् तस्य। किं वाचा न जल्पति पापम्, तस्या अपि प्रायोऽनिरुद्धत्वादिति। न चातोऽपि योगद्वयव्यापारान्न बन्धः, किं तु बन्ध एव। यस्मादेवं तत्तस्माद्विरतिं सर्वथा कुर्यात् अविशेषेण कुर्यादित्यर्थः ॥२५५॥

> एवं मिच्छादंसणवियप्पवसओऽसमंजसं केई।
> जंपंति जं पि अन्नं तं पि असारं मुणेयव्वं ॥२५६॥

एवमुक्तप्रकारम्। मिथ्यादर्शनविकल्पसामर्थ्येन। असमंजसमघटमानकम्। केचन कुवादिनो जल्पन्ति यद्यप्यन्यत्किंचित्तदप्यसारं मुणितव्यमुक्तन्यायानुसारत एवेति ॥२५६॥

उक्तमानुषङ्गिकम्, अधुना प्रकृतमाह—

> पडिवज्जिऊण य वयं तस्सइयारे जहाविहिं नाउं।
> संपुन्नपालणट्ठा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥२५७॥

सम्भव नहीं है उनका वह वध मन व वचनसे सम्भव है—मनसे उनके वधका चिन्तन किया जा सकता है तथा वचनसे वैसा सम्भाषण भी किया जा सकता है। अतएव सामान्यसे सब ही प्राणियोंके वधकी निवृत्ति करना योग्य है, ऐसा करनेसे परिणामोंमें निर्मलता अधिक ही रहनेवाली है। इस गाथामें टीकाकारके अनुसार 'पवित्तोओ' के स्थानमें 'निवित्तोओ' पाठान्तर भी पाया जाता है। तदनुसार गाथाका अभिप्राय यह होगा—निवृत्ति चूँकि तीनों योगोंके आश्रयसे हुआ करती है, इसलिए उसका विषय जब सब ही होती है तब नारक, देवादिके उस वधके विषय न होनेपर भी सामान्यसे सब ही प्राणियोंके वधकी निवृत्ति करना योग्य है ॥२५४॥

आगे इसे ही स्पष्ट किया जाता है—

जीव क्या मनसे पापका विचार नहीं करता है? करता ही है, क्योंकि उसकी सर्वत्र है। तथा वह क्या पापयुक्त भाषण नहीं करता है? उसे भी वह करता है, क्योंकि उसे भी प्रायः रोका नहीं जा सकता है। तब वैसी परिस्थितिमें उन दोनोंके निमित्तसे बन्ध न होता हो, यह भी सम्भव नहीं है—उन दोनोंके निमित्तसे कर्मका बन्ध अवश्य होनेवाला है। इसलिए विरति—सावद्य योगका प्रत्याख्यान—सर्वथा (सामान्यसे) करना योग्य है ॥२५५॥

इस प्रकार यहाँ कुछ वादियोंके अभिमतको दिखलाकर उसका निराकरण करते हुए अब उसका उपसंहार किया जाता है—

इस प्रकार मिथ्यादर्शनजनित विचारके वश कितने वादी अन्य जो कुछ भी असमंजस—युक्ति व आगमसे असंगत—कथन करते हैं उसे भी निःसार समझना चाहिए ॥२५६॥

इस प्रकार आनुसंगिक चर्चा करके अब प्रकृत विषयका विचार करते हैं—

---

२. अ विरति।

प्रतिपद्य चाङ्गीकृत्य च व्रतम् । तस्य व्रतस्यातिचारा अतिक्रमणहेतवो यथाविधि यथाप्रकारम् । ज्ञात्वा परिहर्तव्याः सर्वैः प्रकारैर्वर्जनीयाः प्रयत्नेनेति योगः । किमर्थम् ? संपूर्ण-पालनार्थम् । न ह्यतिचारवतः संपूर्णा तत्पालना, तद्भावे तत्खंडनादिप्रसंगादिति ॥२५७॥

तथा चाह—

[1]बंधवहछविच्छेए अइभारे भत्तपाणवुच्छेए ।
कोहाइदूसियमणो गो-मणुयाईण नो कुज्जा ॥२५८॥

तत्र बन्धनं बन्धः संयमनं रज्जु-दामनकादिभिः । १ । हननं वधस्ताडनं कशादिभिः[2] । २ । छविः शरीरम्, तस्य छेदः पाटनं करपत्रादिः । ३ । भरणं भारः, अतिभरणं अतिभारः, प्रभूतस्य पूगफलादेः स्कन्धपृष्ठारोपणमित्यर्थः । ४ । भक्तमशनमोदनादि, पानं पेयमुदकादि, तस्य व्यवच्छेदो निरोधः, अदानमित्यर्थः । ५ । एतान् समाचरन्नतिचरति प्रथमाणु व्रतम् । एतान् क्रोधादि-दूषितमना न कुर्यादिति अनेनापवादमाह—अन्यथाकरणेऽप्रतिषेधावगमात् ।

तदत्रायं पूर्वाचार्योक्तविधिः—बंधो दुविहो दुपयाणं चउप्पयाणं च अट्ठाए अणट्ठाए य । अणट्ठाए न वट्टए बंधिउं । अट्ठाए दुविहो सावेक्खो निरवेक्खो य । निरवेक्खो निच्चलं धणियं जं बंधइ, सावेक्खो जं दामगंठिणा, जं च सक्केइ पलिवणगाविसु मुंचिउं छिंदिउं वा । ण संसरपासएणं बंधेयव्वं । एयं ताव चउप्पयाणं । दुपयाणंपि दासो दासी वा चोरो वा, पुत्तो वा ण पढंतगाइ जइ बज्झंति तो सावेक्खा बंधेयव्वा रक्खियव्वा य जहा अग्गिभयाविसु ण विणस्संति । ताणि किर दुपय-चउप्पयाणि सावगेणं गेह्लियव्वाणि जाणि अबद्धाणि चेव अच्छंति । वहो वि तह चेव । वहो

व्रतको स्वीकार करके और आगमोक्त विधिके अनुसार उसके अतिचारोंको जानकर स्वीकृत व्रतके पूर्णतया परिपालनके लिए प्रयत्नपूर्वक उन अतिचारोंका परित्याग करना चाहिए ।

विवेचन—स्वीकृत व्रतके देशतः भंग होनेका नाम अतिचार है । जिस व्रतको स्वीकार किया है आगमोक्त विधिके अनुसार उसका पूर्णतया निर्दोष परिपालनके लिए व्रतको भंग करने-वाले अतिचारोंको जानकर उनका सर्वथा परित्याग करना उचित है ॥२५७॥

अब प्रकृतस्थूलप्राणिवधविरति नामक प्रथम अणुव्रतके अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

प्रथम अणुव्रतका धारक श्रावक क्रोधादि कषायोंसे मनको कलुषित कर गाय आदि पशुओं और मनुष्यों आदिका बन्ध, वध, छविछेद, अतिभार और भक्त-पानव्युच्छेद न करे ।

विवेचन—प्रकृत गाथामें अवसरप्राप्त उस स्थूलप्राणातिपात अणुव्रतको मलिन करनेवाले पाँच अतिचारोंके परित्यागकी प्रेरणा करते हुए उनके नामोंका निर्देश किया गया है । (१) उनमें प्रथम अतिचार बन्ध है । बन्धका अर्थ है गाय-भैंस आदि पशुओं और मनुष्योंको रस्सी आदिसे बाँधकर रखना । यह बन्धन दो पाँववाले मनुष्यों आदिका तथा चार पाँववाले गाय, भैंस और घोड़ा आदिका किया जाता है । वह सार्थक और अनर्थकके भेदसे दो प्रकारका है । इनमेंसे अणुव्रती श्रावक अनर्थक—प्रयोजनके बिना—कभी बन्धनमें प्रवृत्त नहीं होता । सार्थक बन्धन भी सापेक्ष और निरपेक्षके भेदसे दो प्रकारका है । मनुष्य व पशुओंको जो प्रयोजनके वश बाँधा जाता है वह सार्थक बन्ध तो है, पर यदि इसमें उनकी सुरक्षाकी ओर ध्यान न देकर उन्हें अतिशय दृढ़तापूर्वक बाँधा जाता है तो यह निरपेक्ष सार्थक बन्धन कहलाता है । इसमेंसे

---

१. अ अस्याः (२५८) गाथायाः संस्कृतछायाप्यत्रोपलभ्यते । २. अ °शिभिः सह बंधनमस्ताडनं केशाभिविभिः ।

नाम तालणं। अणट्ठाए णिरवेक्खो निद्दयं तालेइ। सावेक्खो पुण पुव्वमेव भीयपरिसेण होयव्वं। जइ न करेज्ज तो मम्मं मोत्तुं ताहे लयाए दोरेण वा एक्कं दो तिन्नि वा वारे तालेइ। छविच्छेओ अणट्ठाए तहेव, णिरवेक्खो हत्थ-पाय-कन्न-होट्ठ-णक्काइ निद्दयाए छिंदइ। सावेक्खो गंडं वा अरइयं वा छिंदेज्ज वा दहेज्ज वा। अइभारो ण आरोवेयव्वो। पुव्वि चेव जा वाहणाए जीविया सा मुत्तव्वा। न होज्ज अन्ना जीविया, ताहे दुपओ जं सयं चेव उक्खिवइ उत्तारेइ वा भारं एवं वहाविज्जइ। बइल्लाणं जहा साभावियाओ वि भाराओ ऊणओ कीरइ। हल-सगडेसु वि वेलाए चेव मुंचइ। आस-हत्थीसु वि एस चेव विही। भत्तपाणवोच्छेओ ण कस्सइ कायव्वो तिक्खछुहो मा मरेज्ज तहेव अणट्ठाए दोसा परिहरेज्जा। सावेक्खो पुण रोगनिमित्तं वा

अकस्मात् आग वगैरह लगने या अन्य किसी उपद्रवके उपस्थित होनेपर बन्धनबद्ध प्राणीका छुटकारा पाना दुष्कर हो जाना है। अतः ऐसा निरपेक्ष सार्थक बन्धन सर्वथा हेय है। सापेक्ष सार्थक बन्धनमें प्राणीको इस प्रकारकी शिथिल गाँठ आदि लगाकर बाँधा जाता है कि जिससे कभी अग्नि वगैरहके प्रज्वलित होनेपर या अन्य किसी उपद्रवके उपस्थित होनेपर वह सरलतासे छूटकर या छुड़ाया जाकर आत्मरक्षा कर सकता है। यह सापेक्ष सार्थक बन्धन प्रयोजनके वश गाय-भैंस आदि चतुष्पदोंके समान दासी-दास, चोर व पढ़नेमें आलसी पुत्र आदि द्विपदोंका भी किया जाता है। पर वह उनकी सुरक्षाका ध्यान रखकर दयार्द्र अन्तःकरणमे हो विधेय माना गया है। विशेष रूपमें श्रावकको ऐसे ही द्विपदों व चतुष्पदोंको ग्रहण करना चाहिए जो बिना बन्धनके ही रह सकते हों। (२) दूसरा उसका अतिचार बध है। बधका अर्थ ताड़न है, न कि प्राणवियोजन, क्योंकि प्राणवियोजन तो स्पष्टतः अनाचार है, न कि अतिचार। पूर्वोक्त बन्धनके समान यह बध भी निरर्थक व सार्थकके साथ निरपेक्ष और सापेक्षके भेदसे दो प्रकारका है। निरतिचार अणुव्रतका पालन करनेवाला गृहस्थ कभी प्रयोजनके बिना प्राणीको लाठी या चाबुक आदिसे पीड़ित नहीं करता। प्रयोजनके वश भी जब ताड़ित करना आवश्यक हो जाता है तब वह निरपेक्ष होकर निर्दयतापूर्वक ताड़ित नहीं करता। प्रथमतः तो वह भय दिखलाता है। पर जब भयसे काम नहीं निकलता तब वह मर्मस्थानको छोड़कर लता या रस्सी आदिसे दो-तीन बार ताडित करता है। (३) तीसरा अतिचार छविच्छेद है। छविका अर्थ शरीर है। उसका छेद भी निरर्थक व सार्थकके रूपमें सापेक्ष व निरपेक्ष दृष्टिसे किया जाता है। अणुव्रती श्रावक निष्प्रयोजन निरपेक्ष दृष्टिसे कभी प्राणीके हाथ, पाँव, कान, ओष्ठ व नाक आदिका छेदन नहीं करता। प्रयोजनके वश भी वह उसके नाक, कान व फोडे आदिको सापेक्ष होकर दयाभाव हो छेदता है या दागता है। (४) चौथा अतिचार अतिभारारोपण है। इस अतिचारसे रहित व्रती श्रावक मनुष्य या पशुके ऊपर अधिक बोझ नहीं लादता, वह उनके ऊपर उतना ही बोझा लादता है, जिसे मनुष्य स्वाभाविक रूप उठा सकें या रख सकें। सर्वोत्तम तो यही है कि जहाँ तक सम्भव हो व्रती श्रावक भाडेसे की जानेवाली आजीविकाको ही छोड़ दे। पर यदि वह सम्भव नहीं है तो फिर उक्त रीतिसे अधिक बोझा न लादकर उनकी शक्तिके अनुसार ही बोझा लादना चाहिए। इसी आदिके अपर भी अस्वाभिक बोझ नहीं लादना चाहिए तथा हलमें या गाड़ीमें जोतनेपर उन्हें यथासमय छोड़ देना चाहिए। यही प्रक्रिया हाथी व घोड़ा आदिके विषयमें समझना चाहिए। (५) पाँचवाँ अतिचार भक्त-पानव्युच्छेद है। अन्न-पानका निरोध भी श्रावकको निष्प्रयोजन सर्वथा नहीं करना चाहिए। प्रयोजनके वश भी द्विपद या चतुष्पदोंके भोजन-पानका निरोध कुछ ही समयके लिए करना चाहिए, जिसमें उन्हें अधिक व्याकुलताका अनुभव न हो या भूख-प्याससे

वायाए वा भणेज्जा अज्जं ण ते देमि त्ति, संतिणिमित्तं वा उववासं कारावेज्जा। सव्वत्थ वि जयणा जहा थूलगपाणाइवायस्स अइयारो न भवइ तहा पइयव्वंति ॥२५८॥

आह च—

> परिसुद्धजलग्गहणं दारुय-धन्नाइयाण तह चेव ।
> गहियाण वि परिभोगो विहीइ तसरक्खणट्ठाए ॥२५९॥

परिशुद्धजलग्रहणम्, वस्त्रपूतत्रसरहितजलग्रहणमित्यर्थः। दारु-धान्यादीनां च तथैव परिशुद्धानां ग्रहणं अनीलाजीर्णानां दारूणाम्, अकीट-विशुद्धस्य धान्यस्य, आदिशब्दात्तथाविधोपस्करपरिग्रहः। गृहीतानामपि परिभोगो विधिना कर्तव्यः परिमितप्रत्युपेक्षिताविना। किमर्थम्? त्रसरक्षणार्थं द्वीन्द्रियादिपालनार्थमिति ॥२५९॥

उक्तं सातिचारं प्रथमाणुव्रतम् अधुना द्वितीयमुच्यते—

पीड़ित होकर वे कदाचित् मृत्युको प्राप्त न हो जायें। पुत्र आदिके हितकी दृष्टिसे वचनके द्वारा ही यह कहना चाहिए कि यदि पूरा नहीं होता है तो आज तुम्हें भोजन नहीं प्राप्त होगा। रोगसे पीड़ित होनेपर भी वचनसे सान्त्वना देना कि आज तुम्हें भोजन करना हितकर नहीं है। शान्तिके निमित्त उपवास भी कराया जा सकता है। पर यह सब यत्नाचारपूर्वक ही होना चाहिए, जिससे कि स्थूल प्राणातिपात व्रतके उक्त अतिचारोंसे व्रतको सुरक्षित रखा जा सके। गाथामें जो 'क्रोधादिदूषितमन' यह विशेषण दिया गया है कि उसका भी अभिप्राय यही है कि उपर्युक्त सब कार्य सद्भावनाके साथ यत्नाचारपूर्वक प्रयोजन वश ही करना चाहिए, न कि निष्प्रयोजन व निर्दयताके साथ। इस प्रकारसे ही प्रकृत स्थूल प्राणातिपात अणुव्रतका निर्दोष पालन हो सकता है ॥२५८॥

आगे उस यत्नाचारका स्पष्टीकरण किया जाता है—

त्रस जीवोंकी रक्षाके लिए निर्मल जल और विशुद्ध लकड़ी एवं धान्य आदिका भी ग्रहण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त ग्रहण किये हुए पदार्थोंका उपभोग भी विधिपूर्वक करना चाहिए।

विवेचन—स्थूल प्राणातिपात अणुव्रतके धारक श्रावकको सभी प्रवृत्ति यत्नाचारपूर्वक होना चाहिए। उसमें त्रसजीवोंका विघात न हो, इसके लिए वह सदा सावधान रहता है। आवश्यकतानुसार जब वह जलको ग्रहण करता है तो वह उसे त्रसजीवोंसे रहित दोहरे छन्नेसे छानकर ग्रहण करता है। दो मुहूर्तके पश्चात् वह उसका उपयोग पुनः छानकर करता है। लकड़ियोंको जब वह जलानेके लिए ग्रहण करता है तब वह उन्हें बिना घुनी जीव-जन्तुओंसे रहित देखकर ही ग्रहण करता है व उनका उपयोग करता है। इसी प्रकार वह गेहूँ, चावल, उड़द व मूँग आदि धान्यविशेषोंको निर्घुन व जन्तुओंसे रहित ग्रहण करता है व उनका उपयोग भी अतिशय सावधानतापूर्वक करता है। रात्रिमें पिसाने, भोजन बनाने व खानेका भी वह परित्याग करता है। ये कुछ ही यहां उदाहरण दिये गये हैं। उसका सभी आचरण प्राणिरक्षाकी सद्भावनासे होता है। इसके बिना उसका वह स्थूल प्राणातिव्रत निर्दोष नहीं रह सकता है ॥२५९॥

इस प्रकार अतिचार सहित प्रथम अणुव्रतका विवेचन करके अब द्वितीय अणुव्रतके स्वरूपको दिखलाते हैं—

थूलमुसावायस्स उ विरई दुच्चं[1] स पंचहा होइ।
कन्ना-गो-भुआलियनासहरणकूडसक्खिज्जे ॥२६०॥

स्थूलमृषावादस्य तु विरतिर्द्वितीयमणुव्रतमिति गम्यते। मृषावादो हि द्विविधः स्थूलः सूक्ष्मश्च। तत्र परिस्थूलवस्तुविषयोऽतिदुष्टविवक्षासमुद्भवः स्थूलो विपरीतस्त्वितरः। न च तेनेहाधिकारः, श्रावकधर्माधिकारत्वात्स्थूलस्यैव प्रक्रान्तत्वात्। तथा चाह—स पञ्चधा भवति स स्थूलो मृषावादः पञ्चप्रकारो भवति—कन्या-गो-भूम्यनृत-न्यासहरण-कूटसाक्षित्वानि। अनृतशब्दः[2] पदत्रये प्रत्येकमभिसंबध्यते। तद्यथा—कन्यानृतमित्यादि। तत्र कन्याविषयमनृतं कन्यानृतम्—अभिन्नकन्यकामेव[3] भिन्नकन्यकां वक्ति विपर्ययो वा। एवं गवानृतम्—अल्पक्षीरामेव बहुक्षीरां वक्ति विपर्ययो वा। एवं भूम्यनृतम्—परसत्कामेवात्मसत्कां वक्ति, व्यवहारे वा नियुक्तोऽनाभवद्व्यवहारेणैव कस्यचिद्रागाद्यभिभूतो वक्ति अस्येयमाभवतीति[4]। न्यस्यते निक्षिप्यत इति न्यासो रूपकाद्यर्पणम्, तस्यापहरणं न्यासापहारः। अवत्तादानरूपत्वादस्य कथं मृषावादत्वमिति? उच्यते—अपलपतो मृषावाद इति। कूटसाक्षिकं उत्कोचमत्सराद्यभिभूतः प्रमाणीकृतः[5] सन् कूटं वक्तीति ॥२६०॥

स्थूल मृषावाद (असत्य भाषण) की विरतिका नाम द्वितीय अणुव्रत है, जिसे सत्याणुव्रत कहा जाता है। यह मृषावाद पांच प्रकारका है—कन्याअलीक, गवालीक, भूमिअलीक, न्यासहरण और कूटसाक्ष्य।

विवेचन—स्थूल और सूक्ष्मके भेदसे असत्यभाषण दो प्रकारका है। दूषित मनोवृत्तिसे स्थूल वस्तुविषयक जो असत्यभाषण किया जाता है वह स्थूल मृषावाद कहलाता है। उदाहरणार्थ जो वस्तु अपने पास नहीं है व जिसे दिया नहीं जा सकता है उसके विषयमें यह कहना कि 'मैं उसे कल दूँगा।' इसी प्रकार आवश्यकता पडनेपर किसीके पाससे रुपया-पैसा या अन्य कोई वस्तु लेना और वापस करते समय 'मैंने उसे लिया ही नहीं है, तुम झूठ बोलते हो' इत्यादि कहकर उसका अपलाप करना, इत्यादि सब उस स्थूल मृषावादके अन्तर्गत है। संक्षेपमें उसे पांच रूपमें व्यक्त किया गया है—(१) **कन्याअलीक**—कन्याके विषय बोलना। जैसे—किसी एक कन्याको दिखलाकर विवाहादिके समय वही कन्या बतलाकर दूसरीको उपस्थित करना। (२) **गवालीक**—कम दूध देनेवाली गायको अधिक दूध देनेवाली या अधिक दूध देनेवालीको कम दूध देनेवाली बतलाकर व्यवहार करना। (३) **भूमिविषयक अलीक**—जो भूमि अपनी नहीं है उसे अपनी बतलाकर और जो अपनी है उसे दूसरेकी बतलाकर बेचने व लेने आदिका व्यवहार करना। इसी प्रकार जो भूमिविषयक व्यवहार अपने सामने नहीं हुआ है उसे अपने सामने हुआ बतलाना। (४) **न्यासहरण**—आवश्यकतानुसार दूसरे द्वारा सुरक्षा आदि उद्देश्यसे रुपये-पैसे या सोना-चाँदी रखा जाता है 'उसे मेरे पास नहीं रखा' इत्यादि कहकर उसका अपहरण कर लेना। जब कि इसे अदत्तादान समझकर चोरीमें गर्भित किया जा सकता था, पर चूँकि उसके सम्बन्धमें वैसा भाषण भी किया जाता है तथा बिना दिये ग्रहण भी नहीं किया जाता है, इसीलिए इसे न्यासापहार मृषावाद समझना चाहिए। (५) **कूटसाक्ष्य**—राग, द्वेष अथवा मत्सरता आदिके वश जो कृत्य अपने सामने नहीं हुआ है उसके विषयमें असत्य साक्षी देना आदि। इस पांच प्रकारके

१. अ विरती दोच्चं। २. अ कूटसापेयकानि अनृतः शब्दः। ३. अ कन्याविषयमनृतमेवात्मसत्कां कन्यां नृतं अभिन्नकन्यकामेव। ४. अ माभवत्विति। ५. अ 'प्रमाणीकृतः' इत्येतन्नास्ति।

वज्जणमिह पुव्वुत्तं आह कुमाराइगोयरो कह णु ।
एयग्गहणाउ च्चिय गहिओ नणु सो वि दिट्ठव्वो ॥२६१॥

वर्जनमिह मृषावादे । पूर्वोक्तं "उवउत्तो गुरुमूले" इत्यादिना ग्रन्थेन । आह परः—कुमारादिगोचरः कथं नु ? अकुमारं कुमारं ब्रुवतः, आदिशब्दादविधवाद्यनृतपरिग्रहः । अतिदुष्टविवक्षासमुद्भवोऽप्येष भवति, न तु सूत्रे उपात्तः । तदेतत्कथम् ? आचार्य आह—एतद्ग्रहणादेव च कन्यानृतादिग्रहणादेव च । ननु गृहीतोऽसावपि कुमारादिगोचरो मृषावादो द्रष्टव्यः, उपलक्षणत्वादिति ॥२६१॥

पडिवज्जिऊण य वयं तस्सइयारे जहाविहिं नाउं ।
संपुन्नपालणट्ठा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥२६२॥

असत्य भाषणका परित्याग करना, इसे सत्याणुव्रत कहा जाता है। यद्यपि कन्याके समान कुमार और गायके समान भैंस आदिके विषयमें भी असत्य सम्भाषण सम्भव है, फिर भी उन्हें यथासम्भव इन पाँचके ही अन्तर्गत समझना चाहिए ॥२६०॥

आगे इस द्वितीय अणुव्रतके पालन करनेकी विधिका संकेत करते हुए कन्यालीक आदिके साथ कुमारादिविषयक अलीकको भी क्यों नहीं ग्रहण किया, इसे स्पष्ट किया जाता है—

पूर्वमें अहिंसाणुव्रतके परिपालनकी जो विधि निर्दिष्ट की गयी है (१०८) तदनुसार ही इस द्वितीय सत्याणुव्रतमें भी असत्यभाषणका परित्याग करते उसका पालन करना चाहिए। यहाँ शंकाकार कहता है कि उपर्युक्त कन्यालीक आदिके साथ कुमारादिविषयक अलीकको भी क्यों नहीं ग्रहण किया गया ? इसके उत्तरमें यहाँ कहा गया है कि उक्त कन्यालीक आदिके ग्रहणसे ही कुमारादिविषयक अलीकका भी ग्रहण किया गया समझ लेना चाहिए।

विवेचन—जैसा कि पूर्वमें (१०८) स्थूलप्राणातिपात अणुव्रतके प्रसंगमें कहा गया है तदनुसार इस द्वितीय अणुव्रतमें भी आचार्यके समक्षमें प्रमादको छोड़कर मोक्षकी अभिलाषासे चातुर्मासादिरूप कुछ नियत कालके लिए अथवा जीवनपर्यन्तके लिए असत्यभाषणका परित्याग करना चाहिए और उसका स्मरण रखते हुए विशुद्ध परिणामोंके साथ पालन भी करना चाहिए। यहाँ शंका उपस्थित होती है कि जिस प्रकार असत्य वचनके अन्तर्गत कन्यालीकको ग्रहण किया गया है उसी प्रकार कुमारादि विषयकअलीकको ग्रहण करना चाहिए था, क्योंकि लोकमें दुष्ट बुद्धिसे कुमार और विधवा आदिके विषयमें असत्य भाषण करते हुए देखा जाता है। किन्तु उसको जो यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है उसका क्या कारण है ? इसके उत्तरमें यहाँ कहा गया है कि कन्या व गापद आदि यहाँ उपलक्षण हैं। उनसे कुमार आदि द्विपदोंका व भैंस आदि चतुष्पदोंको भी ग्रहण कर लिया गया समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार लोकव्यवहारमें 'बिल्लीसे दूधको बचाना' ऐसा कहनेपर दूधके भक्षक सभी प्राणियोंसे उसके संरक्षणका अभिप्राय रहता है उसी प्रकार प्रकृतमें भी कन्यालीक व गवालीक आदि पदोंका भी अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए। यही कारण है जो कुमार व विधवा आदि द्विपदोंका तथा भैंस आदि चतुष्पदोंको पृथक्से नहीं ग्रहण किया गया। अतएव तद्विषयक असत्यभाषणके परित्यागको भी इस द्वितीय अणुव्रतके अन्तर्गत समझ लेना चाहिए ॥२६१॥

आगे प्रकृत व्रतको स्वीकार कर व उसका निर्दोष परिपालन करनेके लिए उसके अतिचारोंको जानकर उनके परित्यागके लिए प्रेरणा की जाती है—

पूर्ववत् ॥२६२॥

सहसा अब्भक्खाणं रहसा य सदारमंतभेयं च ।
मोसोवएसयं कूडलेहकरणं च वज्जिज्जा ॥२६३॥

सहसानालोच्याभ्याख्यानं सहसाभ्याख्यानम् । अभ्याख्यानमभिशपनमसदभ्यारोपणम् । तद्यथा—चोरः त्वं पारदारिको वा—इत्यादि । १ । रहः एकान्तस्तत्र भवं रहस्यं तेन तस्मिन् वाभ्याख्यानं रहस्याभ्याख्यानम् । एतदुक्तं भवति—एकान्ते मन्त्रयमाणान् वक्त्येते हीदं चेदं च राजापकारित्वादि मन्त्रयन्ते इति । २ । स्वदारमन्त्रभेदं च स्वकलत्रविश्रब्धभाषितान्यकथनं चेत्यर्थः । ३ । मृषोपदेशमसदुपदेशमिदमेवं चैवं च कुर्वित्यादिलक्षणम् । ४ । कूटलेखकरणमन्यमुद्राक्षरबिम्बसरूपलेखकरणं च वर्जयेत् ।५। यत एतानि समाचरन्नतिचरति द्वितीयमणुव्रतमिति ॥२६३॥

बुद्धीइ निएऊणं भासिज्जा उभयलोगपरिसुद्धं ।
स-परोभयाण जं खलु न सव्वहा पीडजणगं तु ॥२६४॥

बुद्धया निरीक्ष्य, सम्यगालोच्येति भावः । भाषेत ब्रूयात् । उभयलोकपरिशुद्धं इहलोक-

---

व्रतको स्वीकार करके व आगमोक्त विधिके अनुसार उसके अतिचारोंको जानकर उसके सम्पूर्ण परिपालनके लिए उन्हे प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए ॥२६२॥

अब इस सत्याणुव्रतके उन अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

सहसा अभ्यख्यान, रहस्याभ्याख्यान, स्वदारमन्त्रभेद, मृषोपदेश और कूटलेखकरण ये उस स्थूल मृषावाद अणुव्रतके पांच अतिचार हैं। उनका परित्याग करना चाहिए।

विवेचन—(१) **सहसा अभ्यख्यान**—किसी प्रकारका विचार न करके 'तू चोर है, परदारगामी है' इत्यादि प्रकारसे वचन बोलकर दोषारोपण करना। यह उसका प्रथम अतिचार है। (२) **रहस्याभ्याख्यान**—रहस् नाम एकान्त है, उसमे किये आचरणको रहस्य कहा जाता है। दूसरेके द्वारा एकान्तमे किये गये व्यवहारको अन्य जनोंसे कहना, यह रहस्याभ्याख्यान नामका उसका दूसरा अतिचार है। जैसे—यदि कुछ व्यक्ति एकान्तमे कुछ विचार-विमर्श कर रहे हों तो उनके विषयमें कहना कि ये राजाके विरुद्ध गुप्त विचार कर रहे हैं इत्यादि। (३) **स्वदारमन्त्रभेद**—अपनी पत्नीके द्वारा विश्वस्तरूपमें कहे गये वचनोंको दूसरोसे कहना, स्वदारमन्त्रभेद नामका प्रकृत व्रतका तीसरा अतिचार है। (४) **मृषोपदेश**—अप्रशस्त उपदेशका नाम मृषोपदेश है। अभिप्राय यह है कि जो वस्तुस्वरूप जिस प्रकारका नही है उसे उस प्रकारका बतलाकर प्राणियोंको अहितकर कार्योंमें प्रवृत्त करना तथा प्रमादके वश ऐसा वचन बोलना कि जिससे दूसरोंको कष्ट हो—जैसे गधे व ऊँटपर अधिक बोझा लादना चाहिए, इत्यादि प्रकारके वचनको मृषोपदेशके अन्तर्गत समझना चाहिए। (५) **कूटलेखकरण**—दूसरेकी मुहर या हस्ताक्षर बनाकर असमीन प्रवृत्ति करना, इत्यादिका नाम कूटलेखकरण है। इन अतिचारोंके द्वारा प्रकृत व्रत मलिन होता है, अतः स्थूलमृषावाद अणुव्रतके धारक श्रावकको इन अतिचारोंका तथा इनके जैसे अन्य दोषोका भी परित्याग अवश्य करना चाहिए ॥२६३॥

आगे सत्याणुव्रती श्रावकको किस प्रकारका वचन बोलना चाहिए, इसे स्पष्ट किया जाता है—

सत्याणुव्रतीको बुद्धिसे सोच-विचार करके ऐसा भाषण करना चाहिए जो उभय लोकोंमें

परलोकाविरुद्धम्[1]। स्व-परोभयानां यत् खलु न सर्वथा पीडाजनकम्—तत्र स्वपीडाजनकं पिङ्गलस्थपतिवचनवत्, परपीडाजनकं चौरस्त्वमित्यादि, एवमुभयपीडाजनकमपि द्रष्टव्यमिति ॥२६४॥

उक्तं द्वितीयाणुव्रतम्, सांप्रतं तृतीयमाह—

> थूलमदत्तादाणे विरई तच्चं दुहा य तं भणियं[2]।
> सच्चित्ताचित्तगयं समासओ वीयरागेहिं ॥२६५॥

इहादत्तादानं द्विधा स्थूलं सूक्ष्मं च। तत्र परिस्थूलविषयं चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमतिदुष्टाध्यवसायपूर्वकं स्थूलम्। विपरीतमितरत्। तत्र स्थूलादत्तादानविषया विरतिर्निवृत्तिस्तृतीयमणुव्रतमिति गम्यते। द्विधा च तददत्तादानं भणितम्, समासतः संक्षेपेण। 'वीतरागैरर्हद्भिरिति योगः। सचित्ताचित्तगतमिति सचित्तादत्तादानम् अचित्तादत्तादानं च। तत्र द्विपदादेर्वस्तुनः क्षेत्रादौ सुन्यस्त-दुर्न्यस्त-विस्मृतस्य[3] स्वामिना अदत्तस्य चौर्यबुद्धया ग्रहणं सचित्तादत्तादानं, तथा वस्त्रकनकादेरचित्तादत्तादानमिति ॥२६५॥

> भेएण लवण-घोडग-सुवन्न-रुप्पाइयं[4] अणेगविहं।
> वज्जणमिमस्स सम्मं पुवुत्तेणेव विहिणा उ ॥२६६॥

भेदेन विशेषेणादत्तादानं लवण-घोटक-रूप्य-सुवर्णाद्यनेकविषयमनेकप्रकारम्। लवण-घोटकग्रहणात्सचित्तपरिग्रहः, रूप्य-सुवर्णग्रहणादचित्तपरिग्रह इति वर्जनमस्यादत्तादानस्य। सम्यक् पूर्वोक्तेन विधिना उपयुक्तो गुरुमूले इत्यादिनेति ॥२६६॥

परिशुद्ध हो—इस लोक व परलोकमें हितकर हो, तथा जो पिंगल बढ़ईके समान स्वको, परको और उभयको सर्वथा पीड़ाका कारण न हो ॥२६४॥

अब क्रमप्राप्त तीसरे अणुव्रतका निर्देश किया जाता है—

बिना दी हुई स्थूल वस्तुके ग्रहणविषयक विरतिका नाम तीसरा अणुव्रत है, जिसे अचौर्याणुव्रत कहा जाता है। सचित्त और अचित्त वस्तुसे सम्बद्ध होनेके कारण वह वीतराग जिनके द्वारा दो प्रकारका कहा गया है।

विवेचन—स्वामीके द्वारा नहीं दी गयी वस्तुके ग्रहणका नाम अदत्तादान है। वह स्थूल और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें जिस स्थूल वस्तुके ग्रहणपर चोरीका आरोप सम्भव है उसे दूषित चित्तवृत्तिसे ग्रहण करना, इसे स्थूल अदत्तादान कहा जाता है। इसके विपरीत जिस जल और मिट्टी आदिके ग्रहण करनेपर चोर नहीं समझा जाता है उसका नाम सूक्ष्म अदत्तादान है। यह सूक्ष्म अदत्तादान स्थूल अदत्तादान व्रतीके लिए अपरिहार्य है। उक्त अदत्तादान सचित्त और अचित्त वस्तुके सम्बन्धसे भी दो प्रकारका है। किसी विशिष्ट क्षेत्र आदिमें जिस किसी भी प्रकारसे रखे गये दासी-दास एवं हाथी व घोड़े आदि किन्हीं द्विपद प्राणियोंका स्वामीकी आज्ञाके बिना चोरीके विचारसे ग्रहण करना, यह सचित्तादान कहलाता है। वस्त्र, सोना एवं चाँदी आदि अचित्त वस्तुओंको चोरीके अभिप्रायसे ग्रहण करना, इसे अचित्तादान कहा जाता है ॥२६५॥

आगे प्रकृत स्थूल अदत्तादानका उदाहरणपूर्वक कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है—

विशेष रूपसे वह अदत्तादान नमक, घोड़ा, सुवर्ण व चाँदी आदि रूपसे अनेक प्रकारका है। इसका परित्याग पूर्वोक्त (१०८) विधिके अनुसार ही समीचीन रूपसे करना चाहिए। उक्त

---

१. अ इहलोकपरिशुद्धाविरुद्धं। २. अ दुहा ए यं भणियं। ३. अ सुन्यस्तविस्मृतस्य। ४. अ सुवन्नरूपाइगं।

पडिवज्जिऊण य वयं तस्सइयारे जहाविहिं नाउं।
संपुन्नपालणट्ठा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥२६७॥

पूर्ववत् ॥२६७॥

अतिचारानाह—

वज्जिज्जा तेनाहडतक्करजोगं विरुद्धरज्जं च।
कूडतुल-कूडमाणं तप्पडिरूवं च ववहारं[1] ॥२६८॥

वर्जयेत् स्तेनाहृतं स्तेनाश्चौरास्तैराहृतमानीतं किंचित्कुंकुमादि देशान्तरात् तत्समर्घमिति लोभान्न गृह्णीयात् ।१। तथा तस्करप्रयोगं तस्कराश्चौरास्तेषां प्रयोगो हरणक्रियायां प्रेरणमभ्यनुज्ञा हरत यूयमिति तस्करप्रयोगः। एनं च वर्जयेत् । २ । विरुद्धराज्यमिति च सूचनाद्विरुद्धराज्यातिक्रमं च वर्जयेत्—विरुद्धनृपयो राज्यं विरुद्धराज्यम्, तत्रातिक्रमो न हि ताभ्यां तत्र तदागमनमनुज्ञात-मिति । ३ । तथा कूटतुला-कूटमाने तुला प्रतीता, मानं कुडवादि, कूटत्वं न्यूनाधिकत्वम्—न्यूनया

वस्तुओंमें नमक और घोड़ा आदि सचित्त वस्तुओंके उपलक्षण हैं तथा सुवर्ण व चांदी आदि अचित्त वस्तुओंके उपलक्षण हैं। इन सबके ग्रहणका परित्याग पूर्वोक्त विधिके अनुसार गुरुके पादमूलमें करना चाहिए, यह प्रकृत गाथाका अभिप्राय है ॥२६६॥

अब उसके अतिचारोंका निर्देश करते हुए उनके परित्यागके लिए प्रेरणा की जाती है—

प्रकृत व्रतको स्वीकार करके और आगमोक्त विधिके अनुसार उसके अतिचारोंको जानकर उसका पूर्णतया परिपालन करनेके लिए उन अतिचारोंका प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिए ॥२६७॥

आगे उन अतिचारोंका नामनिर्देश किया जाता है—

स्तेनाहृत, तस्करप्रयोग, विरुद्ध राज्य, कूटतुला-कूटमान और तत्प्रतिरूप व्यवहार, ये उसके पांच अतिचार हैं, जिनका अचौर्याणुव्रतीको परित्याग करना चाहिए।

विवेचन—इन अतिचारोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—(१) **स्तेनाहृत**—स्तेनका अर्थ चोर होता है। चोरों द्वारा अन्य देशसे चोरीचोरी लायी गयी केसर व कस्तूरी आदि मूल्यवान् वस्तुओं-को लोभके वश ग्रहण करना। यह उसका प्रथम अतिचार है। (२) **तस्करप्रयोग**—तस्करका अर्थ भी चोर होता है। चोरोंको चोरीके कार्यमें प्रेरित करते हुए 'तुम इस-इस प्रकारसे चोरी करो' इत्यादि रूपसे अनुज्ञा करना, इसे तस्करप्रयोग कहा जाता है। यह उसका दूसरा अतिचार है। (३) **विरुद्ध राज्य**—विरुद्ध राज्य शब्दसे यहाँ विरुद्धराज्यातिक्रमका अभिप्राय रहा है। दो राजाओंके राज्यको विरुद्ध राज्य कहा जाता है। प्रत्येक राज्यसे दूसरे राज्यमें वस्तुओंके आने-जानेके लिए कुछ नियम निर्धारित रहते हैं। उनका उल्लंघन करके चोरीसे कर (टैक्स) आदिको बचाकर एक राज्यसे दूसरे राज्यमें वस्तुका ले जाना व वहाँसे अपने यहाँ ले आना, यह विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका उसका तीसरा अतिचार है। (४) **कूटतुला-कूटमान**—तुलाका अर्थ तराजू या कांटा तथा मानका अर्थ मापने-तौलनेके प्रस्थ, आढक एवं बांट (सेर व किलोमीटर आदि) होता है। इनको देनेके लिए और लेनेके लिए अधिक प्रमाणमें रखना, इसे कूटतुला-कूट-मान कहते हैं। यह उस व्रतका चौथा अतिचार है। (५) **प्रतिरूपक-व्यवहार**—प्रतिरूपका अर्थ

---

१. अ ववहरणं ।

ददाति, अधिकया[1] गृह्णाति ।४। तथा तत्प्रतिरूपव्यवहरणं[2] तेनाधिकृतेन प्रतिरूपं सदृशं तत्प्रतिरूपम्, तेन व्यवहरणम्[3]—यद्यत्र घटते व्रीह्यादि-घृतादिषु पलञ्जी-वसादि तस्य तत्र प्रक्षेपेण विक्रयस्तं च वर्जयेत् ।५। यत एतानि समाचरन्नतिचरति तृतीयाणुव्रतमिति ॥२६८॥

उचियं मुत्तूण कलं दव्वाइकमागयं च उक्करिसं ।
निवडियमवि जाणंतो परस्स संतं न गिण्हिज्जा ॥२६९॥

उचितां मुक्त्वा कलां पञ्चकशतवृद्ध्यादिलक्षणाम् । द्रव्यादिक्रमायातं चोत्कर्षम् यदि कथंचित्पूगफलादेः क्रय संवृत्त इत्यष्टगुणो लाभकः, अक्रूराभिसंधिना ग्राह्य एवेत्यर्थः । आदिशब्दः स्वभेदप्रख्यापकः । तथा निपतितमपि जानानः परस्य सत्कं न गृह्णीयात्, प्रयोजनान्तरं चोद्दिश्य समर्पिते प्रतिबुध्यतोत्यादि गृहीत्वा प्रत्यर्पयेदपोति ॥२६९॥

उक्तं तृतीयाणुव्रतम्, सांप्रतं चतुर्थमाह—

परदारपरिच्चाओ सदारसंतोस मो वि य चउत्थं ।
दुविहं परदारं खलु उराल-वेउव्विभेएणं[4] ॥२७०॥

सदृश होता है । अधिक मूल्यवाली विक्रेय वस्तुमें उसीको जैसी अल्प मूल्यवाली वस्तुको मिलाकर बेचना, इसे प्रतिरूपक व्यवहार कहा जाता है । जैसे धानमें पलंजी आदिको मिलाकर और घीमें चर्बी आदिको बेचना । यह प्रकृत अचौर्याणुव्रतका पाँचवाँ अतिचार है । अचौर्याणुव्रतीको इन पाँचों अतिचारका परित्याग करना चाहिए, अन्यथा व्रत मलिन होनेवाला है ॥२६८॥

अचौर्याणुव्रतीको और कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसे भी आगे स्पष्ट किया जाता है—

उसे उचित कलाको—पाँच प्रतिशत आदि व्याजको—छोड़कर दूसरेके द्रव्यको नहीं लेना चाहिए, द्रव्यादिके क्रमसे आगत लाभको भी उत्कृष्ट नहीं ग्रहण करना चाहिए, तथा दूसरेकी गिरी हुई वस्तुको जानकर नहीं ग्रहण करना चाहिए ।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि यदि कभी किसीको प्रयोजनवश किसीसे रुपया-पैसा लेना पड़े तो उसे उचित व्याजके साथ ही लेना चाहिए । यदि कभी सुपारी आदि क्रय-विक्रयमें विशेष लाभ हुआ तो उसे अभिमानके साथ ग्रहण नहीं करना चाहिए । अथवा कभी प्राकृतिक उपद्रवके कारण उक्त सुपारी आदि किन्हीं द्रव्योंके विनष्ट हो जानेपर आगे इसका संचय करनेसे अठगुणा लाभ हो सकता है, इस प्रकारके दुष्ट अभिप्रायसे उनका संचय करना व्रतको दूषित करनेवाला है । इसी प्रकार यदि कभी किसी व्यक्तिकी कोई वस्तु गिर गयी हो तो उसे जानकर ग्रहण न करना चाहिए । हाँ, इस प्रयोजनसे कि जिसकी वह वस्तु है उसे खोजकर दे दूँगा, उसके ग्रहण करनेपर भी व्रत दूषित नहीं होता । पर उसे निश्चित ही उसके स्वामीको समर्पित कर देना चाहिए ॥२६९॥

अब क्रमप्राप्त चतुर्थ अणुव्रतके स्वरूपका निर्देश किया जाता है—

परस्त्रीका परित्याग और स्वस्त्रीसन्तोष, इसका चतुर्थ अणुव्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) है । इनमें परस्त्री औदारिक और वैक्रियिकके भेदसे दो प्रकारकी है ।

---

१. अ कुड्यादित्कूनापि क्रमो न हि ताभ्यां तत्र तदागमन अधिकतया । २. अ तत्प्रतिरूपं च व्यवहरणं । ३. अ सदृशं तेन व्यवहरणं । ४. अ वेउव्वभेदेण ।

परदारपरित्यागः परकलत्रपरिहारः, न वेश्यापरित्यागः। स्वदारसंतोषश्च स्वकलत्रसेवनमेव, न वेश्यागमनमपि चतुर्थमित्येतच्चतुर्थमणुव्रतं। परदारमपि द्विविधमौदारिक-वैक्रियभेदेन। औदारिकं स्त्र्यादिषु वैक्रियं विद्याधर्यादिष्विति ॥२७०॥

वज्जणमिह[1] पुव्वुत्तं पावमिणं जिणवरेहिं पन्नत्तं।
रागाईण नियाणं भवपायवबीयभूयाणं ॥२७१॥

वर्जनमिह पूर्वोक्तं उपयुक्त इत्यादिना ग्रन्थेन। किमेतद्वर्ज्यते इत्याशङ्क्याह—पापमिदं परदारासेवनं जिनवरैः प्रज्ञप्तं तीर्थंकरगणधरैः प्ररूपितमिति। किंविशिष्टं रागादीनां निदानं कारणम्। किंविशिष्टानां भव-पादपबीजभूतानां रागादीनामिति[2] ॥२७१॥

पडिवज्जिऊण य वयं तस्सइयारे जहाविहिं नाउं।
संपुन्नपालणट्ठा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥२७२॥

पूर्ववत् ॥२७२॥

अतीचारानाह—

[3]इत्तरियपरिग्गहियापरिगहियागमणणंगकीडं च।
परविवाहक्करणं[4] कामे तिव्वाभिलासं च[5] ॥२७३॥

विवेचन—परस्त्रीके परित्यागसे यहाँ अन्यकी स्त्रीके परित्यागका अभिप्राय रहा है, वेश्याके परित्यागका अभिप्राय नहीं रहा। पर स्वस्त्रीसन्तोषसे यहाँ वेश्याके परित्यागका अभिप्राय तो रहा ही है, साथ ही अपनी पत्नीसे भिन्न अन्य सभी स्त्रियोंके परित्यागका रहा है। इसमें जो कुछ विशेषता है उसका स्पष्टीकरण अतिचारोंके प्रसंगमें किया जायेगा। औदारिक और वैक्रियिकके भेदसे परस्त्रीके यहाँ दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। जो परस्त्रियाँ औदारिक शरीरको धारक होती हैं वे औदारिक परस्त्री मानी गयी हैं। तथा जो विद्याधरी आदि विक्रियानिर्मित शरीरको धारण करनेमें समर्थ होती हैं उन्हें वैक्रियिक परस्त्री कहा जाता है। परस्त्रीका परित्याग करनेवाला ब्रह्मचर्याणुव्रती इन दोनों प्रकारकी परस्त्रियोंका त्यागी होता है ॥२७०॥

आगे इस परस्त्रीसमागमको पाप समझकर छोड़ देनेकी प्रेरणा की जाती है—

जो रागादिक संसाररूप वृक्षके बीजभूत हैं—उसकी परम्पराको वृद्धिगत करनेवाले हैं—उनके कारणस्वरूप परस्त्रीसमागमको जिनेन्द्र देवने पाप कहा है। अतः आत्महितैषी ब्रह्मचर्याणुव्रतीको इसका पूर्व गा. १०८ में निर्दिष्ट की गयी विधिके अनुसार परित्याग करना चाहिए ॥२७१॥

अब उसके अतिचारोंके छोड़ देनेकी प्रेरणा करते हुए उसके पाँच अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

व्रतको स्वीकार करके व उसके अतिचारोंको जानकर आगमोक्त विधिके अनुसार उसका पूर्णतया परिपालन करनेके लिए प्रयत्नपूर्वक उनका परित्याग करना चाहिए ॥२७२॥

वे अतिचार ये हैं—

इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा, परविवाहकर और कामविषयक तीव्र अभिलाषा।

---

१. म वज्जणविह (अ अतोऽग्रे टीकागत 'वर्जनमिह' पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति। २. अ भवपादपदपबीजभूतानामिति। ३. अ इत्तरपरिग्रहियाअपरिग्रहिया यणंगकाडा य। ४. अ परवीवाहयकरणं। ५. अ °लासो या।

इत्वरपरिगृहीतागमनं स्तोककालपरिगृहीतागमनम्[1], भाटीप्रदानेन नियन्तमपि कालं स्ववशीकृतवेश्यामैथुनासेवनमित्यर्थः ।१। अपरिगृहीतागमनं अपरिगृहीता नाम वेश्या अन्यसत्का-गृहीतभाटी कुलाङ्गना वा अनाथेति, तद्गमनं यथाक्रमं स्वदारसंतोषवत्-परदारवर्जिनोरती-चारः ।२। अनङ्गक्रीडा नाम कुच-कक्षोरु-वदनान्तरक्रीडा, तीव्रकामाभिलाषेण वा परिसमाप्तसुर-तस्याप्याहार्यैः स्थूलकादिभिर्योषिदवाच्यप्रदेशासेवनमिति । ३ । परविवाहकरणमन्यापत्यस्य कन्य-ाफललिप्सया स्नेहसंबन्धेन वा विवाहकरणम् । स्वापत्येष्वपि सङ्ख्याभिग्रहो न्याय्य इति ।४। कामे तीव्राभिलाषश्चेति सूचनात्काम-भोगतीव्राभिलाषः—कामाः शब्दादयः, भोगा रसादयः, एतेषु तीव्राभिलाषः अत्यन्ततदध्यवसायित्वम् ।५। एतानि समाचरन्नतिचरति चतुर्थमणुव्रतमिति ।।२७३।।

वज्जिज्जा मोहकरं परजुवइदंसणाइ सवियारं ।
एए खु मयणबाणा चरित्तपाणे विणासंति ॥२७४॥

विवेचन—इन अतिचारोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—(१) इत्वरपरिगृहीतागमन—इत्वरका अर्थ अल्पकाल होता है, भाड़ा देकर कुछ कालके लिए ग्रहण की गयी वेश्याको अपने अधीन करके उसके साथ मैथुन सेवन करना, यह ब्रह्मचर्याणुव्रतका इत्वर परिगृहीतागमन नामका प्रथम अतिचार है। यद्यपि वेश्या परस्त्री ही है, पर उसे भाड़ा देकर कुछ कालके लिए ग्रहण कर लिया गया है, इसलिए उसके साथ विषय-सेवन करनेमें चूंकि कथंचित् स्वस्त्रीकी कल्पना की गयी है, पर वस्तुतः वह परस्त्री ही है, अतएव गृहीत व्रतके कथंचित् भंग और कथंचित् अभंग रहनेके कारण इसे स्वदारसन्तोषव्रतीके लिए अतिचार समझना चाहिए। (२) अपरिगृहीता-गमन—अपरिगृहीता नाम वेश्याका है, क्योंकि वह दूसरेके द्वारा यथाविधि ग्रहण नहीं की गयी है। उसने किसी अन्यमें आसक्त होकर यदि उससे भाड़ा ग्रहण नहीं किया है तो उसके साथ अथवा किसी अनाथ कुलांगनाके साथ विषय-सेवन करनेपर यह परदार परित्यागी अणुव्रतीके लिए अति-चार होता है, क्योंकि वह दूसरेके द्वारा ग्रहण नहीं की गयी है, इसलिए भले ही उसे परस्त्री न समझा जाये, पर वस्तुतः वह परस्त्री ही है, अतः इसे व्रतके कथंचित् भंग व अभंगकी अपेक्षा अतिचार समझना चाहिए। (३) अनंग-क्रीड़ा—कामसेवनके अंगोंसे भिन्न, स्तन, कांख, ऊरु और मुखके भीतर क्रीडा करना अथवा तीव्र कामविषयक अभिलाषासे सम्भोग-क्रियाके समाप्त हो जानेपर भी स्थूलकादिके द्वारा—लकड़ी, वस्त्र व फल आदिके द्वारा निर्मित जननेन्द्रियसे—स्त्रीके अवाच्य प्रदेशका सेवन करना; इत्यादिको ब्रह्मचर्याणुव्रतका अनंगक्रीड़ा नामका तीसरा अतिचार जानना चाहिए। (४) परविवाहकरण—अपनी सन्तानको छोड़कर कन्याविषयक फलकी इच्छासे अथवा स्नेहके वश अन्यकी सन्तानके विवाह करनेका नाम परविवाहकरण है। यह ब्रह्मचर्याणुव्रतका चौथा अतिचार है। ब्रह्मचर्याणुव्रतीको अपनी सन्तानके विषयमें भी संख्या-का नियम करना चाहिए। (५) कामतीव्राभिनिवेश—कामविषयक तीव्र अभिलाषाकी जो सूचना की गयी है उसमें कामसे शब्द आदिको और भोगसे रस आदि विषयोंको ग्रहण करना चाहिए। इन सबके विषयमें आसक्तिपूर्ण अतिशय प्रवृत्त रहना, यह उस ब्रह्मचर्याणुव्रतका पाँचवाँ अति-चार है। इन अतिचारोंसे स्वीकृत व्रत मलिन होता है। विशेषके लिए देखिए तत्त्वार्थाधिगमकी टीका ७-२३, योगशास्त्रका स्वोपज्ञ विवरण ३-९४ और सागारधर्मामृतकी स्वो. टीका ४-५८ आदि ।।२७३।।

---

१. अ 'स्तोककालपरिगृहीतागमनं' नास्ति।

वर्जयेन्मोहकरं परयुवतिदर्शनम्, आदिशब्दात्संभाषणादिपरिग्रहः। किंभूतम् ? सविकारं सविभ्रमम्। एते दर्शनादयो यस्मान्मदनबाणाश्चारित्रप्राणान् विनाशयन्तीति। उक्तं च—

अनिशमशुभसंज्ञाभावनासन्निहत्या कुरुत कुशलपक्षप्राणरक्षां नयज्ञाः।
हृदयमितरथा हि स्त्रीविकासाभिधाना मदन-शबरबाणश्रेणयः काणयन्ति[1] ॥
इति ॥२७४॥

उक्तं चतुर्थमणुव्रतमधुना पञ्चममाह—

सचित्ताचित्तेसु इच्छापरिमाणमो य पंचमयं।
भणियं अणुव्वयं खलु समासओ णंतनाणीहिं ॥२७५॥

सचित्ताचित्तेषु द्विपदादि-हिरण्यादिषु। इच्छायाः परिमाणमिच्छापरिमाणं, एतावता-मूर्ध्वमग्रहणमित्यर्थः। एतत्पञ्चममुपन्यासक्रमप्रामाण्याद्भणितमणुव्रतं खलु समासतः सामान्येना-नन्तज्ञानिभिस्तीर्थंकरैरिति ॥२७५॥

[2]भेएण खित्त[3]वत्थूहिरण्णमाईसु होइ नायव्वं।
दुपयाईसु य सम्मं वज्जणमेयस्स पुव्वुत्तं ॥२७६॥

आगे प्रकृत अणुव्रतकी सुरक्षाकी दृष्टिसे रागपूर्ण दृष्टिसे परयुवतीके देखनेका भी निषेध किया जाता है—

रागादिरूप विकारके साथ परयुवतीका देखना और उसके साथ सम्भाषण करना आदि मोहको उत्पन्न करनेवाला है, अतः उसका परित्याग करना चाहिए, क्योंकि ये ऐसे काम-बाण हैं जो संयमीके चारित्ररूप प्राणोंको नष्ट कर दिया करते हैं।

कहा भी है—आहार व मैथुन आदि अशुभ संज्ञाओंकी भावनाको छोड़कर नीतिमान् पुरुषोंको अपने संयमरूप प्राणोंका संरक्षण करना चाहिए। अन्यथा, कामरूप भीलके बाणोंकी पंक्तियाँ, जिन्हें स्त्रीविलास कहा जाता है, हृदयको व्यथित कर देनेवाली हैं ॥२७४॥

आगे क्रमप्राप्त पाँचवें अणुव्रत (इच्छापरिमाणव्रत) का स्वरूप दिखलाया जाता है—

मनुष्य, स्त्री, पुत्र व दासी-दास आदि द्विपद और हाथी-घोड़ा आदि चतुष्पद इन सचित्त वस्तुओंके विषयमें तथा सुवर्ण व चाँदी आदि अचित्त वस्तुओंके विषयमें जो इच्छाका प्रमाण किया जाता है कि मैं उनमें अमुक-अमुक वस्तुको इतने प्रमाणमें ग्रहण करूँगा, इससे अधिकको नहीं ग्रहण करूँगा, इसे संक्षेपमें अनन्तज्ञानियों (वीतराग सर्वज्ञ) के द्वारा पाँचवाँ अणुव्रत (परिग्रहपरिमाण) कहा गया है ॥२७५॥

आगे इसे विशेष रूपसे स्पष्ट किया जाता है—

विशेष रूपसे क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य आदि अचित्त वस्तुओंके विषयमें तथा स्त्री-पुत्रादि द्विपद सचित्त वस्तुओंके विषयमें पूर्वोक्त (१०८) विधिके अनुसार प्रकृत अणुव्रतके विषयका समीचीन-तया परित्याग करना; इसे पाँचवाँ अणुव्रत जानना चाहिए।

---

१. अ 'इति' नास्ति। २. अ समासतो। ३. अ भेदेण खेत्त°।

भेदेन विशेषेण। क्षेत्र-वास्तु-हिरण्यादिषु भवति ज्ञातव्यम्। किम्? इच्छापरिमाणमिति वर्तते। तत्र क्षेत्रं सेतु केतु च उभयं च। वास्त्वगारं खातमुच्छ्रितं खातोच्छ्रितं च। हिरण्यं रजतमघटितमादिशब्दाद्धन-धान्यादिपरिग्रहः। एतदचित्तविषयम्। द्विपदादिषु चेत्येतत्सचित्त-विषयम्—द्विपद-चतुःपदापदादिषु दासी-हस्ति-वृक्षादिषु सम्यक् प्रवचनोक्तेन विधिना। वर्जन-मेतस्य पञ्चमाणुव्रतविषयस्य पूर्वोक्तम्। "उपयुक्तो गुरुमूले" इत्यादिना ग्रन्थेनेति ॥२७६॥

पडिवज्जिऊण य वयं तस्सइयारे जहाविहिं नाउं।
संपुन्नपालणट्ठा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥२७७॥

पूर्ववत् ॥२७७॥

खित्ताइ-हिरन्नाई-धणाइ-दुपयाइ-कुवियगस्स तहा।
सम्मं विसुद्धचित्तो न पमाणाइक्कमं कुज्जा ॥२७८॥

विवेचन—इनमें क्षेत्र (खेत) सेतु, केतु और उभयके भेदसे तीन प्रकारका है। जो खेत अरहट व नहर आदिके द्वारा सिंचित होकर धान्यको उत्पन्न किया करते हैं वे सेतु क्षेत्र कहलाते हैं। जो केवल स्वाभाविक वर्षाके जलसे सिंचित होकर धान्यको उत्पन्न किया करते हैं उन्हें केतु क्षेत्र कहा जाता है तथा जो स्वाभाविक वर्षाके, अरहट व नहर आदिके जलसे सिंचित होकर धान्यको उत्पन्न करते हैं उन्हें उभय (सेतु-केतु) क्षेत्र कहते हैं। इसी प्रकार खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रितके भेदसे वास्तु भी तीन प्रकारका है। वास्तु नाम गृहका है। इनमें भूमिके भीतर तलघरके रूपमें जो मकान बनाये जाते हैं उन्हें खात वास्तु कहते हैं, जिन भवनोंका निर्माण भूमिके ऊपर कराया जाता है वे उच्छ्रित वास्तु कहलाते हैं। तथा भूमिगत तलघरके ऊपर जो भवन निर्मित होते हैं उनका नाम खातोच्छ्रित वास्तु है। हिरण्य नाम चाँदीका है। वह घटित और अघटितके भेदसे दो प्रकारकी है। इनमें जो आभूषणोंके रूपमें परिणत होती है उसे घटित चाँदी कहा जाता है तथा जो अवस्था विशेषसे रहित चाँदी सामान्य स्वरूपमें अवस्थित होती है उसे अघटित कहा जाता है। 'हिरण्यादि'में यहाँ आदि शब्दसे धन-धान्यादिको ग्रहण करना चाहिए। यह सब क्षेत्रादि रूप परिग्रह अचित्तके अन्तर्गत है। गाथोक्त 'द्विपदादि' पदसे अचित्त परिग्रहकी सूचना की गयी है। वह द्विपद, चतुष्पद और अपदके भेदसे तीन प्रकारकी है। दासी-दास आदि द्विपद सचित्त परिग्रह हैं। हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस और बकरी आदि चतुष्पद सचित्त परिग्रह हैं। इनके अतिरिक्त पाँवोंसे रहित वृक्ष-बेल आदिको अपद सचित्त परिग्रह समझना चाहिए। पाँचवें अणुव्रतके धारक श्रावकको उपर्युक्त सभी सचित्त-अचित्त वस्तुओंका परिमाण आगमोक्त (१०८) के अनुसार समीचीनतया करना चाहिए ॥२७६॥

आगे व्रतको स्वीकार कर उसके पूर्ण रूपसे परिपालनके लिए प्रेरणा की जाती है—

व्रतको स्वीकार करके और उसके अतिचारोंको आगमोक्त विधिके अनुसार जान करके उसके पूर्णतया परिपालनके लिए प्रयत्नपूर्वक उन अतिचारोंका परित्याग करना चाहिए ॥२७७॥

उक्त क्षेत्र आदिके स्वीकृत प्रमाणका अतिक्रमण करनेपर वे व्रतको मलिन करनेवाले अतिचार होते हैं, इसकी सूचना की जाती है—

क्षेत्र आदि, हिरण्य आदि, धन आदि, द्विपद आदि और कुप्य इनके प्रमाणका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

क्षेत्रादेरनन्तरोदितस्य तथा [1]हिरण्यादेर्धनादेर्द्विपदादेः कुप्यस्य तथा आसन-शयनादेरुपस्करस्य। सम्यक् विशुद्धचित्तोऽनिर्मायोऽप्रमत्तः सन् न प्रमाणातिक्रमं कुर्यादिति ॥२७८॥

भाविज्ज य संतोसं गहियमियाणिं अजाणमाणेणं[2] ।
थोवं[3] पुणो न एवं गिह्निस्सामोत्ति [न] चिंतिज्जा ॥२७९॥

भावयेच्च संतोषं किम्? अनेन वस्तुना। परिगृहीतेन। तथा गृहीतमिदानीमजानानेन[4] स्तोकमिच्छापरिमाणमिति। पुनर्नैवमन्यस्मिंश्चतुर्मासके गृहीष्यामीति न चिन्तयेदतिचार एष इति[5] गाथार्थः ॥२७९॥

उक्तान्यणुव्रतानि सांप्रतमेषामेवाणुव्रतानां परिपालनाय भावनाभूतानि गुणव्रतान्यभिधीयन्ते।

विवेचन—प्रकृत क्षेत्र आदिके प्रमाणको जिस रूपमें किया गया है उसका प्रमाद व विस्मरण आदिके वश उल्लंघन नहीं करना चाहिए, अन्यथा वे व्रतको मलिन करनेवाले अतिचार होते हैं। यहाँ क्षेत्रादिसे क्षेत्र-वास्तु, हिरण्यादिसे हिरण्य-सुवर्ण, धनादिसे धन-धान्य और द्विपदादिसे द्विपद-चतुष्पदोंका ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकारसे पाँच अतिचार ये होते हैं जिनका परित्याग पाँचवें अणुव्रती श्रावकको करना चाहिए—१ क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम, २ हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रम, ३ धन-धान्य प्रमाणातिक्रम, ४ द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रम और ५ कुप्यप्रमाणातिक्रम। यहाँ धनसे अभिप्राय गाय, भैंस, हाथी व घोड़ा आदि पशुधनका तथा धान्यसे गेहूँ, जुवार व चावल आदिका रहा है। कुप्य शब्दसे चाँदी-सोनेको छोड़ शेष काँसा-पीतल आदि धातुओं एवं आसन, शयन व वस्त्र आदिका ग्रहण करना चाहिए ॥२७८॥

आगे प्रकृत परिग्रह परिमाण अणुव्रतीको गृहीत प्रमाणसे सन्तोष करते हुए कैसा विचार नहीं करना चाहिए, इसे स्पष्ट किया जाता है—

प्रमाणरूपमें जिस वस्तुका ग्रहण किया गया है उससे सन्तोषकी भावना भाना चाहिए। इसके अतिरिक्त 'मैंने बिना जाने-समझे इस समय अल्प प्रमाणको ग्रहण किया है, अब आगे अन्य चातुर्मासमें इस प्रकारसे अल्प प्रमाणका ग्रहण नहीं करूँगा' इस प्रकारके विचारको नहीं करना चाहिए ॥२७९॥

इस प्रकार अणुव्रतोंकी प्ररूपणा करके उनके परिपालनके लिए भावनाभूत तीन गुणव्रतोंका निरूपण करते हुए उनमें दिग्व्रत गुणव्रतका स्वरूप दिखलाते हैं—

ऊपरकी, नीचेकी और तिरछी इन तीन दिशाओंमें जो प्रमाण किया जाता है उसे श्रावक धर्ममें वीर जिनेन्द्रके द्वारा प्रथम दिग्व्रत नामक गुणव्रत कहा गया है।

विवेचन—शास्त्रमें दिशाएँ अनेक प्रकारकी निर्दिष्ट की गयी हैं। उनमें पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर ये चार प्रमुख तिरछी दिशाएँ हैं। इनमें जिस ओरसे सूर्य उदित होता है वह पूर्व दिशा कहलाती है। उसके प्रदक्षिण क्रमसे शेष तीन दिशाएँ ये हैं—दक्षिण, पश्चिम और उत्तर। इनके मध्यमें क्रमसे आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान ये चार विदिशाएँ मानी गयी हैं। इस प्रकार तिरछी दिशाएँ आठ हैं। इनमें एक ऊपरकी और एक नीचेकी इन दो दिशाओंके मिलनेसे दिशाएँ दस हो जाती हैं। इनके विषयमें नियमित प्रमाणको करके उससे आगे न जाना-आना,

१. अ हिरण्यादेधान्यादेर्द्वि°। २. अ अजणेणं। ३. अ एवं। गेह्लिस्सामोण चिंतिज्जा। ४. अ °मजानेन। ५. अ 'इति' नास्ति।

तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति। तद्यथा—दिग्व्रतमुपभोगपरिभोगपरिमाणं अनर्थदण्डपरिवर्जनमिति। तत्राद्यगुणव्रतस्वरूपाभिधित्सयाह—

उड्ढमहे तिरियं पि य दिसासु परिमाणकरणमिह पढमं।
भणियं गुणव्वयं खलु सावगधम्मम्मि वीरेण ॥२८०॥

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्। किम्? दिक्षु परिमाणमिति। दिशो ह्यनेकप्रकारा वर्णिताः शास्त्रे—तत्र सूर्योपलक्षिता पूर्वा, शेषाश्च दक्षिणादिकास्तदनुक्रमेण द्रष्टव्याः। तत्रोर्ध्वदिक्परिमाणमूर्ध्वदिग्व्रतम्—एतावती दिगूर्ध्वं पर्वताद्यारोहणादवगाहनीया[2], न परत इति। एवंभूतमधोदिक्परिमाणं अधोदिग्व्रतम्—एतावत्यधोदिक् इन्द्रकूपाद्यवतरणादवगाहनीया, न परत इति। एवंभूतं तिर्यग्दिक्परिमाणकरणं तिर्यग्दिग्व्रतम्। एतावती दिग् पूर्वेणावगाहनीया, एतावती दक्षिणेनेत्यादि; न परत इत्येवमात्मकम्, एतदित्थं त्रिधा दिक्षु परिमाणकरणम्। इह प्रवचने। प्रथममाद्यं सूत्रक्रमप्रामाण्यात्। गुणाय व्रतं गुणव्रतम्, इत्यस्मिन् हि सत्यवगृहीतक्षेत्राद्बहिः स्थावर-जंगमप्राणिगोचरो दण्डः परित्यक्तो भवतीति गुणः। श्रावकधर्म इति श्रावकधर्मविषयमेव[3]। केन भणितमिति आह वीरेण—

विदारयति यत्कर्म तपसा च विराजते।
तपोवीर्येण युक्तश्च तस्माद्वीर इति स्मृतः॥

तेन इति चरमतीर्थकृता॥२८०॥

गुणव्रतमित्युक्तमतो गुणदर्शनायाह, [4]अथवा गुणव्रताकरणे दोषमाह—

तत्तायगोलकप्पो पमत्तजीवोऽनिवारियप्पसरो।
सव्वत्थ किं न कुज्जा पावं तक्कारणाणुगओ॥२८१॥

इसे दिग्व्रत कहा जाता है। उदाहरणार्थ उपरिम दिशाको लक्ष्य करके 'मैं पर्वत आदिके ऊपर इतनी दूर तक जाऊँगा, इससे आगे न जाऊँगा' इस प्रकारसे ऊर्ध्व दिशाका प्रमाण किया जाता है। इसी प्रकार अधोदिशामें 'मैं सुरंग, कुआँ एवं कोयलेकी खदान आदिमें इतने नीचे तक जाऊँगा, उससे आगे न जाऊँगा' इस प्रकारसे अधोदिशाका प्रमाण किया जाता है। इसी प्रकारसे पूर्वादि दिशाओंके भी प्रमाणको करना चाहिए। इन सब दिशाओंमें यथासम्भव प्रमाणको करके जीवनपर्यन्त प्रयोजनके होते हुए भी उससे आगे न जानेपर प्रकृत दिग्व्रतका परिपालन होता है। इसके पालनसे नियमित प्रमाणके आगे न जानेसे वहाँ त्रस-स्थावर जीवोंका संरक्षण होता है। यहाँ टीकाकारने किसी एक प्राचीन श्लोकको उद्धृत करके 'वीर' का इस प्रकारसे निरुक्तार्थ किया है—जो कर्मका विदारण करता है, तपसे विराजमान (सुशोभित) होता है, अथवा तपके सामर्थ्यसे युक्त होता है उसे 'वीर' माना गया है। यह अन्तिम तीर्थंकरका सार्थक नाम है॥२८०॥

आगे इस व्रतके परिपालनसे होनेवाले गुण (लाभ या उपकार) को अथवा उसके न पालनसे सम्भव दोषको दिखलाते हैं—

प्रमादसे युक्त जीव तपे हुए लोहेके गोलेके समान प्रमादके सामर्थ्यको न रोक सकनेके

---

१. अ मि। २. अ अतोऽग्रे 'सत्यवगृहीतक्षेत्राद्बहिः' पर्यन्तः पाठस्त्वेवंविधोऽस्ति—°गाहनीया एतावती दक्षिणेत्यादि न परतः इत्येवमात्मकं ती क्षेत्राद्बहिस्थावर°। ३. अ गुणश्रावकधर्म्मविषयमेव। ४. अ 'अथवा गुणव्रताकरणे दोषमाह' इत्येतावान् पाठो नास्ति।

समायोगोलकल्पस्तप्तलोहपिण्डसदृशः । कोऽसौ ? प्रमत्तजीवः प्रमादयुक्त आत्मा । असाव-निवारितप्रसरोऽनिवृत्त्या अप्रतिहतप्रमादसामर्थ्यः सन् तथागते । सर्वत्र क्षेत्रे किं न कुर्यात् ? कुर्यादेव पापम् अपुण्यम् । तत्कारणानुगतः प्रमादपापकारणानुगत इति ॥२८१॥

पडिवन्नम्मि य विहिणा इमम्मि तव्वज्जणं गुणो नियमा ।
अइयाररहियपालणभावस्स वि तप्पसूईओ ॥२८२॥

प्रतिपन्ने चाङ्गीकृते च । विधिना सूत्रोक्तेन । अस्मिन् गुणव्रते । तद्वर्जनम् । प्रमाद-पापवर्जनम् । गुणो नियमादात्मोपकारोऽवश्यंभावी । न चैवं मंतव्यं एतदर्थपरिपालनभाव एव ज्यायान्, न त्वेतत्प्रतिपत्तिः । कथम् ? अतिचाररहितपालनभावस्यापि निरतिचारपालनभाव-स्यापि । तत्प्रसूतेर्गुणव्रतादेवोत्पादात्तथाप्रतिपत्तौ हि तथाप्रतिपन्नं[1] इति ॥२८२॥

इदमतिचाररहितमनुपालनीयमतोऽस्यैवातिचारानभिधित्सुराह—

उड्ढमहे तिरियं पि य न पमाणाइक्कमं सया कुज्जा ।
तह चेव खित्तवुड्ढिं कहिंचि सइअंतरद्धं च ॥२८३॥

कारण सर्वत्र—समस्त क्षेत्रमें—प्रमादके कारणोंका अनुसरण करता हुआ क्या पापको नहीं करता है ? अवश्य करता है ।

विवेचन—जिस प्रकार सन्तप्त लोहेको पानीमें डालनेपर सब ओरसे वह पानीके परमाणुओं-को खींचता है उसी प्रकार प्रमाद (कषाय) से सन्तप्त प्राणी व्रतसे रहित होनेके कारण उस प्रमादके सामर्थ्यको नष्ट नहीं कर पाता है, जिसके आश्रयसे वह पापाचरण करता है और कर्मको बांधता है। इसलिए पापाचरणसे बचनेके लिए यहाँ दिग्व्रतके ग्रहणकी प्रेरणा की गयी है। इस दिग्व्रतके स्वीकार कर लेनेपर व्रती श्रावक चूँकि स्वीकृत प्रमाणके बाहर नहीं जाता है, इसीलिए वह वहाँ अहिंसामहाव्रती जैसा हो जाता है। इसीसे वह जिस प्रकार शीतल लोहपिण्डके जलमें डालनेपर भी वह जलीय परमाणुओंके ग्रहणमें असमर्थ रहता है उसी प्रकार वह दिग्व्रती श्रावक प्रमादके अभावमें पापप्रवृत्तिसे रहित होता हुआ कर्मबन्धसे रहित होता है ॥२८१॥

अब इस दिग्व्रतसे होनेवाले गुण (उपकार) दिखलाते हुए अतिचाररहित उसके पालनकी प्रेरणा की जाती है—

आगमोक्त विधिके अनुसार इस व्रतके स्वीकार कर लेनेपर पापके कारणभूत उस प्रमादका जो परिहार हो जाता है, वह नियमसे आत्माका उपकार करनेवाला गुण है। कारण यह कि अतिचाररहित उस व्रतके पालनका परिणाम भी यथाविधि उस व्रतके स्वीकार कर लेनेपर ही उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि आगमोक्त विधिके अनुसार जबतक गुरुके समक्ष विवक्षित व्रतको स्वीकार नहीं किया जाता तबतक उसके परिपालनका परिणाम भी स्थिर नहीं रह सकता ॥२८२॥

आगे इस व्रतके निरतिचार परिपालनके लिए उसके अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

ऊर्ध्वदिशाप्रमाणातिक्रम, अधोदिशाप्रमाणातिक्रम, तिर्यग्दिशाप्रमाणातिक्रम तथा क्षेत्र-वृद्धि और किसी भी प्रकारसे स्मृतिके अन्तर्धान इन पांच अतिचारोंको नहीं करना चाहिए।

---

१. अ °तथाप्रतिपन्नो हि तथाप्रतिपन्न ।

ऊर्ध्वमधस्तिर्यगपि च न प्रमाणातिक्रमं सदा कुर्यादिति ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रमो यावत्-परिमाणं गृहीतं तस्य अतिलंघनम् तन्न कुर्यात् । १ । एवमधोदिक्तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रमयोरपि भावनीयम् । २, ३ । तथैव क्षेत्रवृद्धि न कुर्यात् । यथैवं अतिचारत्रयं क्षेत्रवृद्धिश्च—एकतो योजन-शतमभिगृहीतमन्यतो दशयोजनानि, ततस्तस्यां दिशि समुत्पन्ने कार्ये योजनशतमध्यादपनीया-न्येषां दशादियोजनानां तत्रैव स्वबुद्धया प्रक्षेपो वृद्धिकरणमिति । ४ । कथंचित् स्मृत्यन्तर्धानम्, न कुर्यादिति वर्तते, स्मृतेर्भ्रंशोऽन्तर्धानं स्मृत्यन्तर्धानम्—किं मया परिगृहीतं कथा वा मर्यादये-त्येवमनुस्मरणमित्यर्थः । स्मृतिमूलं हि नियमानुष्ठानम्, तद्भ्रंशे तु नियमत एव तद्भ्रंश इति अतिचारतेति ।४।

तत्र वृद्धसंप्रदायः—उड्ढं जं पमाणं गहियं तस्स उवरिं पव्वयसिहरे रुक्खे वा पक्खी वा मक्कडो वा सावगस्स वत्थं वा आभरणं वा गिण्हिउ पमाणाइरेगं भूमिं वच्चेज्जा[1] । तत्थ से ण कप्पए गंतुं । जाहे तं पडियं अन्नेण वा आणियं ताहे कप्पइ । एयं पुण अट्ठावय-उज्जंतादिसु हवेज्जा । एवं अहे कुवियाईसु विभासा । तिरियं जं पमाणं गहियं तं तिविहेण वि करणेण णाइक्कमियव्वं । खेत्तवुड्ढी न कायव्वा सो पुव्वेणं भंडं गहाय गओ जाव तं परिमाणं, तओ परेण तं भंडं अग्घइत्ति काउं अवरेण जाणि जोयणाणि ताणि पुव्वदिसाए ण छुभेज्जा, सिय वोलीणो होज्जा णियत्तियव्वं । विस्सरीए वा ण गंतव्वं, अन्नो वि न विसज्जियव्वो । अणाणाए कोई[2] गओ होज्जा जं विसुमरियखेत्तगएण लद्धं अणाणाहिगएण[3] वा तं ण गिल्लिज्जई ॥२८३॥

विवेचन—अभिप्राय यह है कि स्वीकृत व्रतके लिए उक्त पांच अतिचारोंका परित्याग अवश्य करना चाहिए—(१) ऊर्ध्वदिशाप्रमाणातिक्रम—ऊर्ध्वदिशामें पर्वत आदिके ऊपर जितने कोश आदि तक जानेका प्रमाण स्वीकार किया है उसका कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ पर्वत शिखर अथवा वृक्ष आदिके पक्षी व बन्दर आदि श्रावकके वस्त्र अथवा आभ-रण आदिको ले गया है तो उसे उसके लिए स्वीकृत प्रमाणके आगे नहीं जाना चाहिए। हाँ, यदि कोई अन्य उसकी अनुमतिके विना लाकर दे देता है तो उसे वह ग्रहण कर सकता है। ऐसा न करनेपर उसका वह व्रत इस प्रथम अतिचारसे दूषित होता है। (२) अधोदिशाप्रमाणातिक्रम—इसी प्रकार अधोदिशागत प्रमाणके विषयमें भी समझना चाहिए। (३) तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम—तिर्यग्दिशाओंमें पूर्वादिशाओंमें भी जितने योजनादि रूप प्रमाणको ग्रहण किया है उसका उल्लंघन करनेपर यह तीसरा अतिचार होता है। (४) क्षेत्रवृद्धि—स्वीकृत क्षेत्रके बढ़ा लेनेपर यह चौथा अतिचार होता है। उदाहरणार्थ—यदि कोई बन्दर या चोर आदि किसी वर्तन आदि को लेकर चला गया है तो जितना प्रमाण विवक्षित पूर्व आदि दिशाके विषयमें स्वीकार किया है उसके आगे वह वर्तन आदि चूँकि व्रती श्रावकको ग्रहण करनेके योग्य नहीं है, इस विचारसे पश्चिम दिशामें जितने योजनोंका प्रमाण ग्रहण किया है उन्हें विवक्षित पूर्व दिशामें नहीं जोड़ना चाहिए। यदि कदाचित् वह गृहीत प्रमाणके आगे उसे लेकर चला गया है तो स्वीकृत प्रमाणके आगे न जाकर लौट आना चाहिए। (५) स्मृत्यन्तराधान—'मैंने अमुक दिशामें कितने प्रमाणको ग्रहण किया है अथवा किस मर्यादासे ग्रहण किया है' इत्यादिका ठीक-ठीक स्मरण नहीं रहना, इसका नाम स्मृत्यन्तराधान अतिचार है। विस्मृत क्षेत्रके भीतर न स्वयं जाना चाहिए और न किसी अन्यको भी भेजना चाहिए। हाँ, यदि कोई विना अनुमतिके विस्मृत क्षेत्रमें जाकर उसे ले

---

१. अ °रेगं तमी उ वच्चेज्जा। २. अ अण्णाणा कोइ। ३. अ अणाहीगएण। ४. अ गेल्लति।

उक्तं सातिचारं प्रथमं गुणव्रतम्, अधुना द्वितीयमुच्यते—

उवभोगपरिभोगे बीयं परिमाणकरणमो नेयं ।
अणियमियवाविदोसा न भवंति कयम्मि गुणभावो ॥२८४॥

उपभोगपरिभोगयोरिति उपभोगपरिभोगविषये यत्परिमाणकरणं तदेव द्वितीयं गुणव्रतं विज्ञेयमिति पदघटना । पदार्थस्तु—उपभुज्यत इत्युपभोगः, अशनादिः, उपशब्दस्य सकृदर्थत्वात्सकृद्भुज्यत इत्यर्थः । परिभुज्यत इति परिभोगो वस्त्रादिः, पुनः पुनः भुज्यत इति भावः । परिशब्दस्याभ्यावृत्त्यर्थत्वादयं चात्मक्रियारूपोऽपि[1] भावतो विषये उपचरितो विषय-विषयिणोरभेदोपचारात् । अन्तर्भोगो वा उपभोगः, उपशब्दस्यान्तर्वचनत्वात् । बहिर्भोगो वा परिभोगः, परिशब्दस्य बहिर्वाचकत्वात् । एतत्परिमाणकरणं एतावदिदं भोक्तव्यमुपभोक्तव्यं वा अतोऽन्यन्नेत्येवंरूपम् । अस्मिन् कृते गुणमाह—अनियमिते असंकल्पिते ये व्यापिनस्तद्विषयं व्याप्तुं शीला दोषास्ते न भवन्ति कृतेऽस्मिंस्तद्विरतेरिति गुणभावोऽयमत्र गुण इति ॥२८४॥

सांप्रतमुपभोगादिभेदमाह—

सो दुविहो भोयणओ कम्मयओ चेव होइ नायव्वो ।
अइयारे वि य इत्थं वुच्छामि पुढो समासेणं ॥२८५॥

आता है तो ले लेना चाहिए । पर आज्ञाके अनुसार जानेपर उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए । इसके विरुद्ध आचरण करनेपर व्रतको दूषित करनेवाला यह स्मृत्यन्तराधान नामका पाँचवाँ अतिचार होता है, क्योंकि व्रत-नियमानुष्ठानका प्रमुख कारण स्मृति है, उसके भ्रष्ट होनेपर व्रत नियमसे मलिन होनेवाला है ॥२८३॥

आगे क्रमप्राप्त द्वितीय गुणव्रतका स्वरूप कहा जाता है—

उपभोग और परिभोगके विषयमें जो प्रमाण किया जाता है उसे उपभोग-परिभोग प्रमाणव्रत नामक दूसरा गुणव्रत जानना चाहिए । उनके प्रमाणके कर लेनेपर अनियमित रूपसे व्याप्त होनेवाले दोष नहीं होते हैं, यह उसका गुण (उपकार) है ।

विवेचन—'उपभुज्यते इति उपभोगः' इस निरुक्तिके अनुसार उपभोग शब्दका अर्थ एक बार भोगा जानेवाला पदार्थ होता है । जैसे—भोजन आदि, क्योंकि ये एक ही बार भोगे जा सकते हैं । 'परिभुज्यते इति परिभोगः' इस निरुक्तिके अनुसार 'परिभोग' का अर्थ बार-बार भोगा जानेवाला पदार्थ होता है । जैसे—वस्त्र आदि, क्योंकि उन्हें बार-बार भोगा जा सकता है । यद्यपि भोग और उपभोग क्रिया आत्मस्वरूप है तो भी यहाँ विषयमें विषयीके अभेदोपचारसे उनसे क्रमशः एक बार भोगे जानेवाले और बार-बार भोगे जानेवाले पदार्थोंको ग्रहण करना चाहिए । अथवा उपभोग शब्दके अन्तर्वाची होनेसे उससे अन्तर्भोगको और परिभोग शब्दके बहिर्वाची होनेसे उससे बाह्य भोगको ग्रहण करना चाहिए । 'उनके विषयमें मैं इतने प्रमाणमें उनका उपभोग और परिभोग करूँगा' इससे अधिकका नहीं करूँगा, इस प्रकारका प्रमाण करके उससे अधिक उपभोग-परिभोग- की इच्छा न करना, इसे उपभोग-परिभोग परिमाण गुणव्रत कहा जाता है । इस प्रकारका प्रमाण कर लेनेसे असीमित अवस्थामें जो दोष उत्पन्न हो सकते थे उनका उससे निरोध हो जाता था ॥२८४॥

आगे उपर्युक्त उपभोग और परिभोगके भेदोंका निर्देश किया जाता है—

---

१. अ 'पि' नास्ति ।

स उपभोगः परिभोगश्च[1]। द्विविधो द्विप्रकारः। भोजनतो भोजनमाश्रित्य। कर्मतश्चैव भवति ज्ञातव्यः, कर्म चाङ्गीकृत्येत्यर्थः। तत्र भोजनतः श्रावकेणोत्सर्गतो निरवद्याहारभोजिना भवितव्यम्। कर्मतोऽपि प्रायो निरवद्यकर्मानुष्ठानयुक्तेन। विचित्रत्वाच्च देशविरतेर्दिवन्नोऽत्रापवाद इत्यत एवैवमेवैवमेवेति वा सूत्रे[2], न नियमितमतिचाराभिधानाच्च विचित्रस्तद्विधिः स्वधियाव-सेय इति। तथा च वृद्धसंप्रदायः—भोजनओ सावगो उस्सग्गेण फासुयं एसणियं आहारं आहारेज्जा। तस्सासति अणेसणीयमवि सचित्तवज्जं। तस्सासति अणंतकायं बहुबीयाणि परि-हरेज्जा—असणे अल्लग-मूलग-मंसादि, पाणे मंसरस-मज्जाइ, खाइमे पंचुंबरिगादि, साइमे महुमाइ। एवं परिभोगे वि वत्थाणि थूल-धवलप्पमुल्लाणि परिमियाणि परिभुंजेज्जा सासण-गोरवत्थसुचरिओ (?) वरसिभाषा याव देवदूसाइ परिभोगेण वि परिमाणं करेज्जा। कम्मओ वि अकम्मो ण तरइ जीविउं ताहे[3] अच्चन्तसावज्जाणि परिहरेज्जा। एत्थं पि एक्कसिं चेव जं कीरइ कम्मं पहरववहरणावि विवक्खाए तमुवभोगो, पुणो पुणो य जं तं पुण परिभोगो त्ति। अन्ने पुण कम्मपक्खे उवभोगपरिभोगओयणं ण कीरंति। उवन्नासोय एयस्सुवभोगपरिभोगकारण-भावेणंति। इति कृतं प्रसङ्गेन।

इहेवमपि चातिचाररहितमनुपालनीयमिति तदभिधित्सयाह—अतिचारानपि चैतयो-र्भोजन-कर्मणोः वक्ष्येऽभिधास्ये पृथक् प्रत्येकम्। समासेन संक्षेपेणेति ॥२८५॥

उस उपभोग और परिभोगको भोजन और कर्मकी अपेक्षा दो प्रकारका जानना चाहिए। आगे इनके अतिचारोंका भी निर्देश पृथक् पृथक् संक्षेपमें इस प्रकारसे किया जाता है।

विवेचन—प्रकृत उपभोग-परिमाणव्रतमें श्रावकको भोजनकी अपेक्षा सामान्यसे निर्दोष आहारको ग्रहण करना चाहिए। कर्मकी अपेक्षा भी उसे प्रायः निर्दोष कर्मके अनुष्ठानसे युक्त होना चाहिए। देशविरति अनेक प्रकारकी है, अतः उसके विषयमें अपवाद भी सम्भव है। इसीसे 'यह इसी प्रकारका है अथवा यह इसी प्रकारका है ऐसा सूत्रमें नियम नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त उसके अतिचार भी कहे गये हैं, इसलिए उसके विधानका निश्चय अपनी बुद्धिके अनुसार करना चाहिए।

यहाँ टीकाकारने 'वृद्धसम्प्रदाय' के अनुसार उसका स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा है कि श्रावकको सामान्यसे प्रासुक (जीव-जन्तुओंसे रहित) और एषणीय (ग्रहण करने योग्य) आहारका उपभोग करना चाहिए। यदि प्रासुक व एषणीय आहारकी प्राप्ति सम्भव न हो तो सचित्तको छोड़कर अनेषणीयको भी ग्रहण कर सकता है। पर यदि अचित्त भी उक्त भोजन न प्राप्त हो सके तो सचित्तमें अनन्तकाय (साधारण वनस्पति) और बहुबीजोंको छोड़ना चाहिए। चार प्रकारके आहारमें-से अशनमें आर्द्रक (अदरख), मूली और मांस आदिको; पानमें मांसरस और मद्य आदि, खाद्यमें पांच उदुम्बर फल आदि और स्वाद्यमें मधु आदिको छोड़ना चाहिए। इस प्रकारसे यह भोगके विषयमें निर्देश किया गया है। इसी प्रकार परिभोगमें भी श्रावकको स्थूल, धवल और अल्प मूल्य वाले वस्त्रोंका परिमित रूपमें परिभोग करना चाहिए।... ....(?) देवदूष्य वस्त्र तक परिभोगसे भी प्रमाण करना चाहिए। कर्मकी अपेक्षा श्रावक चूंकि कर्मके बिना जीवित नहीं रह सकता है, इसलिए कर्म करते हुए उसे अत्यन्त सावद्य कर्मोंको छोड़ना चाहिए। यहाँ (कर्ममें) भी जो कर्म पहर-व्यवहारादिकी विवक्षासे एक ही बार किया जाता है उसे

---

१. अ सो दुविहो स उपभोगः परिभोगश्च। २. अ इत्येत एवेदमूले ति वा सूत्रे। ३. अ ताहि।

तत्र भोजनतोऽभिधित्सयाह—

सच्चित्ताहारं खलु तप्पडिबद्धं च वज्जए सम्मं ।
अप्पोलिय-दुप्पोलिय-तुच्छोसहिभक्खणं चेव ॥२८६॥

सचित्ताहारं खलु सचेतनं मूल-कन्दादिकम् । तत्प्रतिबद्धं च वृक्षस्थगुन्द-पक्वफलादिलक्षणम् । वर्जयेन्निहरेत् सम्यक् प्रवचनोक्तेन विधिना । तथा अपक्व- दुःपक्व-तुच्छौषधिभक्षणं च, वर्जयेदिति वर्तते । तत्रापक्वाः प्रसिद्धाः दुःपक्वास्त्वर्धस्विन्नाः, तुच्छास्त्वसारा मुद्गफलीप्रभृतय इति ॥२८६॥

उक्ता भोजनातिचाराः, सांप्रतं कर्माश्रित्याह—

इंगाली-वण-साडी-भाडी-फोडीसु वज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव दंत-लक्ख-रस-केस-विसविसयं ॥२८७॥

अङ्गार-वन-शकट-भाटक-स्फोटनेषु एतद्विषयम्[2] । वर्जयेत् कर्म न कुर्यात् । तत्राङ्गार-

---

उपभोग और जो पुनः-पुनः किया जाता है उसे परिभोग कहा जाता है । अन्य कितने ही आचार्य कर्मपक्षमें प्रकृत उपभोग-परिभोगकी योजना नहीं करते हैं । इसका उपन्यास उपभोग-परिभोगके कारण स्वरूपसे किया गया है । इस व्रतका भी परिपालन अतिचारोंसे रहित करना चाहिए, इसी अभिप्रायसे गाथाके उत्तरार्धमें भोजन और कर्म इन दोनोंके पृथक्-पृथक् अतिचारोंके संक्षेपमें कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है ॥२८५॥

उनमें आगे भोजनकी अपेक्षा उसके अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

सचित्त आहार, सचित्त प्रतिबद्धाहार, अपक्वभक्षण, दुष्पक्वभक्षण और तुच्छ औषधिभक्षण, ये भोजनकी अपेक्षा उसके पाँच अतिचार कहे गये हैं । इनका आगमोक्त विधिके अनुसार परित्याग करना चाहिए ।

विवेचन—(१) कन्द व मूली आदि जो भोज्य पदार्थ चेतनासे सहित होते हैं उनका नाम सचित्त आहार है । (२) वृक्षसे सम्बद्ध गोंद और पके फल आदिको सचित्त वृक्षसे सम्बद्ध होनेके कारण सचित्त समझना चाहिए । वृक्षसे विभक्त होनेपर वे अचित्त माने गये हैं । (३) जो भोज्य पदार्थ पका न हो—कच्चा हो—उसे अपक्व आहार जानना चाहिए । (४) जो भोज्य पदार्थ अधपका हो वह दुष्पक्व कहलाता है । (५) मूँगकी फलियों आदिको तुच्छ औषधि—निःसार वस्तु—समझना चाहिए । ये भोजनकी अपेक्षा उपभोग परिभोगपरिमाणव्रतके पाँच अतिचार माने गये हैं । आगममें जिस प्रकारसे इनके स्वरूपका विधान किया गया है तदनुसार ही उनका परित्याग करना चाहिए । अन्यथा, स्वीकृत वह व्रत नियमसे मलिन होनेवाला है ॥२८६॥

आगे उक्त उपभोग-परिभोग परिमाणव्रतके विषयमें जो कर्मविषयक १५ अतिचार कहे गये हैं उनमें प्रथमतः १० अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

अंगारकर्म, वनकर्म, शकटकर्म, भाटककर्म, स्फोटनकर्म, दन्तवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, रसवाणिज्य, केशवाणिज्य और विषविषयक वाणिज्य; इनका परित्याग करना चाहिए ।

विवेचन—इनका स्वरूप वृद्धसम्प्रदायके अनुसार इस प्रकार है—(१) **अंगारकर्म**—अग्निको प्रज्वलित कर कोयला, लोहे आदिके उपकरण बनाये जाते हैं । इनमें छह कायके जीवोंका घात

---

१. अ अप्पउलियदुप्पउलिय । २. अ 'एतद्विषयं' इत्यतोऽग्रेऽग्रिम 'विषविषयं' पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति ।

कर्मांगारकरणविक्रयविषया । एवं शेषेष्वप्यक्षरगमनिका कार्या । तथा वाणिज्यं चैव, दन्त-लाक्षा-रस-केश-विषविषयं वन्तादिगोचरम् । वर्जयेत् परिहरेदिति ॥२८७॥

एवं खु जंतपीलणकम्मं निल्लंछणं च दवदाणं ।
सर-दह-तलायसोसं असईपोसं च वज्जिज्जा ॥२८८॥

होता है, इसीलिए श्रावकको ऐसा सावद्य कर्म करना उचित नहीं है। (२) वनकर्म—जो जंगलको खरीदकर या ठेकेपर लेकर उसमें स्थित वृक्षोंको कटवाता है और उनके मूल्यसे आजीविका करता है, इसके अतिरिक्त पत्तियों आदिको तुड़वाकर उनसे आजीविका चलाता है, इसे वनकर्म कहा जाता है। प्राणिविघातका कारण होनेसे यह कर्म भी श्रावकके लिए निषिद्ध है। (३) शकटकर्म—शकट नाम बैलगाड़ीको चलाकर उसके आश्रयसे जीविका करना, इसे शकटकर्म कहा जाता है। इस क्रियामें बैलोंको बांधना, उन्हें गाड़ीमें चलाना एवं ताड़ित आदि करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त गाड़ीके चलाते समय उसके नीचे दबकर कितने ही त्रस जीवोंका घात होता है, इसीलिए श्रावकके लिए यह कर्म निषिद्ध माना गया है। इसी प्रकार गाड़ीको बनाकर या दूसरोंसे बनवाकर उसे बेचने आदिको भी निषिद्ध समझना चाहिए। (४) भाटक कर्म—गाड़ी आदिके द्वारा बोझा ढोकर भाड़ेके आश्रयसे आजीविका करना, इसे भाटककर्म कहते हैं। श्रावक अपनी गाड़ी आदिके द्वारा निजके बोझे आदिके ढोनेका काम कर सकता है, पर दूसरेके बोझे आदिको ढोकर उससे भाड़ा कमाना उसे उचित नहीं है। इसी प्रकार दूसरोंसे बैलोंको मांगकर उनके आश्रयसे जीविकाका उपार्जित करना भी हेय माना गया है। (५) स्फोटककर्म—सुरंग आदिमें बारूदके आश्रयसे पत्थरोंका तोड़ना, हल-बखर आदिके द्वारा भूमिको जोतना व बखरना आदि क्रियायें इस स्फोटक कर्मके अन्तर्गत मानी जाती हैं। अनेक प्राणियोंका नाशक होनेसे यह कर्म भी श्रावकके लिए उचित नहीं माना गया। (६) दन्तवाणिज्य—हाथीके दाँतोंको देनेके लिए पहलेसे मूल्य देकर उनसे मँगाना और उनके आश्रयसे व्यापार करना, यह दन्तवाणिज्य कहलाता है। व्यापारी उन दाँतोंको लेनेके लिए शीघ्र आयगा, इस विचारसे भील, हाथीको मारकर उसके दाँतोंको प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार शंखोंके लिए मूल्य देकर उन्हें धीवरोंसे मँगाना, यह कार्य भी जीववधका कारण होनेसे योग्य नहीं है। हाँ, यदि भील और धीवर श्रावककी अनुमतिके विना प्रथम मूल्य न लेकर स्वयमेव उन्हें लाते हैं तो यह श्रावकके लिए दोषका कारण नहीं है। (७) लाक्षावाणिज्य—लाखके द्वारा व्यापार इसका नाम लाक्षावाणिज्य है। लाख वृक्षोंसे निकाली जाती है, इसमें कितने ही सूक्ष्म त्रस जीव अनन्तकाय जीवोंका विघात होता है, इस लाखके व्यापारके तथा ऐसे ही जीवविघातक अन्य चीजोंके भी व्यापारका परित्याग करना उचित है। (८) रसवाणिज्य—का अभिप्राय कलालके व्यापारसे है। इस व्यापारमें विभिन्न प्रकारके मद्यका क्रय-विक्रय हुआ करता है। मद्यके पानेमें मारना, गाली देना और हत्या आदि करना जैसे बहुतसे दोष देखे जाते हैं। इसीलिए श्रावकको कलालका व्यापार करना उचित नहीं है। (९) केशवाणिज्य—केशवाली दासियोंको ले जाकर अन्यत्र जहाँ अच्छा मूल्य प्राप्त किया जा सके, बेंचना, इसका नाम केशवाणिज्य है। इस व्यापारमें बेची गयी दासियोंको परतन्त्रता, मारन-ताड़न एवं बल पूर्वक अनेक उचित-अनुचित कार्योंका करना; इत्यादि अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। इसीलिए श्रावकको इस निकृष्ट व्यापारका परित्याग करना ही उचित है। (१०) विषैली वस्तुओंके क्रय-विक्रयका नाम विषवाणिज्य है। इन वस्तुओंके उपयोगसे बहुतसे जीवोंकी विराधना देखी जाती है। इसलिए व्रती श्रावकको इस घृणित व्यापारको भी छोड़ना चाहिए ॥२८७॥

एवमेव शास्त्रोक्तेन विधिना । यन्त्रपीडनकर्म निर्लांछनं[1] च कर्म दवदानं सरोह्रद-तडागशोषं असतीपोषं च वर्जयेदिति गाथाद्वयाक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादेव अवसेयः । स चायम्—

इंगालकम्मंति इंगाले[2] डहिउं विक्किणइ तत्थ छण्हं कायाणं वहो, तं[3] न कप्पइ । वणकम्मं जो वणं किणइ पच्छा रुक्खे छिंदिउं मुल्लेण जीवइ । एवं पत्तिगाइवि[4] पडिसिद्धा भवंति । साडीकम्मं सागडियत्तणेण जीवइ । तत्थ बंध-वहाई बहुदोसा[5] । भाडीकम्मं सएण भंडोवक्खरेण भाडएण वहइ, परायगं ण कप्पइ । अन्नेसिं वा सगडे बइल्लयवेइ[6], एवमाइ ण कप्पइ । फोडीकम्मं उडसणं[7] हलेण वा भूमिं फाडेउं जीवइ । दंतवाणिज्जं पुव्वं चेव पुलिंदाणं मुल्लं देइ दंते देज्जाहित्ति, पच्छा पुलिंदा हत्थि घाएंति[8] अचिरा सो वाणियओ एतित्ति काउं । एवं चीवराणं संखमुल्लं देइ । एवमाइ न कप्पइ । पुव्वाणीयं किणइ । लक्खवाणिज्जे वि एए चेव दोसा तत्थ किमिया होंति । रसवाणिज्जं कल्लावालगत्तणं । तत्थ सुराइपाणे बहुदोसा मारण-अक्कोस-वहाई । तम्हा न कप्पइ । केसवाणिज्जं दासीओ गहाय अन्नत्थ विक्किणइ जत्थ अग्घंति । एत्थ वि अणेगे दोसा परवसत्तादयो । विसवाणिज्जं विसविक्कओ, सो ण कप्पइ । तेण बहूण जीवाण विराहणा । जंतपीलणकम्मं तेल्लियजंतं उच्छुजंतं चक्कमादी, तं न कप्पइ । निल्लंछणकम्मं वद्धेउं बल्लद्दाइ न[9] कप्पइ । दवग्गिदावणयाकम्मं वणदवं देइ छेत्तरक्खणनिमित्तं, जहा उत्तरावहे, पच्छा दड्ढे तरुणगतणं उट्ठेइ । तत्थ सत्ताणं सयसहस्साण वहो । सरदहतलायसोसण-याकम्मं सर-दह-तलाईणि सोसेइ पच्छा वाविज्जइ, एयं ण कप्पइ । असईपोसणयाकम्मं असईओ

अब उनमें शेष पांच कर्मोंका भी निर्देश किया जाता है—

इसी प्रकार यन्त्र पीड़न कर्म, निर्लांछन कर्म, दवदान, सर-द्रह-तडागशोषण और असती-पोष इस भोगोपभोग परिमाण व्रतीको कर्म विषयक इन शेष पांच अतिचारोंका भी परित्याग करना चाहिए।

विवेचन—इन कर्मोंका भी स्पष्टीकरण इस प्रकार है। (११) **यन्त्रपीड़न कर्म**—तेलके यन्त्र (कोल्हू), ईखके यन्त्र और चक्र आदि कर्मोंको भी हेय जानकर इनका भी श्रावकको परित्याग करना चाहिए। कारण यह कि इन यन्त्रोंके द्वारा तेल व ईखके रस आदिके निकालनेमें प्राणियों-को पीड़ा हुआ करती है। (१२) **निर्लांछन कर्म**—इस कर्ममें बैलोंका बधिया—सन्तानोत्पत्तिके अयोग्य किया जाता है, इससे उनको भारी कष्ट पहुँचता है। इसके अतिरिक्त उसकी नासिकाको छेदकर उसके भीतर रस्सी डाली जाती है व उन्हे नियन्त्रणमें रखनेके लिये उसे इधर-उधर खींचा जाता है। बहुतसे पशुओंके कान आदि अवयवोंको छेदा जाता है। इन सब क्रियाओंसे प्राणियोंको बहुत कष्ट पहुँचता है। इसीलिए श्रावकको इसका परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। (१३) **दवदान**—क्षेत्रकी रक्षाके लिए कहीं-कहीं वनमें आग लगाई जाती है, जिससे असंख्य प्राणियोंका मरण होता है। खेतको उपजाऊ बनानेके लिए उसमें भी कभी आग लगायी जाती है। जैसे उत्तर भारतमे वृक्षोंको उत्पन्न करनेके लिए आग लगायी जाती है, जिससे वृक्षसमूह अंकुरित होता है। यह कर्म भी प्राणिपीड़ाका कारण होनेसे श्रावकके लिए हेय है। (१४) **सर-द्रह-तडागशोषण**—तालाब आदि जलाशयोंके पानीको निकालकर व उन्हें सुखाकर धान्य आदिको बोया जाता है, इसे सर-द्रह-तडागशोषण कर्म कहा जाता है। इससे जल-जन्तुओंके साथ

---

१. अ निलांछनं । २. अ अंगाले । ३. अ तन्न । ४. अ पुन्नगाइवि । ५. अ बंधवहोयं च दोसा । ६. अ बइल्लेयवेइ । ७. अ उडसेणं । ८. अ घणंति । ९. अ वद्धेऊ बल्लद्दाही ण ।

पोसेइ, जहा गोल्लविसए जोणिपोसगा दासीण भणियं भाडिं गेण्हंति। प्रदर्शनं चैतद्बहुसावद्यानां कर्मणामेवंजातीयानाम्, न पुनः परिगणनमिति ॥२८८॥

उक्तं सातिचारं द्वितीयं गुणव्रतम्, सांप्रतं तृतीयमाह—

विरई अणत्थदंडे तच्चं स चउव्विहो अवज्झाणो।
पमायायरिय-हिंसप्पयास-पावोवएसे य ॥॥२८९॥

विरतिर्निवृत्तिरनर्थदण्डे अनर्थदण्डविषया इह लोकमप्यङ्गीकृत्य निःप्रयोजनभूतोपमर्दनिग्रहविषया तृतीयम्, गुणव्रतमिति गम्यते। स चतुर्विधः सोऽनर्थदण्डः चतुःप्रकारः। अपध्यान इति अपध्यानाचरितोऽप्रशस्तध्यानेनासेवितः। अत्र देवदत्तश्रावक-कोङ्कणार्यकसाधुप्रभृतयो ज्ञापकम्। प्रमादाचरितो मद्यादिप्रमादेनासेवितः। अनर्थदण्डत्वं चास्योक्तशब्दार्थद्वारेण स्वबुद्धया भावनीयम्। हिंसाप्रदानं इह हिंसाहेतुत्वादायुधानल-विषादयो हिंसोच्यते, कारणे कार्योपचारात्।

अन्य भी अनेक जीवोंका विनाश होता है। इसलिए यह कर्म भी निषिद्ध माना गया है। (१५) असतीपोष—भाड़ा ग्रहणकी इच्छासे असतीजन—दुराचारिणी स्त्रियोंका पोषण करना, जैसे गोल्ल देशमें योनिपोषक दासियोंको कथित भाड़ेके लिए ग्रहण किया करते हैं। सा. ध. ५-२२ की स्वो. टीकामें भाड़ा ग्रहण करनेके लिए हिंसक प्राणियोंके पोषणको असतीपोष कहा गया है। इस प्रकार इन दो (२८७-२८८) गाथाओंमे निर्दिष्ट पन्द्रह कर्मविषयक अतिचारोंका उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रतीको परित्याग करना चाहिए। यहाँ जो केवल इन पन्द्रह कर्मोंका ही निषेध किया गया है उसे प्रदर्शन मात्र समझना चाहिए। कारण इसका यह है कि उक्त १५ कर्मोंके अतिरिक्त अन्य कितने ही पापोत्पादक कर्म हैं, जिनकी गणना करना अशक्य है। इसलिए व्रती श्रावकको अपनी विवेकबुद्धिसे विचारकर यथायोग्य सावद्य कर्मोंका परित्याग करना योग्य है। लगभग यही अभिप्राय सागार धर्मामृत (५, २१-२३) में प्रकट किया गया है ॥२८७-२८८॥

आगे क्रमप्राप्त तीसरे गुणव्रतका स्वरूप कहा जाता है—

अनर्थदण्डके विषयमें जो निवृत्ति की जाती है उसे अनर्थदण्डव्रत नामका तीसरा गुणव्रत कहा जाता है। वह चार प्रकारका है—अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और पापोपदेश।

विवेचन—अर्थ शब्द प्रयोजन और दण्ड शब्दका अर्थ पीड़न है। तदनुसार अनर्थ—प्रयोजनके बिना—जो जीवोंको पीड़ा पहुँचायी जाती है उसका नाम अनर्थदण्ड है। ऐसे अनर्थदण्डका परित्याग करना इसे अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। उक्त गुणव्रतोंमें यह तीसरा है। वह अनर्थदण्ड चार प्रकारका है—अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और पापोपदेश। (१) अपध्यान—आर्त-रौद्र-स्वरूप दुष्टचिन्तनका नाम अपध्यान है। इस प्रकारके अपध्यानके वश होकर जो भी प्रवृत्ति की जाती है उसे अपध्यान (अपध्यानाचरित) कहते हैं। इसमें देवदत्त श्रावक और कोंकण आर्यक साधुके दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। (२) प्रमादाचरित—मद्यादिजनित प्रमादके वश होकर जो प्राणियोंको पीड़ा पहुँचायी जाती है उसका नाम प्रमादाचरित है। रत्नकरण्डक (८०) में इसके लक्षणका निर्देश करते हुए कहा गया है कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायुका निरर्थक आरम्भ करना तथा वनस्पतियोंका छेदना; इत्यादि कार्य जो बिना किसी प्रयोजनके किये जाते हैं उन्हें प्रमादचर्या या प्रमादाचरित कहा जाता है। निरर्थक हाथ-पाँव आदिका व्यापार करना तथा हिंसक जीवोंका पालन करना इत्यादि कार्य भी इसी प्रमादचर्याके अन्तर्गत आते हैं। लगभग यही अभिप्राय

१. अ श्रावककुंकरणाज्जकसाधु।

तेषां प्रदानं अन्यस्मै क्रोधाभिभूतायानभिभूताय वेति। पापोपदेशश्चेति सूचनात्सूत्रमिति न्यायात्पापकर्मोपदेशः, पापं यत्कर्म कृष्यादि तदुपदेशो यथा कृष्यादि कुर्वित्यादि ॥२८९॥

अनर्थदण्डस्यैव बहुबन्धहेतुतां ख्यापयन्नाह—

अट्ठेण तं न बंधइ जमणट्ठेणं तु थेव-बहुभावा।
अट्ठे कालाईया नियामगा न उ अणट्ठाए ॥२९०॥[1]

अर्थेन कुटुंबादिनिमित्तेन प्रवर्तमानस्तन्न बध्नाति तत्कर्म नावत्ते यदनर्थेन यद्विना प्रयोजनेन प्रवर्तमानः। कुतः? स्तोकबहुभावात् स्तोकभावेन स्तोकं प्रयोजनं परिमितत्वात्, बह्वप्रयोजनं प्रमादापरिमितत्वात्। तथा चाह—अर्थे प्रयोजने। कालादयो नियामकाः कालाद्यपेक्षं हि कृष्याद्यपि भवति, न त्वनर्थाय प्रयोजनमन्तरेणापि प्रवृत्तौ सदा प्रवृत्तेरिति ॥२९०॥

इदमपि चातिचाररहितमेवानुपालनीयमिति अतः तानाह—

सागार धर्मामृत (५, १०-११) में भी प्रकट किया गया है। प्रमादका अर्थ प्रायः असावधानी होता है। तदनुसार इसे अनर्थदण्ड कहना भी सार्थक सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें उपर्युक्त कार्य असावधानीसे निरर्थक ही किये जाते हैं। (३) हिंसाप्रदान—आयुध, अग्नि और विष आदि हिंसोपकरणोंको कारणमें कार्यका उपचार करके हिंसा कहा जाता है। इनको क्रोधाभिभूत अथवा उससे रहित भी किसी अन्यको देना, इसे हिंसादान कहा जाता है। (४) पापोपदेश—पाप शब्दसे यहाँ पापोत्पादक कार्यकी सूचना की गयी है। ऐसे कार्य यहाँ तिर्यंच आदि जीवोंको कष्ट पहुँचानेवाले कृषि व वाणिज्य आदि हो सकते हैं। इनका बिना किसी अपने प्रयोजनके दूसरोंको उपदेश देना, यह पापोपदेश कहलाता है ॥२८९॥

आगे ये अनर्थक ही कार्य बन्धके हेतु हैं, इसे स्पष्ट किया जाता है—

प्रयोजनके वश प्रवर्तमान जीव उस कर्मको नहीं बाँधता है, जिसे कि बिना किसी भी प्रयोजनके प्रवर्तमान जीव बाँधता है। उसका कारण प्रयोजनकी हीनाधिकता है। प्रयोजनके होनेपर काल आदि नियामक हैं, जबकि उस प्रयोजनके बिना उसमें कालादि कोई भी नियामक नहीं रहते।

विवेचन—इसका अभिप्राय यह है कि जीव किसी कौटुम्बिक प्रयोजनके वश जब किसी कृषि आदि कार्यमें प्रवृत्त होता है तब वह आवश्यक प्रयोजनके पूर्ण होने तक ही उसमें प्रवृत्त रहता है, प्रयोजनके पूर्ण हो जानेपर वह उससे विरत होता है। इसीलिए उसके तज्जन्य कर्मका बन्ध नहीं होता, क्योंकि काल आदि नियामक रहते हैं। इसके विपरीत जो बिना किसी प्रयोजनके अनर्थक कार्योंमें प्रवृत्त होता है, उसे उससे रोकनेके लिए काल आदिका कुछ नियम नहीं रहता। इस प्रकार कोई सीमा न रहनेसे वह प्रमादके वशीभूत होकर अपरिमित पापकार्योंको निरर्थक ही किया करता है, अतः उससे उसके बहुतर कर्मका बन्ध अवश्यम्भावी है। यही कारण है जो प्रकृत तृतीय गुणव्रतमें श्रावकको ऐसे कितने ही अनर्थदण्डोंका परित्याग कराया गया है ॥२९०॥

इसके भी अतिचार रहित पालनके लिए आगे उसके अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

---

१. अ णियामया ण।

कंदप्पं कुक्कुइयं मोहरियं संजुयाहिगरणं च[1] ।
उवभोगपरीभोगाइरेयगयं चित्थ वज्जइ[2] ॥२९१॥

इति पदघटना। पदार्थस्तु कंदर्पः कामस्तद्धेतुर्विशिष्टो वाक्प्रयोगोऽपि कंदर्प उच्यते, रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रो मोहोद्दीपको नर्मेति भावः। इह च सामाचारी—सावगस्स अट्टट्टहासो न वट्टइ, जइ नाम हसियव्वं तउ ईसि चेव हसियव्वं ति ॥१॥ कौत्कुच्यं कुत्सितसंकोचनादिक्रिया-युक्तः कुत्कुचः, तस्य भावः कौत्कुच्यं अनेकप्रकारमुख-नयनौष्ठ-कर-चरण-भ्रूविकारपूर्विका परिहासादिजनिका भांडादीनामिव[3] विडंबनक्रियेत्यर्थः। एत्थ सामायारी—तारिसगाणि भासिउं न कप्पंति जारिसेहिं लोगस्स हासो उपज्जइ। एवं गतीए ठाणेण वा ठाइउं ति ॥२॥ मौखर्यं धाष्टर्यात्प्रायोऽसत्यासंबद्धप्रलापित्वमुच्यते मुहेण वा अरिमाणेइ जहा कुमारामच्चेणं सो वारहडो विसज्जिओ रन्नो णिवेदियं[4] ताए जीवियाए वित्ती दिन्ना अन्नदा रुट्ठेण मारिओ कुमारामच्चो ॥३॥ संयुक्ताधिकरणम् अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणं वास्युदूखल-शिलापुत्रकं[5] गोधूमयंत्र-कादिषु संयुक्तमर्थक्रियाकरणयोग्यम्, संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः। एत्थ सामायारी—सावगेणं संजुत्ताणि चेव सगडाईणि न धरेयव्वाणि। एवं वासी-परसुमाइ विभासा ॥४॥ उवभोग-परिभोगाइरेगयत्ति—उपभोगपरिभोगशब्दार्थो निरूपित एव, तदतिरेकस्तदधिकभावः, एत्थ वि

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण और उपभोग-परिभोगपरिमाणातिरेकता ये पाँच प्रकृत अनर्थदण्डव्रतके अतिचार हैं, जिनका परित्याग करना चाहिए।

विवेचन—(१) कन्दर्प नाम कामका है, उसके आश्रयसे जो विशिष्ट वचनोंका प्रयोग किया जाता है उसे कन्दर्प कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि रागको उत्कटतासे कामोद्दीपक हास्यमिश्रित, अशिष्ट वचन बोलना, इसका नाम कन्दर्प है, दूसरे नाममे इमे नर्म भी कहा जाता है। यहाँ सामाचारी—श्रावकको ठहठहा मारकर जोरमे हँसना नहीं चाहिए। यदि हँसना ही है तो मन्दरूपमें हँसना योग्य है, जिसे स्मित कहना चाहिए। ऐसा न करनेपर व्रत इस कन्दर्प नामक प्रथम अतिचारसे दूषित होता है। (२) कौत्कुच्य—भाँडों आदिके समान अनेक प्रकारसे मुख, नेत्र, ओष्ठ, हाथ-पाँव, और भ्रू आदिको विकारयुक्त करके जो परिहासादिजनक शरीरकी चेष्टा (विडम्बना) की जाती है उसे कौत्कुच्य कहा जाता है। यह अनर्थदण्डव्रतका दूसरा अतिचार है। यहाँ सामाचारी—श्रावकको ऐसे वचन नहीं बोलना चाहिए जिनसे लोगोंको हास्य उत्पन्न हो। इसी प्रकारसे ऐसी गति, स्थिति और बैठने आदिकी क्रियाको भी नहीं करना चाहिए। (३) मौखर्य—ढीठपनेसे प्रायः जो असत्य, असम्बद्ध और अनर्थक बकवाद किया जाता है; इसे मौखर्य कहते हैं। यह अनर्थदण्डव्रतका तीसरा अतिचार है। [यहाँ सामाचारी—] अथवा मुखसे 'शत्रुको लाओ,' जैसे कुमारामात्यने उस वारहडको विदा किया और राजासे निवेदन किया कि उसे जीविकाके लिए वृत्ति दो। दूसरे दिन क्रोधित होकर राजाने कुमारामात्यको मार डाला ? (४) संयुक्ताधिकरण—'अधिक्रियते नर-नारकादिष्वनेनेत्यधिकरणम्' इस निरुक्तिके अनुसार जो मनुष्य व नारक आदि गतियोंमें अधिकृत किया करता है, उसका नाम अधिकरण है। बसूला, उदूखल (ओखली), शिलापुत्रक और गेहूँका यन्त्र (हल-बखर आदि); इनको अर्थक्रियाके योग्य बेंट और मूसल आदि उपकरणोंसे जोड़कर रखना; इसका नाम संयुक्ताधिकरण है। यह

१. अ संजुत्ताइकरणं वा। २. अ परिभोगरेवयं चेव वज्जेज्जा (अस्या गाथायाः संस्कृतछायाप्यत्रोपलभ्यते। ३. अ हासादिजनितादीडादीनामिव। ४. अ विसज्जन्न रन्नो णिविदियं। ५. अ पुत्रकगोधूम।

सामायारी—उवभोगातिरित्तं जइ तेल्लामलए बहुए गेण्हइ तो बहुगा ण्हायगा वच्चंति तस्स कोलियाए। अन्ने वि ण्हायगा ण्हायंति—पच्छा पूयरगआउकायाविवहो होइ। एवं पुप्फ-तंबोलाविसु विभासा। एवं न वट्टइ। का विही सावगस्स उवभोगे ण्हाणे? घरे ण्हाइयव्वं, नत्थि ताहे तेल्लामलएहिं सीसं घसित्ता सव्वे साडविऊ णेताहे तलागाईणं तडे निविट्ठो अंजलीहिं ण्हाइ। एवं जेसु य पुप्फेसु पुप्फकुंथू ताणि परिहरइ ॥५॥ ॥२९१॥

उक्तं सातिचारं तृतीयगुणव्रतम्। गुणव्रतानन्तरं शिक्षापदव्रतान्याह तानि चत्वारि भवन्ति। तद्यथा—सामायिकं देशावकाशिकं पौषधोपवासः अतिथिसंविभागश्चेति। तत्राद्यमाह—

सिक्खापयं च पढमं सामाइयमेव तं तु नायव्वं।
सावज्जेयरजोगाण वज्जणासेवणारूवं ॥२९२॥

शिक्षा परमपदप्रापिका क्रिया, तस्याः पदं शिक्षापदम्। तच्च प्रथममाद्यं सूत्रक्रमप्रामाण्यात्। सामायिकमेव—समो राग-द्वेषवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति, आयो लाभः

प्रकृत व्रतका चौथा अतिचार है। उनके संयुक्त रहनेपर कोई भी उन्हें अनायास माँगकर ले जा सकता है। रत्नकरण्डक (८१) और सागारधर्मामृत (५-१२) आदिमें इस अतिचारको 'असमीक्ष्याधिकरण' के नामसे निर्दिष्ट किया गया है। उसका अभिप्राय है कि प्रयोजनका विचार न करके लकड़ी, ईंट व पत्थर आदिको आवश्यकतासे अधिक मँगवाना या तैयार कराना। सागारधर्मामृतमें तो श्रावक प्रज्ञप्तिके अन्तर्गत कुछ स्पष्टीकरणके साथ अभिप्रायको भी अन्तर्गत कर लिया है। यहाँ सामाचारी—श्रावकको गाड़ी आदि उपकरणोंको संयुक्त—जुड़े हुए उपकरणोंके साथ—नहीं धरना चाहिए। इसी प्रकार बसूला और फरसा आदिके विषयमें भी समझना चाहिए। (५) उपभोग-परिभोगातिरेकता—उपभोग और परिभोगके साधनोंको आवश्यकतासे अधिक मात्रामें रखना, यह इस व्रतका पाँचवाँ अतिचार है। यहाँ सामाचारी—उदाहरणार्थस्नानके लिए तालाब आदिपर जाते समय तेल, आँवले आदिको अधिक मात्रामें ले जाना। ऐसा करनेपर दूसरे भी कितने ही मनुष्य लोलुपताके वश नहानेके लिए साथमें जाते हैं। इससे पूयरग (?) और जलकायिक आदि जीवोंका वध होता है। इसी अभिप्रायको फूल और पान आदिके विषयमें भी समझना चाहिए। इस प्रकारकी प्रवृत्ति उचित नहीं है। तब फिर श्रावकके लिए उपभोग व नहानेकी क्या विधि है, इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि श्रावकको प्रथम तो घरमें ही नहाना चाहिए। यदि घरमें नहाना नहीं हो सकता है तो तेल और आँवलोंसे सिर घिसकर और उसे अलग करके तब कहीं तालाब आदिके तटपर जाना चाहिए और वहाँ बैठकर अंजुलियोंसे नहाना चाहिए। इसी प्रकार जिन फूलोंमें पुष्पकीट आदि हों उनको छोड़ना चाहिए ॥२९१॥

इस प्रकार अतिचारोंके साथ अन्तिम तीसरे गुणव्रतका निरूपण करके तत्पश्चात् सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग इन चार शिक्षापदव्रतोंकी प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः सामायिक शिक्षापदव्रतका स्वरूप कहा जाता है—

उक्त चार शिक्षापदोंमें प्रथम सामायिक शिक्षापदको ही जानना चाहिए। वह क्रमसे सावद्य योगके परित्याग और इतर—निष्पाप योगके आसेवन रूप है।

विवेचन—मोक्षपदको प्राप्त करानेवाली क्रियाका नाम शिक्षा है, उस शिक्षाके पद (स्थान) को शिक्षापदव्रत कहा जाता है। सूत्रक्रमके अनुसार सामायिक यह प्रथम शिक्षापद है। सामायिक

---

१. अ आउकायवहो इ पुप्फतंबोलमाइसु। २. अ साडिऊण।

प्राप्तिरिति पर्यायाः, समस्यायः समायः। समो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञान-दर्शन-चारित्रपर्यायैर्निरुपम-सुखहेतुभिरधःकृतचिन्तामणिकल्पद्रुमोपमैर्युज्यते । स एव समायः प्रयोजनमस्य क्रियानुष्ठानस्येति सामायिकम्। समाय एव वा भवं सामायिकमिति शब्दार्थः। एतत्स्वरूपमाह—तत्तु सामायिकं ज्ञातव्यं विज्ञेयम्। स्वरूपतः कीदृगिति आह—सावद्येतरयोगानां यथासंख्यं वर्जनासेवनरूपमिति। तत्रावद्यं गर्हितं पापम्, सहावद्येन सावद्यम्, योगा व्यापाराः कायिकादयः तेषां[1] वर्जनारूपं परित्यागरूपमित्यर्थः। कालावधिनैवेति गम्यते। मा भूत्सावद्ययोगपरिवर्जनामात्रमपापव्यापारासेवनाशून्यमेव सामायिकमिति, अत आह—इतरयोगासेवनारूपं निरवद्ययोगप्रतिसेवनारूपं चेति। सावद्ययोगपरिवर्जनवन्निरवद्ययोगपरिसेवनेऽपि अहर्निशं यत्नः कार्य इति दर्शनार्थमेतदिति। एत्थ पुण सामायारी—सामाइयं सावगेणं कहं कायव्वं ति? इह सावगो दुविहो इड्ढिपत्तो अणिड्ढिपत्तो य। जो सो अणिड्ढिपत्तो सो चेइयघरे साहुसमीवे घरे वा पोसहसालाए वा जत्थ वा वीसमइ[2] अच्छइ वा निव्वावारो सव्वत्थ करेइ सव्वं. चउसु ठाणेसु णियमा कायव्वं चेइयघरे साहुमूले पोसहसालाए घरे आवस्सगं करोति त्ति। तत्थ जइ साहुसगासे करेइ तत्थ को विही? जइ परंपरभयं णत्थि, जइ वि य केणइ समं विवाओ णत्थि, जइ कस्सइ न धरेइ, मा तेण अच्छविगंछिछथि कड्ढिहिइ य, धारणगं दट्ठूण गेण्हइ, मा भज्जिहिइ, जइ[3] वावारं ण करेइ ताहे घरे चेव सामाइयं काऊण वच्चइ पंचसमिओ तिगुत्तो इरियाउवउत्तो जहा साहू भासाए सावज्जं परिहरंतो एसणाए कट्ठं लेट्ठुं वा पडिलेहिउं पमज्जिउं। एवं आयाणे निक्खिवणे खेल-

शब्दका निरुक्त अर्थ करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि जो राग-द्वेषसे रहित होकर समस्त प्राणियोंको अपने समान ही देखता है उसका नाम 'सम' है, 'आय' शब्दका अर्थ प्राप्ति है. तदनुसार सम-जीव जो प्रतिसमय अनुपम सुखकी कारणभूत अपूर्व ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप पर्यायोंसे संयुक्त होता है उसे समाय (सम+आय) कहा जाता है। यह समाय ही जिस क्रिया—अनुष्ठानका प्रयोजन हो उसका नाम सामायिक है। अथवा 'समाये भवम् सामायिकम्' इस विग्रहके अनुसार समाय हो जानेपर जो अवस्था होती है उसे सामायिकका लक्षण समझना चाहिए। यह सामायिक शब्दकी सार्थक संज्ञा है। अभिप्राय इसका यह हुआ कि श्रावक जो नियत समय तक सर्वसावद्ययोगके परित्यागपूर्वक निरवद्य योग—निष्पाप व्यापार—का परिपालन करता है, यह श्रावकका सामायिक नामक प्रथम शिक्षापदव्रत है।

यहाँ सामाचारी—श्रावकको सामायिक कैसे करना चाहिए, इसके उत्तरमें यहाँ कहा गया है कि श्रावक दो प्रकारका होता है—ऋद्धिप्राप्त और अनृद्धिप्राप्त। इनमें जिसे ऋद्धि प्राप्त नहीं हुई है वह चैत्यगृहमें, साधुके समीपमें, घरमें, प्रोषधशालामें, अथवा जहाँ भी वह व्यापारसे रहित होकर विश्रामपूर्वक स्थित रह सकता है वहाँ सर्वत्र सब कर सकता है। पर चैत्यगृह, साधुके मूलमें, प्रोषधशालामें व घरमें इन चार स्थानोंमें वह सब आवश्यक करता है। इनमें-से यदि वह साधुके समीपमें करता है तो क्या विधि है, इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा रहा है कि यदि दूसरेसे भय नहीं है, यदि किसीके साथ विवाद नहीं है, यदि कोई पकड़-धकड़ नहीं करता है, घृणा नहीं करता है, कर्षण नहीं करता है तथा पकड़ते हुए देखकर ग्रहण नहीं करता है, भागता नहीं है। यदि व्यापार नहीं करता है तो घर पर ही सामायिक करके पाँच समितियोंसे सहित, तीन गुप्तियों-

१. मु व्यापाराः तेषां। २. अ वीसइ। ३. अ णत्थि जइ सत्थए न धरेइ मा तेण अच्छवियंछ कज्जिहिइ जइय धारणगं दट्ठूण ण गेण्हइ भिज्जिहिइ जइ।

सिंघाणए न विगिंचइ, विगिंचंतो वा पडिलेहेइ पमज्जिय। जत्थ चिट्ठइ तत्थ तिगुत्तिणिरोहं करेइ। एयाए विहीए गंता तिविहेण नमिऊण साहुणो पच्छा सामाइयं करेइ, करेमि भंते सामाइयं, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविहं तिविहेणं जाव साहुं पज्जुवासामित्ति काऊण पच्छा इरियावहियं पडिक्कमइ। पच्छा आलोएत्ता वंदइ आयरिआइ जहारायणियाए। पुणो वि गुरुं वंदित्ता पडिलेहित्ता निविट्ठो पुच्छइ पढइ वा। एवं चेइएसु वि। जया सगिहे पोसहसालाए वा तत्थ नवरि गमणं णत्थि। जो इड्ढिपत्तो सो सव्विड्ढीए एइ। तेण जणस्स आढा होइ आढियाय साहुणो सुपुरिसपरिग्गहेणं। जइ सो[2] कयसामाइओ एइ ताहे आस-हत्थिमाइजणेण य अधिगरणं वड्ढइ ताहे ण करेइ। कयसामाइएण य पाएहिं आगंतव्वं तेण ण करेइ आगओ साहुसमीवे करेइ। जइ सो सावगो तो ण कोइ उट्ठइ। अह अहाभद्दओ जइपूया कया होउत्ति भणंति ताहे पुव्वरइयं आसणं कीरइ आयरिया उट्ठिया य अच्छंति तत्थ उट्ठितमणुट्ठिते दोसा विभासियव्वा। पच्छा सो इड्ढिपत्तो[3] सामाइयं करेइ। अणेण विहिणा करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविहं तिविहेणं जाव णियमं पज्जुवासामित्ति। एवं सामाइयं काउं पडिक्कंतो वंदित्ता पुच्छइ सो य किर सामाइयं करेंतो मउडं अवणेइ, कुंडलाणि णाममुद्दं पुप्फतंबोलं पावारगमाइ वा वोसिरइ। एसो विही सामाइयस्स ॥२९२॥

से संरक्षित, साधुके समान ईर्यामें उपयुक्त—सावधानीसे गमन करता हुआ भाषासे सावद्यका परिहार करे व एषणामें काष्ठ अथवा लोष्ठ आदिका प्रतिलेखन व प्रमार्जन करे। इसी प्रकार आदान-निक्षेपणमें क्ष्वेल (कफ) व नासिकामलको न गिरावे, यदि गिराना पड़े तो प्रतिलेखन व प्रमार्जन करके गिरावे। जहाँपर स्थित हो वहाँ तीन गुप्तियोंका निरोध करे। इस विधिसे जाकर तीन प्रकारसे साधुको नमस्कार करे तत्पश्चात् सामायिक करे—जबतक साधुकी उपासना करता है 'हे भगवन्, मैं सामायिक करता हूँ, दो प्रकारके सावद्य योगका तीन प्रकारसे प्रत्याख्यान करता हूँ' ऐसा करके पश्चात् ईर्यापथका प्रतिक्रमण करता है, पश्चात् आलोचना करके ज्येष्ठताके क्रमसे फिरसे भी गुरुकी वन्दना करके प्रतिलेखनापूर्वक बैठकर पूछे व पढ़े। इसी प्रकार चैत्यगृहोंमें भी करना चाहिए। विशेषता इतनी है कि अपने घर अथवा प्रोषधशालामें गमनक्रिया नहीं है। यह अनृद्धिप्राप्त श्रावकके लिए सामायिकका विधान है। यदि श्रावक ऋद्धिप्राप्त है तो सब ऋद्धिके साथ वह आता है। इससे वह उत्तम पुरुषके ग्रहणसे आदरका पात्र होता है। यदि वह सामायिकको करके आता है तो घोड़ा और हाथी आदिके परिकरसे अधिकरण (असंयम) बढ़ता है। इसलिए उस समय सामायिक न करे, प्रायः सामायिक करके ही आवे। इसीलिए नहीं करता है। यदि वह आ करके साधुके समीपमें सामायिकको करता है और यदि श्रावक है तो कोई न उठे। यदि अभद्र है तो यतिपूजा करना चाहिए, ऐसा कहते हैं। तब पूर्वरचित आसन किया जाता है। आचार्य उत्थित ही रहते हैं, वहाँ उत्थित और अनुत्थितके दोषोंको कहना चाहिए। पश्चात् वह ऋद्धिप्राप्त सामायिकको इस विधिसे करता है—हे भगवन्, मैं सामायिकको करता हूँ, दो प्रकारके सावद्य योगका तीन प्रकारसे तबतक प्रत्याख्यान करता हूँ जबतक कि साधुकी उपासना करता हूँ। इस प्रकार सामायिक करके प्रतिक्रमण करता हुआ वन्दना करता है व पूछता है। वह सामायिक करता हुआ मुकुटको दूर कर देता है तथा कुण्डलों, नाममुद्रा, पुष्प, पान और वस्त्र आदिको भी हटा देता है। यह सामायिककी विधि है ॥२९२॥

१. अ सो वड्ठिए ए तेण जणस्स अढा। २. अ जया सो। ३. अ दोसा भासियव्वा इच्छा सो अड्ढिपत्तो।

अत्राह—

कयसामइओ सो साहुरेव ता इत्तरं न किं सव्वं ।
वज्जेइ य सावज्जं तिविहेण वि संभवाभावा ॥२९३॥

कृतसामायिकः प्रतिपन्नसामायिकः सन्नसौ श्रावको वस्तुतः साधुरेव सावद्ययोगनिवृत्तेः । यस्मादेवं तस्मात्, साधुवदेवेत्वरमल्पकालम् । न किं किं न सर्वं निरवशेषं । वर्जयति ? परिहरत्येव । सावद्यं सपापम्, योगमिति गम्यते । त्रिविधेनापि मनसा वाचा कायेन चेति । अत्रोच्यते— संभवाभावात् श्रावकमधिकृत्य त्रिविधेनापि सर्वसावद्ययोगवर्जनासंभवादिति ॥२९३॥

असंभवमेवाह—

आरंभाणुमईओ कणगाइसु अग्गहाणिवित्तीओ ।
भुज्जो परिभोगाओ भेओ एसिं जओ भणिओ ॥२९४॥

आरम्भानुमतेः श्रावकस्यारम्भेष्वनुमतिरव्यवच्छिन्नैव, [1]तथा तेषां प्रवर्तितत्वात् । कनकादिषु द्रव्यजातेषु । आग्रहानिवृत्तेरात्मीयाभिमानानिवृत्तेरनिवृत्तिश्च भूयः परिभोगादन्यथा सामायिकोत्तरकालमपि तदपरिभोगप्रसङ्गः, सर्वथा त्यक्तत्वात् । भेदश्चैतयोः साधु-श्रावकयोः । [2]यतो भणित उक्तः परममुनिभिरिति ॥२९४॥

भेदाभिधित्सयाह—

आगे यहाँ प्रसंगसे सम्बद्ध शंकाको उठाकर उसका समाधान किया जाता है—

जो सामायिकको स्वीकार करता है इसलिए वह साधु ही है कारण यह कि वह क्या कुछ कालके लिए समस्त सावद्य योगको तीन प्रकारसे मन, वचन व कायसे—नहीं छोड़ देता है—अवश्य छोड़ देता है। इस शंकाके उत्तरमें कहा गया है कि श्रावकको तीनों प्रकारसे समस्त सावद्य योगका परित्याग करना सम्भव नहीं है।

विवेचन—शंकाकारका अभिप्राय यह है कि श्रावक जब सामायिक करता है तब वह नियत काल तक चूँकि समस्त सावद्य योगका मन, वचन व काय इन तीनों योगोंसे परित्याग करता है अतः वह साधु ही है। इस शंकाके समाधानमें यह कहा गया है कि श्रावकके लिए तीनों योगोंसे समस्त सावद्य योगका परित्याग करना सम्भव नहीं है, इसलिए उसे उतने समयके लिए भी यथार्थमें साधु नहीं कहा जा सकता ॥२९३॥

आगे उसके लिए समस्त सावद्य योगका त्याग करना सम्भव क्यों नहीं है, इसे ही स्पष्ट किया जाता है—

श्रावककी आरम्भकार्यमें अनुमति रहती ही है, कारण यह है कि 'ये सुवर्णादि द्रव्य मेरे हैं' इस प्रकारसे उन द्रव्योंके विषयमें उसका आग्रह ममत्वबुद्धि नहीं छूटता है—वह बराबर बना ही रहता है। इसका भी कारण यह है कि वह सामायिकके पश्चात् उनका पुनः उपभोग करता ही है। यदि ऐसा न होता तो वह सामायिकके पश्चात् भी उनका उपभोग नहीं करता, पर पश्चात् उनका उपभोग करता तो है ही, क्योंकि उन्हें उसने सर्वदाके लिए नहीं छोड़ा है। यही कारण है जो साधु और श्रावक इन दोनोंमें भेद बतलाया गया है ॥२९४॥

आगे उनमें जिन अधिकारोंके आश्रयसे भेद बतलाया है उनका निर्देश किया जाता है—

---

१. अ °षु जातेषु ग्रहानिवृत्ते° । २. अ यत उक्तः ।

सिक्खा दुविहा गाहा उववायट्ठिइगईकसाया य ।
बंधंता वेयंता पडिवज्जाइक्कमे पंच ॥२९५॥

शिक्षाकृतः साधु-श्रावकयोर्भेदः । सा च द्विविधा ग्रहणासेवनारूपेति वक्ष्यति । तथा गाथा भेदिका, सामाइयंमि उ कए इत्यादिरूपेति वक्ष्यत्येव । तथोपपातो भेदकः, स्थितिर्भेदिका, गतिर्भेदिका, कषायाश्च भेदकाः, बन्धश्च भेदकः, वेदना भेदिकाः, प्रतिपत्तिर्भेदिका, अतिक्रमो भेदक इत्येतत् सर्वमेव प्रतिद्वारं स्वयमेव वक्ष्यति ग्रन्थकारः पञ्चाथवा किं चेति पाठान्तरार्थसहितमपि इति द्वारगाथासमुदायार्थः ॥२९५॥

अधुनाद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह –

गहणासेवणरूवा सिक्खा[1] भिन्ना य साहु-सड्ढाणं ।
पवयणमाईचउदसपुव्वंता पढमिया जइणो ॥२९६॥

ग्रहणासेवनरूपा शिक्षेति शिक्षाभ्यासः, सा द्विप्रकारा ग्रहणरूपासेवनरूपा च । भिन्ना चेयं साधु-श्रावकयोः अन्यथारूपा साधोरन्यथारूपा श्रावकस्येति । तथा चाष्टप्रवचनमात्रादिचतुर्दशपूर्वान्ता प्रथमा यतेरिति ग्रहणशिक्षामधिकृत्य साधुः सूत्रतोऽर्थतश्च जघन्येनाष्टौ प्रवचनमातरस्त्रिगुप्तिपञ्चसमितिरूपा उत्कृष्टतस्तु बिन्दुसारपर्यन्तानि चतुर्दशपूर्वाणि गृह्णातीति ॥२९६॥

पवयणमाईछज्जीवणियंता उभयओ वि इयरस्स ।
पिंडेसणा उ अत्थे इत्तो इयरं पवक्खामि ॥२९७॥

प्रवचनमातृषड्जीवनिकायान्ता उभयतोऽपि सूत्रतोऽर्थतश्चेतरस्य श्रावकस्य । पिण्डैषणार्थतः, न सूत्रत इति । एतदुक्तं भवति—श्रावकः सूत्रतोऽर्थतश्च जघन्येन ता एव प्रवचनमातर उत्कृष्टतस्तु षड्जीवनिकायं यावदुभयतः । अर्थतस्तु पिण्डैषणाम्, न तु तामपि सूत्रत इत्येतावद्गृह्णाति उक्ता ग्रहणशिक्षा, अत ऊर्ध्वमितरामासेवनाशिक्षां प्रवक्ष्यामि यथासौ भेदिका एतयोरिति[3] ॥२९७॥

ग्रहण और आसेवनारूप दो प्रकारकी शिक्षा, गाथा "सामाइयंमि उ कए" इत्यादि गाथा (२९९), उपपात, स्थिति, गति, कषाय, बन्ध, वेदना, प्रतिपत्ति और अतिक्रम; इन सबके द्वारा उक्त साधु और श्रावक इन दोनोंमें भेद किया जाता है। इन सब द्वारोंका विवेचन—ग्रन्थकार आगे स्वयं क्रमसे करनेवाले हैं। गाथामें टीकाकारने 'पंचाथवा' किंच ऐसा पाठान्तर सहित अर्थ भी सुझाया है (?) ॥२९५॥

आगे मुनिको लक्ष्य करके ग्रहणरूप शिक्षाका निर्देश किया जाता है—

साधु और श्रावककी ग्रहण और आसेवनरूप शिक्षा (अभ्यास) भिन्न है। उनमें प्रवचनमातासे लेकर चौदह पूर्व पर्यन्त यतिकी प्रथम (ग्रहण) शिक्षा है। अभिप्राय यह है कि साधु सूत्र और अर्थसे कमसे कम तीन गुप्तियों और पाँच समितियों रूप आठ प्रवचनमाताओंको ग्रहण करता है और अधिकसे अधिक वह बिन्दुसार पर्यन्त चौदह पूर्वोंको ग्रहण किया करता है ॥२९६॥

अब श्रावकको लक्ष्य करके उक्त ग्रहणरूप प्रथम शिक्षाका निर्देश किया जाता है—

इतर– साधुसे भिन्न श्रावक—उक्त प्रवचनमाताओंको आदि लेकर छह जीवनिकाय पर्यन्त शिक्षाका सूत्र और अर्थ दोनोंसे ही ग्रहण करता है। किन्तु भिक्षा ग्रहणका विधिस्वरूप

---

१. अ 'उ' नास्ति । २. अ सेवणभूया सिक्खा । ३. अ भेदिका तयोरिति ।

संपुन्नं परिपालइ सामायारिं सदेव साहु त्ति ।
इयरो तक्कालम्मि वि अपरिन्नाणाइओ न तहा ॥२९८॥

संपूर्णां निरवशेषाम् । परिपालयत्यासेवते । सामाचारीं मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणादिकां क्रियाम् । सदैव सर्वकालमेव । साधुरित्या जन्म तथाप्रवृत्तेः । इतरः श्रावकस्तत्कालेऽपि सामायिक-समयेऽपि । अपरिज्ञानादेरपरिज्ञानादभिष्वङ्गानिवृत्त्या असंभवावनभ्यासाच्च । न तथा पालयत्येव-मासेवनाशिक्षापि भिन्नैव तयोरिति द्वारम् ॥२९८॥

सूत्रप्रामाण्याच्च विशेष इति गाथेत्युपलक्षिता, तामाह—

सामाइयम्मि उ कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥२९९॥

सामायिके प्राङ्निरूपितशब्दार्थे । तुशब्दोऽवधारणार्थः—सामायिक एव कृते, न शेष-कालम् । श्रमण इव साधुरिव । श्रावको भवति यस्मादेतेन कारणेन बहुशोऽनेकशः सामायिकं कुर्यादिति[1] । अत्र[2] श्रमण इवोक्तं, न तु श्रमण[3] एवेति । यथा समुद्र इव तडागम्, न तु समुद्र एवेत्यभिप्राय इति द्वारम् ॥२९९॥

पिण्डैषणाको वह केवल अर्थसे ग्रहण करता है, सूत्रसे नहीं । अभिप्राय यह है कि श्रावक जघन्यसे उक्त आठ प्रवचनमाताओंको और उत्कर्षसे छह जीवनिकायों तक सूत्र और अर्थ दोनोंसे ग्रहण करता है ॥२९७॥

आगे उन दोनोंमें भेदको प्रकट करनेवाली आसेवनारूप शिक्षाका निर्देश किया जाता है—

साधु सदा ही सम्पूर्ण सामाचारीका पालन करता है । परन्तु श्रावक उस सामायिकके समयमें भी अपरिज्ञानादिके कारण उस प्रकारसे पालन नहीं करता है ।

विवेचन—प्रतिसेवनारूप दूसरी शिक्षाकी अपेक्षा साधु सम्पूर्ण सामाचारीका—साधुके योग्य सभी आचारविषयक क्रियाकलापका—निरन्तर पालन करता है, परन्तु श्रावक सामा-यिकके समयमें भी तद्विषयक ज्ञानके न होने, आसक्तिकी अनिवृत्ति, असम्भावना और अनभ्यासके कारण साधुके समान उस सामाचारीका पालन नहीं करता है । इस प्रकार प्रतिसेवनारूप शिक्षा-की अपेक्षा भी उन दोनोंमें भेद है ॥२९८॥

अब जिस गाथासूत्रकी अपेक्षा उन दोनोंमें भेद है उस गाथासूत्रको दिखलाते हैं—

सामायिकके करनेपर जिस कारण श्रावक श्रमणके समान होता है इस कारणसे उसे बहुत बार सामायिक करना चाहिए।

विवेचन—आगम (२९२) में सामायिकके स्वरूपको दिखलाते हुए यह कहा गया है कि श्रावक नियत कालके लिए तीन प्रकारसे समस्त सावद्य योगका परित्याग करता है, इसलिए वह साधु जैसा ही होता है । प्रकृत गाथा (२९९) में चूँकि श्रावकको श्रमणके समान ही कहा गया है, न कि स्वयं श्रमण कहा गया है, इसीसे श्रावककी श्रमणसे भिन्नता सिद्ध होती है । उदाहरणके रूपमें जब यह कहा जाता है कि 'यह तालाब तो समुद्रके समान है' तब उसे स्वयं समुद्र न समझ-कर यही समझा जाता है कि वह समुद्रके समान गम्भीर व विस्तृत है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी श्रावकको साधुके समान कहनेका यही अभिप्राय है कि वह स्वयं साधु न होकर सामायिकके

---

1. अ कुर्यादित्यर्थः । 2. अ 'अत्र' नास्ति । 3. अ इवेति ।

उपपातो विशेषक इत्येतदाह—

अविराहियसामन्नस्स साहुणो सावगस्स य[1] जहन्नो ।
सोहंमे उववाओ भणिओ तेलुक्कदंसीहिं ॥३००॥

अविराधितश्रामण्यस्य प्रव्रज्यादिवसादारभ्याखण्डितश्रमणभावस्य साधोः । श्रावकस्य च, अविराधितश्रावकभावस्येति गम्यते । जघन्यः सर्वस्तोकः । सौधर्मे प्रथमदेवलोके । उपपातो भवति जन्म भणित उक्तः त्रैलोक्यदर्शिभिः सर्वज्ञैरिति ॥३००॥

उक्कोसेण अणुत्तरअच्चुयकप्पेसु तत्थ तेसि ठिई[2] ।
[3]तित्तीससागराइं बावीसं चेव उक्कोसा ॥३०१॥

उत्कृष्टतोऽनुत्तराच्युतकल्पयोरिति—साधोरनुत्तरविमानेषु, श्रावकस्याच्युतकल्प उपपात इति द्वारम् । तत्र तयोरिति तत्रानुत्तरविमानाच्च्युतयोस्तयोः साधु-श्रावकयोः स्थितिर्विशिष्ट-प्राणसंधारणात्मिका यथासङ्ख्यं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि द्वाविंशतिरित्युत्कृष्टा—साधोस्त्रय-स्त्रिंशदनुत्तरेषु, श्रावकस्य तु द्वाविंशतिरच्युत इति गाथार्थः ॥३०१॥

पलिओवमपुहुत्तं तहेव पलिओवमं च इयरा उ ।
दुण्हं पि जहासंखं भणियं तेलुक्कदंसीहिं ॥३०२॥

पल्योपमपृथक्त्वं[4] तथैव पल्योपमं चेतरा जघन्या सौधर्मे एव साधोः पल्योपमपृथक्त्वं स्थितिः । द्विप्रभृतिरा नवभ्यः पृथक्त्वम् । श्रावकस्य तु पल्योपममिति । अत एवाह द्वयोरपि साधु-श्रावकयोर्भणिता त्रैलोक्यदर्शिभिः, स्थितिर्गम्यते इति द्वारम् ॥३०२॥

कालमें समस्त सावद्य योगका त्याग कर देनेके कारण साधु जैसा है । इस प्रकार इस गाथासूत्रसे भी श्रावक और साधुमें भेद सिद्ध है ॥ २९९ ॥

आगे जघन्यसे उपपातकी अपेक्षा भी साधु और श्रावकमें भेद दिखलाया जाता है—

जिसने श्रमणाचारकी विराधना नहीं की है वह श्रमण तथा जिसने श्रावकाचारकी विराधना नहीं की है वह श्रावक भी जघन्यसे सौधर्म कल्पमें उत्पन्न होता है । इस प्रकार त्रिलोक-दर्शियों (सर्वज्ञों) के द्वारा उन दोनोंका उपपात जघन्यसे सौधर्म कल्पमें कहा गया है ॥३००॥

आगे उत्कर्षसे उनके उपपातको दिखलाते हुए वहाँ उनका उत्कर्षसे कितने काल तक उनका अवस्थान रहता है, इसका भी निर्देश किया जाता है—

उत्कर्षसे उनका उपपात क्रमसे अनुत्तर और अच्युत कल्पोंमें होता है, अर्थात् अविराधित श्रमणाचारका पालन करनेवाला साधु उत्कर्षसे अनुत्तर विमानोंमें तथा निरतिचार श्रावकाचारका पालन करनेवाला श्रावक उत्कर्षसे अच्युत कल्पमे उत्पन्न होता है । वहाँ उनकी उत्कृष्ट आयु-स्थिति यथाक्रमसे तेंतीस सागरोपम और बाईस सागरोपम काल तक होती है ॥३०१॥

आगे वहाँ उनकी जघन्य आयुका निर्देश किया जाता है—

उपर्युक्त साधु और श्रावकको जघन्य आयु उक्त सौधर्म कल्पमें त्रिलोकदर्शियों (सर्वज्ञों) के द्वारा यथाक्रमसे पल्योपमपृथक्त्व और पल्योपम मात्र कही गयी है । दोसे लेकर नौ पर्यन्तकी संख्याका नाम पृथक्त्व है ॥३०२॥

---

१. अ 'य' नास्ति । २. अ कप्पेसु तत्थेसु ठिती । ३. अ तेत्तीस सागराइ । ४. अ अतोऽग्रेऽग्रिम 'पृथक्त्वं' पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति ।

तथा गतिभेदविकेत्याह—

पंचसु ववहारेणं जइणो सड्ढस्स चउसु गमणं तु ।
गइसु चउपंचमासु चउसु य[1] अन्ने जहाकमसो ॥३०३॥

व्यवहारेण सामान्यतो लोकस्थितिमङ्गीकृत्य पञ्चसु यतेः साधोः, श्रावकस्य चतसृषु गमनमिति । कासु ? गतिषु नारकतिर्यङ्नरामरसिद्धिरूपासु । चउ-पंचमासु चउसु य अन्ने जहाकमसो— अन्ये त्वभिवधति साधोः सुरगतौ मोक्षगतौ च श्रावकस्य चतसृष्वपि भवान्तर्गतिष्विति द्वारम्[2] ॥३०३॥

कषायाश्च भेदका इत्याह—

चरमाण चउन्हं [3]पि हु उदओऽणुदओ व हुज्ज[4] साहुस्स ।
इयरस्स कसायाणं दुवालसट्ठाणमुदओ उ[5] ॥३०४॥

संज्वलनानां[6] चतुर्णामपि क्रोधादीनां कषायाणामुदयोऽनुदयो वा भवेत्साधोरुदयश्चतुस्त्रिद्वयेकभेदः, अनुदयोऽप्येवं छद्मस्थ-वीतरागादेर्भावनीयः । इतरस्य श्रावकस्य । कषायाणां द्वादशानामष्टानां चोदय एवेति—यदा द्वादशानां तदा अनन्तानुबन्धिवर्जा गृह्यन्ते, एते[7] चाविरतस्य विज्ञेयाः । यदा त्वष्टानां तदानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानवर्जाः, एते च विरताविरतस्येति द्वारम् ॥३०४॥

अब गतिकी अपेक्षा साधु और श्रावकमें भेद दिखलाया जाता है—

व्यवहारसे साधुका गमन पाँचों—नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध इन पाँचों—गतियोंमें तथा श्रावकका सिद्धगतिको छोड़कर चार गतियोंमें होता है। अन्य कितने ही आचार्योंके मतानुसार साधु और श्रावकका गमन यथाक्रमसे चौथी (देवगति) व पाँचवीं (सिद्धगति) में तथा चारों ही गतियोंमें होता है। अभिप्राय यह कि उनके मतानुसार साधु देवगतिमें जाता है अथवा मुक्तिको प्राप्त कर लेता है। परन्तु श्रावक अपने परिणामके अनुसार यथासम्भव नारक आदि चारों गतियोंमें जा सकता है ॥३०३॥

आगे कषायकी अपेक्षा उन दोनोंमें भेद प्रकट किया जाता है—

साधुके अन्तिम चारों ही का—संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ का—उदय अथवा अनुदय होता है। परन्तु श्रावकके बारह और आठ कषायोंका उदय होता है।

विवेचन—इसका अभिप्राय यह है कि प्रमत्तसंयतसे लेकर अपूर्वकरणसंयत तक इन गुणस्थानोंमें संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों अन्तिम कषायोंका उदय रहता है। आगे अनिवृत्तिकरणसंयत नामक नौवें गुणस्थानमें किसीके उक्त चारों संज्वलन कषायोंका, किसीके क्रोधको छोड़कर शेष तीनका, किसीके संज्वलन माया और लोभ इन दोका तथा किसीके एक संज्वलन लोभका ही उदय रहता है। आगे दसवें गुणस्थानमें सूक्ष्मसाम्परायसंयतके एकमात्र संज्वलन लोभका उदय रहता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें उपशान्त कषाय संयतके उनका उपशम हो जानेके कारण चारोंका ही अनुदय रहता है। आगे क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवलीके उनका क्षय—निर्मूल विनाश—हो जानेके कारण चारोंका अनुदय रहता है।

---

१. अ चइपंचमासु य चउसु य। २. अ भवांतगतास्थितिद्वारं। ३. अ चरिमाण चउण्हं। ४. अ होज्ज। ५. अ सट्ठाण सो उदउ। ६. अ चिरमाणां [चरमाणं] संज्वलनानां। ७. अ यदा द्वादशादयश्चतुस्त्रिद्वयेकभेदः अनुदयोप्येवं एते।

तथा बन्धश्च भेदक इत्येतदाह—

मूलपयडीसु जइणो सत्तविहट्ठविह-छव्विहिक्कविहं[1] ।
बंधंति न बंधंति य इयरे उ सत्तविहबंधा[2] ॥३०५॥

मूलप्रकृतिषु ज्ञानावरणादिलक्षणासु विषयभूतासु तस्मिन् विषय इति। के ? यतय इति साधवः। सप्तविधाष्टविध-षड्विधैकविधबन्धकाबन्धकाश्च भवन्ति, एतद्भावयिष्यति[3]। इतरे श्रावकाः। सप्तविधबन्धकाः। तुशब्दादष्टविधबन्धकाश्चायुष्कबन्धकाल इति ॥३०५॥

एतदेव विवृण्वन्नाह—

सत्तविहबंधगा हुंति पाणिणो आउवज्जियाणं[4] तु ।
तह सुहुमसंपराया छव्विहबंधा विणिद्दिट्ठा ॥३०६॥

सप्तविधबन्धका भवन्ति। प्राणिनो [5]जीवाः। आयुर्वर्जितानामेव ज्ञानावरणीयादिप्रकृतीनां सप्तानामिति। तथा सूक्ष्मसंपरायाः श्रेणिद्वयमध्यवर्तिनः तथाविधलोभाणुवेदकाः। षड्विधबन्धका विनिर्दिष्टास्तीर्थकृद्भिरिति ॥३०६॥

परन्तु श्रावकके यदि वह अविरतसम्यग्दृष्टि—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती—है तो अनन्तानुबन्धिचतुष्टय-को छोड़ शेष बारह कषायोंका उदय रहता है। उसके संयतासंयत—पंचम गुणस्थानवर्ती—होनेपर उसके चार प्रत्याख्यानावरण और चार संज्वलन इन आठ कषायोंका उदय रहता है। इस प्रकार कषायकी अपेक्षा भी साधु और श्रावक दोनोंमें भेद जानना चाहिए ॥३०४॥

आगे क्रमप्राप्त बन्धकी अपेक्षा भी उन दोनोंमें भेद दिखलाया जाता है—

साधु ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियोंमें सात (आयुको छोड़कर) प्रकारकी, आयुके साथ आठ प्रकारकी, छह प्रकारकी और एक प्रकारकी प्रकृतियोंको बाँधते हैं, तथा नहीं भी बाँधते हैं। पर चतुर्थ और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक सात प्रकारकी प्रकृतियोंको बाँधते हैं। गाथामें उपयुक्त 'उ' शब्दसे यह भी सूचित किया गया है कि आयुबन्धके समयमें वे आठ प्रकारकी प्रकृतियोंको भी बाँधते हैं ॥३०५॥

आगे प्रकृत गाथाके अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए सात प्रकारके बन्धक कौन और छह प्रकारके बन्धक कौन हैं, इसे स्पष्ट करते हैं—

प्राणी आयुको छोडकर सात प्रकारके बन्धक होते हैं तथा सूक्ष्मसाम्परायिक संयत छह प्रकारके बन्धक कहे गये हैं।

विवेचन—कर्मकी मूल प्रकृतियां ये आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें प्रथम गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक जब आयु-कर्मका बन्ध नहीं होता है तब जीव उस आयुके बिना शेष सात प्रकृतियोंके बन्धक होते हैं तथा आयुबन्धके समय वे आठों ही मूल प्रकृतियोंके बन्धक होते हैं। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि तीसरे (मिश्र) गुणस्थानमें आयुका बन्ध सम्भव नहीं है, अतः इस गुणस्थानवर्ती सम्यग्मिथ्या-दृष्टि जीव सदा सात प्रकृतियोंके ही बन्धक होते हैं। आयुका बन्ध ज्ञानावरणादिके समान सदा नहीं होता। आयुकी अपेक्षा जीव दो प्रकारके हैं—सोपक्रमायुष्क और निरुपक्रमायुष्क। कर्मभूमिज

---

१. अ °च्छव्विहेक्कविहं। २. अ न च बंधंति उ इयिरे सत्तविहबंधाउ। ३. अ षड्विधैकविधं बध्नंति न बध्नंत्येतद् भावयिष्यति। ४. अ आउवज्जगाणं। ५. अ जीवायुर्वर्ज्जिता।

मोहाऊवज्जाणं पयडीणं ते उ बंधगा भणिया।[1]
उवसंतखीणमोहा केवलिणो एगविहबंधा ॥३०७॥[2]

मोहायुर्वर्जानां प्रकृतीनां ज्ञानावरणादिरूपाणां ते तु सूक्ष्मसंपराया बन्धका भणिताः। मोहनीयं न[3] बध्नन्ति, निदानाभावात्तस्य [4]किंचिच्छेषमात्रत्वावस्थितावप्यसमर्थत्वात्, आयुष्कं न बध्नन्ति, तथाविधपरिणामोपात्तस्य वेदनास्थानाभावात्। उपशान्त-क्षीणमोहाः श्रेणिद्वयो- परिवर्तिनः उपशान्त-क्षीणच्छद्मस्थवीतरागाः केवलिनश्च सयोगिभवस्था एकविधबन्धका इति ॥३०७॥

ते पुण दुसमयठिइस्स बंधगा न उण संपरायस्स।
सेलेसीपडिवन्ना अबंधगा हुंति नायव्वा ॥३०८॥

तिर्यंच और मनुष्योंमें जो जीव सोपक्रमायुष्क—आयुके विघातक उपक्रमसे सहित—होते हैं वे अपनी भुज्यमान आयुके दो त्रिभागोंके बीत जानेपर आयुबन्धके योग्य होते हैं। आयुबन्धके योग्य इस कालमें कितने ही जीव आठ बार, कितने ही सात बार, छह बार, पाँच बार, चार बार, तीन बार, दो बार और कितने ही एक बार उस आयुको बाँधा करते हैं। उनमें जिसने अपनी भुज्यमान आयुके तृतीय त्रिभागके प्रथम समयमें उसका बन्ध प्रारम्भ किया है वह उसे अन्तर्मुहूर्त- में समाप्त करके आठवें अपकर्षकाल तक बाँधी गयी समस्त आयुस्थितिके नौवें और इसी क्रमसे सत्ताईसवें आदि भागके शेष रहनेपर फिरसे भी उस आयुबन्धके योग्य हुआ करता है। परन्तु जिस जीवके उन आठ अपकर्षकालोंमें-से एक बार भी उसका बन्ध नहीं होता है वह उसे असंक्षेपाद्धा- काल (आवलीके असंख्यातवें भाग) में नियमसे उसको बाँधता है। निरुपक्रम—आयुविघातक उपक्रमसे रहित—असंख्यातवर्षायुष्क भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच तथा देव व नारकी जीव अपनी भुज्यमान आयुके छह मास मात्र शेष रह जानेपर उसके तृतीय त्रिभाग, नौवें और सत्ता- ईसवें आदि भागमें परभव सम्बन्धी आयुके बन्धके योग्य हुआ करते हैं (विशेषके लिए देखिए पु. १० पृ. २३३ व २३८ तथा पु. ६, पृ. १७०)। आठवें और नौवें गुणस्थानवर्ती जीव आयुके बिना सात मूल प्रकृतियोंके बन्धक हैं। इसका कारण यह है कि आयुका बन्ध सातवें गुणस्थान तक ही होता है, उसके आगे नहीं होता। सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीय और आयुके बिना छह प्रकृतियोंके बन्धक हैं ॥३०६॥

आगे सूक्ष्मसाम्परायकी उक्त छह प्रकृतियोंका निर्देश करते हुए एकविधबन्धक कौन हैं, उनका भी उल्लेख किया जाता है—

उपर्युक्त सूक्ष्मसाम्परायिक संयत मोह और आयुको छोड़कर शेष छह मूल प्रकृतियोंके बन्धक कहे गये हैं। क्रमसे उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिपर आरूढ़ उपशान्तमोह व क्षीणमोह तथा सयोगिकेवली ये एकविध बन्धक हैं—एकमात्र वेदनीय कर्मके बन्धक हैं। कारण यह है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अन्तराय इन पाँच प्रकृतियोंका बन्ध दसवें गुणस्थान तक ही होता है ॥३०७॥

आगे उक्त उपशान्तकषायादिको बन्धस्थितिका दिग्दर्शन कराते हुए यह दिखलाते हैं कि अयोगिकेवली बन्धक नहीं हैं—

---

१. अ मोहउयवज्जाणं पगडीए उ। २. अ एगविध। ३. अ 'न' नास्ति। ४. अ किंचिद्विशेष°।

ते पुनरुपशान्तमोहादयस्तस्यैकविधस्य द्विसमयस्थितेरीर्यापथस्य बन्धकाः, न पुनः सांपरायिकस्य पुनर्भवहेतोरिति । शैलेशीप्रतिपन्ना अयोगिकेवलिनोऽबन्धका भवन्ति ज्ञातव्याः सर्वथा निदानाभावादिति द्वारम् ॥३०८॥

तथा वेदना भेदिकेत्याह—

अट्ठण्हं सत्तण्हं चउण्हं वा वेयगो हवइ साहू ।
कम्मपयडीण इयरो नियमा अट्ठण्ह विन्नेओ ॥३०९॥

अष्टानां सप्तानां चतसृणां[1] वा वेदको भवति साधुः । कासां ? कर्मप्रकृतीनामिति । तत्राष्टानां यः कश्चित्, सप्तानामुपशान्त-क्षीणमोहच्छद्मस्थ-वीतरागो मोहनीयरहितानाम्, चतसृणामुत्पन्नकेवली वेदनीय-नाम-गोत्रायूरूपाणाम् । इतरः श्रावको देशविरतिपरिणामवर्ती नियमादष्टानां[2] विज्ञेयो वेदक इति द्वारम् ॥३०९॥

प्रतिपत्तिकृतो भेद इति अत्र आह[3]—

पंच महव्वय साहू इयरो इक्काइअणुव्वए अहवा ।
सइ सामइयं साहू पडिवज्जइ इत्तरं इयरो ॥३१०॥

पञ्चमहाव्रतानि प्राणातिपातादिविरमणादीनि संपूर्णान्येव साधुः प्रतिपद्यत इति योगः । इतरः श्रावकः एकादीनि अणुव्रतानि प्रतिपद्यत इत्येकं द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च चेति । अथवा सकृत्सामायिकं साधुः प्रतिपद्यते सर्वकालं च धारयति । इत्वरमितरः श्रावकोऽनेकशो न च सदा पालयतीति द्वारम् ॥३१०॥

उपर्युक्त उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगिकेवली ये दो समय स्थितिवाले एक वेदनीय कर्मके ईर्यापथबन्धक हैं। वे साम्परायिक—पुनर्जन्मके कारणभूत—उस वेदनीय कर्मके बन्धक नहीं हैं। अभिप्राय यह है कि इनके जो एक मात्र वेदनीय कर्मका बन्ध होता है वह भी दो समयकी स्थितिसे अधिक नहीं होता। शैलेशी—शैलेश (सुमेरु पर्वत) के समान स्थिरता—को प्राप्त अयोगिकेवलियोंको अबन्धक जानना चाहिए—उनके उक्त आठ मूल प्रकृतियोंमें-से किसीका भी बन्ध नहीं होता है; इसीलिए यहाँ उन्हें अबन्धक कहा गया है ॥३०८॥

अब क्रमप्राप्त वेदना (उदय) की अपेक्षा भी उन दोनोंमें भेद प्रकट किया जाता है—

साधु आठ, सात अथवा चार मूल कर्म प्रकृतिका वेदक होता है। परन्तु दूसरा (श्रावक) नियमसे आठों ही कर्मप्रकृतियोंका वेदक होता है, यह जानना चाहिए।

विवेचन—साधुओंमें छठे प्रमत्तसंयतसे लेकर सूक्ष्मसाम्पराय संयत तक आठों कर्मप्रकृतियोंके वेदक होते हैं। उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय ये दो मोहनीयके बिना शेष सातके वेदक होते हैं। सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये चार घातिया कर्मोंसे रहित वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मोंके वेदक होते हैं। परन्तु श्रावक सब ही नियमसे आठों मूल कर्मप्रकृतियोंके वेदक होते हैं ॥३०९॥

आगे प्रतिपत्तिकी अपेक्षा उन दोनोंमें भेद दिखलाते हैं—

साधु पाँचों ही महाव्रतोंको स्वीकार करता है, परन्तु श्रावक एक आदि—एक, दो, तीन, चार अथवा पाँचों ही—अणुव्रतोंको स्वीकार करता है। अथवा साधु एक ही बार सामायिकको

---

१. अ चतिसृणां । २. अ देश इति परिणाममिति नियमादष्टानां । ३. अ प्रतिपत्तयोग इत्यत आह ।

अतिक्रमो भेदक इति एतदाह—

इक्कस्सइक्कमे खलु वयस्स सव्वाणइक्कमो जइणो।
इयरस्स उ तस्सेव य पाठंतरमो इवा किंच ॥३११॥

एकस्यातिक्रमे केनचित्प्रकारेण व्रतस्य। सर्वेषामतिक्रमो यतेस्तथाविधैकपरिणामत्वात्। इतरस्य तु श्रावकस्य। तस्यैवाधिकृतस्याणुव्रतस्य, न शेषाणाम्, विचित्रविरतिपरिणामात्। पाठान्तरमेवाथवा द्वारगाथायाम्। तच्चेदं किं च "सव्वं ति भाणिऊणं"[1] इत्यादिग्रन्थान्तरापेक्षमन्यत्रेति ॥३११॥

उक्तमानुषङ्गिकम्, प्रकृतं प्रस्तुमः। इदमपि च शिक्षापदव्रतमतिचाररहितमनुपालनीयमिति तानाह—

मण-वयण-कायदुप्पणिहाणं सामाइयम्मि वज्जिज्जा।
सइअकरणयं अणवट्ठियस्स तह करणयं चेव ॥३१२॥

मनोवाक्कायदुःप्रणिधानं[2] मनोदुष्टचिन्तनादि। सामायिके कृते सति वर्जयेत्, स्मृत्यकरणतां अनवस्थितस्य तथा करणं चैव वर्जयेत्। तत्र स्मृत्यकरणं नाम सामायिकविषया या स्मृतिस्तस्या अनासेवनमिति। एतदुक्तं भवति प्रबलप्रमादान्नैव स्मरत्यस्यां वेलायां सामायिकं कर्तव्यम्, कृतं न कृतमिति वा। स्मृतिमूलं च मोक्षसाधनानुष्ठानमिति। सामायिकस्यानवस्थितस्य करणं अनवस्थितमल्पकालं[3] करणानन्तरमेव त्यजति यथाकथञ्चिद्वानवस्थितं करोतीति ॥३१२॥

स्वीकार करता है—किन्तु पालन उसका वह सदा काल करता है। इसके विपरीत श्रावक उसे अनेक बार स्वीकार करता है और पालन उसका वह सदा नहीं करता है। इस प्रकार प्रतिपत्ति (व्रतको स्वीकृति) की अपेक्षा भी उन दोनोंमें भेद है ॥३१०॥

अब अतिक्रमकी अपेक्षा भी उन दोनोंमें भेद प्रकट किया जाता है—

यतिके किसी एक व्रतका अतिक्रम (खण्डन) होनेपर सब ही व्रतोंका अतिक्रम होता है, क्योंकि वह उस प्रकारके एक ही परिणामसे सहित होता है। पर श्रावकके जिस अणुव्रतका अतिक्रम होता है उसीका वह अतिक्रम होता है, शेष व्रतोंका अतिक्रम उसके नहीं होता, क्योंकि विरतिका परिणाम उसके विचित्र हुआ करता है। अथवा 'द्वारगाथा (२९५) में 'पंच' के स्थानमें 'किं च' पाठान्तर है, तदनुसार अर्थ सहित ग्रहण करना चाहिए ॥३११॥

इस सामायिकके प्रसंगसे कुछ आनुषंगिक विवेचन करके उसके भी निरतिचार परिपालनके लिए अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

मनका दुष्प्रणिधान, वचनका दुष्प्रणिधान, कायका दुष्प्रणिधान, स्मृतिकी अकरणता और अनवस्थित सामायिकका करना; ये पांच उक्त सामायिकको दूषित करनेवाले उसके अतिचार हैं। उनका परित्याग करना चाहिए ॥३१२॥

---

१. मुद्रितप्रतौ पादटिप्पणके इयं गाथा उद्धृता दृश्यते—सव्वं ति भाणिऊणं विरई खलु जस्स सव्विया नत्थि। सो सव्वविरइवाई चुक्कइ देसं च सव्वं च ॥ २. अ अतोऽग्रे प्रकृतगाथाया उत्थानिकागत '०षङ्गिकं प्रकृतं प्रस्तुमः' इत्यत आरभ्य गाथान्तर्गत 'सइअकरणयं' पर्यन्तः संदर्भः पुनरपि लिखितोऽस्ति, तदग्रे च 'तत्र स्मृत्यकरणं नाम' इत्यादि प्रकृतगाथाटीकाभागो लिखितोऽस्ति। ३. अ °स्थितकल्पकालं।

एतदेव अतिचारजातं विधि-प्रतिषेधाभ्यां स्पष्टयति—

सामाइयं ति काउं परचिंतं जो उ चिंतई सड्ढो ।
अट्टवसट्टोवगओ निरत्थयं तस्स सामइयं ॥३१३॥

सामायिकमित्येवं कृत्वा आत्मानं संयम्य । परचिन्तां संसारे इतिकर्तव्यताविषयाम् । यस्तु चिन्तयति श्रावकः । आर्तवशार्तश्च स उपगतश्चेति समासः, आर्तध्यानसामर्थ्येनार्तः, उप सामीप्येन गतो भवस्येति भावार्थः । निरर्थकं तस्य सामायिकं अनात्मचिन्तावतो निःफलं सामायिकमित्यर्थः । आत्मचिन्ता च सद्ध्यानरूपेति (१) ॥३१३॥

उक्तो मनोदुःप्रणिधानविधिः, सांप्रतं[1] वाग्दुःप्रणिधानमाह—

कयसामइओ पुव्विं बुद्धीए पेहिऊण भासिज्जा ।
सइ अणवज्जं वयणं अन्नह सामाइयं न भवे ॥३१४॥

कृतसामायिकः सन् श्रावकः । पूर्वमाद्यम् । बुद्धया प्रेक्ष्यालोच्य । भाषेत ब्रूयात् । सदा निरवद्यवचनम्, प्रणालिकयापि न कस्यचित्पीडाजनकम् । अन्यथानालोच्य भाषमाणस्य । सामायिकम् न भवेत्, वाग्दुःप्रणिहितत्वादिति (२) ॥३१४॥

भणितो वाग्दुःप्रणिधानातिचारः, सांप्रतं काय[दुः]प्रणिधानमुररीकृत्याह—

अनिरिक्खियापमज्जिय थंडिल्ले ठाणमाइ सेवंतो ।
हिंसाभावे वि न सो कडसामइओ पमायाओ ॥३१५॥

आगे इन अतिचारोंको स्पष्ट करते हुए प्रथमतः मनके दुष्प्रणिधानका निषेध किया जाता है—

'सामायिक' इस प्रकार करके—अपनेको संयमित करके—जो श्रावक आर्त-रौद्ररूप दुर्ध्यानके वशीभूत होकर परचिन्ताको—अन्य सांसारिक करणीय कार्योंका—चिन्तन करता है उसकी सामायिक निरर्थक है।

विवेचन—सामायिकमें सर्वसावद्य योगका त्याग करना आवश्यक है। पर यदि कोई श्रावक उस सामायिकमें स्थित होकर क्रोध, लोभ व ईर्ष्या आदिके वश होता हुआ आत्मस्वरूपसे भिन्न अन्य आरम्भादि विषयक सावद्य कार्यका चिन्तन करता है तो यह मनदुष्प्रणिधान नामक प्रथम अतिचार होगा, जिसका त्याग करना आवश्यक है। यदि वह आर्त व रौद्र ध्यानके वश मनदुष्प्रणिधानको नहीं छोड़ सकता है तो उसका सामायिक करना व्यर्थ होगा ॥३१३॥

अब क्रमप्राप्त दूसरे वचनदुष्प्रणिधानके स्वरूपको दिखलाते हुए उसके परित्यागकी ओर ध्यान दिलाया जाता है—

जो सामायिकके करनेमें उद्यत है उसे पूर्वमें बुद्धिसे विचार कर सदा निर्दोष भाषण करना चाहिए। अन्यथा—यदि वह निरवद्य वचनका उच्चारण नहीं करता है तो—वह उसकी यथार्थ सामायिक न होकर वचन दुष्प्रणिधान नामक दूसरे अतिचारसे मलिन होगी ॥३१४॥

आगे कायदुष्प्रणिधानसे भी सामायिककी निरर्थकता प्रकट की जाती है—

---

१. अ अतोऽग्रेऽग्रिमगाथायाः (३१५) उत्थानिकागत'सांप्रतं' पर्यन्तः संदर्भो न लिखितोऽस्ति ।

अनिरीक्ष्य चक्षुषा। अप्रमृज्य च मृदुवस्त्रान्तेन। स्थण्डिले कल्पनीयभूभागे। स्थानादि कायोत्सर्ग-निषीदनादि। सेवमानः सन्। हिंसाभावेऽपि प्राण्यभावेन[1] कथंचिद्व्यापत्त्यभावेऽपि। नासौ कृतसामायिकः। कुतः प्रमादात्काये दुःप्रणिधानादिति (३) ॥३१५॥

प्रतिपादितः कायदुःप्रणिधानमार्गः सांप्रतं स्मृत्यकरणमधिकृत्याह[2]—

न सरइ पमायजुत्तो जो सामइयं कया उ कायव्वं।
कयमकयं वा तस्स उ कयं पि विफलं तयं नेयं ॥३१६॥

न स्मरति प्रमादयुक्तः सन् यः सामायिकं कदा तु कर्तव्यं कोऽस्य काल इति, कृतमकृतं वा न स्मरति। तस्येत्थंभूतस्य[3]। कृतमपि सद् विफलं तत् ज्ञेयम्, स्मृतिमूलत्वाद्धर्मानुष्ठानस्य, तदभावे तदभावात्[4] (४) ॥३१६॥

व्याख्यातं स्मृत्यकरणमधुनानवस्थितकरणमाह—

काऊण तक्खणं चिय पारेइ करेइ वा जहिच्छाए।
अणवट्ठियसामइयं अणायराओ न तं सुद्धं ॥३१७॥

कृत्वा तत्क्षणमेव करणानन्तरमेव। पारयति करोति वा यदृच्छया यथाकथंचिदेवमनवस्थितं सामायिकमनादरादबहुमानान्नैतच्छुद्धं[5] भवति[6] न निरवद्यमिति ॥३१७॥

उक्तं सातिचारं प्रथमं शिक्षापदमधुना द्वितीयमाह—

जो श्रावक सामायिकके योग्य शुद्धि भूमिको आँखोंसे न देखकर और कोमल वस्त्र आदिसे उसका परिमार्जन न करके स्थान आदिका सेवन करता है—कायोत्सर्ग या पद्मासनादिसे स्थित होता है वह प्रमादके वशीभूत होनेसे जीवहिंसाके न होनेपर वस्तुतः सामायिक करनेवाला नहीं होता—उसकी वह सामायिक वचनदुष्प्रणिधान नामक तीसरे अतिचारसे दूषित होती है ॥३१५॥

अब स्मृति-अकरणतासे सामायिककी निष्फलताको दिखलाते हैं—

जो श्रावक 'सामायिकको कब करना चाहिए, अथवा सामायिक मैं कर चुका हूँ या अभी नहीं की है' इसका प्रमादसे युक्त होकर स्मरण नहीं करता है उसके द्वारा की गयी भी उस सामायिकको निष्फल जानना चाहिए। उपर्युक्त स्मृतिके अभावमें उसकी सामायिक स्मृति-अकरणता नामक चौथे अतिचारसे मलिन होती है ॥३१६॥

अब अनवस्थितकरणसे सामायिक शुद्ध नहीं रहती, यह सूचित करते हैं—

जो श्रावक सामायिकको करके तत्क्षण ही उसे समाप्त कर देता है अथवा यदृच्छासे—मनमाने ढंगसे अनादरपूर्वक—करता है उसकी वह अनवस्थित सामायिक अनादरके कारणसे शुद्ध नहीं रहती है। अभिप्राय यह है कि श्रावकको प्रमादके वश न होकर सामायिकको आदरपूर्वक करना चाहिए, तभी उसकी सामायिक सफल कही जावेगी, अन्यथा वह अनवस्थितकरण नामक पाँचवें अतिचारसे दूषित होनेवाली है ॥३१७॥

इस प्रकार प्रथम शिक्षापदभूत सामायिकका निरूपण करके अब क्रमप्राप्त दूसरे शिक्षापदव्रतका स्वरूप कहा जाता है—

---

१. अ हिंसाभावे प्राण्यभावेन। २. अ स्मृत्यंतरद्धानमाह। ३. अ तस्येवंभूतस्य। ४. अ 'तदभावात्' नास्ति। ५. अ °मनादराबहु। ६. 'भवति' नास्ति।

दिसिवयगहियस्स दिसापरिमाणस्सेह पइदिणं जं तु ।
परिमाणकरणमेयं बीयं सिक्खावयं भणियं ॥३१८॥

दिग्व्रतं प्राङ्निरूपितस्वरूपम्, तद्गृहीतस्य । दिक्परिमाणस्य योजनशतादेर्दीर्घकालिकस्य । इह लोके । प्रतिदिनं यदेव परिमाणकरणमेतावदेव गन्तव्यम्, न परत इति । एतद्द्वितीयं शिक्षापदं भणितमिह प्रवचने इति । प्रतिदिवसग्रहणं प्रतिप्रहराद्युपलक्षणम्—प्रतिप्रहरं प्रतिघटिकमिति ॥३१८॥

देसावगासियं नाम सप्पविसनायओऽपमायाओ[2] ।
आसयसुद्धीइ हियं पालेयव्वं पयत्तेणं ॥३१९॥

दिग्व्रतगृहीतदिक्परिमाणैकदेशो देशस्तस्मिन्नवकाशो गमनादिचेष्टास्थानम्, तेन निर्वृत्तं देशावकाशिकमिति नामेति संज्ञा । एतच्च सर्पविषज्ञातात् सर्पोदाहरणेन विषोदाहरणेन[3] च । जहा सप्पस्स पुव्वं बारस जोयणाणि विसओ आसीदिट्ठीए, पच्छा विज्जावाइएण ओसारंतेण[4] जोयणे ठविओ । एवं सावगो दिसिव्वयाहिगारे बहुयं अवरज्झियाइओ, पच्छा देसावगासिएणं तं पि ओसारइ । अहवा विसविट्ठंतो अगएण एगाए अंगुलीए ठवियं । एवं विभासा । एवमप्रमादात्प्रतिदिनादिपरिमाणकरणे अप्रमादस्तथा चाशयशुद्धिः चित्तवैमल्यम् । ततो हितमिदमिति पालयितव्यं प्रयत्नेनेति ॥३१९॥

दिग्व्रतमें ग्रहण किये गये दिशाओंके प्रमाणको यहाँ—इस दूसरे शिक्षापदमें—प्रतिदिन जो प्रमाण किया जाता है, इसे दूसरा शिक्षापद कहा गया है।

विवेचन—दिग्व्रत नामक प्रथम गुणव्रतमें जो दिशाओंमें जानेका प्रमाण किया जाता है वह कुछ विस्तृत प्रमाणमें और जीवन पर्यन्तके लिए किया जाता है। प्रकृत देशावकाशिक नामके इस दूसरे शिक्षापद व्रतमें प्रतिदिन घड़ी व प्रहर आदि कालके प्रमाणपूर्वक उसमें संक्षेप किया जाता है। इस प्रकारके प्रमाण कर लेनेपर उसके आगे प्रयोजनके होते हुए भी न जानेके कारण वहाँ श्रावक हिंसादि पापोंसे बचता है ॥३१८॥

इस देशावकाशिक व्रतका किस प्रकारसे पालन करना चाहिए, इसे आगे स्पष्ट किया जाता है—

सर्पके और विषके उदाहरणके अनुसार प्रमादसे रहित होकर अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक इस हितकर देशावकाशिक नामक व्रतका प्रयत्नके साथ पालन करना चाहिए।

विवेचन—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सर्पका दृष्टिविष जो पूर्वमें बारह योजन प्रमाण था पीछे उसे विद्यावादी (मान्त्रिक) के द्वारा क्रमसे उतारते हुए एक योजनमें स्थापित कर दिया जाता है। इसी प्रकार श्रावक दिग्व्रतमें गृहीत विशाल देशमें बहुत अपराध आदिको कर सकता था। उसे इस देशावकाशिकव्रतमे और भी सीमित कर देनेके कारण अधिक अपराधसे बच जाता है। अथवा दूसरा उदाहरण विषका दिया जाता है—जिस प्रकार विषैले किसी सर्प आदिके काट लेनेपर उसका विष समस्त शरीरमें फैल जाता है, फिर भी मान्त्रिक अपनी मन्त्रशक्तिके द्वारा उसे क्रमशः उतारते हुए केवल अंगुलिमें स्थापित कर देता है, उसी प्रकार देशावकाशिकव्रती दिग्व्रतमें स्वीकृत विशाल देशको कालप्रमाणके आश्रयसे प्रतिदिन संक्षिप्त किया करता है। ऐसा

---

१. सिक्खावणियं । २. अ विसणाउ पमाणाउ । ३. अ 'विषोदाहरणेन' नास्ति । ४. विद्याएण उसारत्तेण ।

इदमपि चातिचाररहितमनुपालनीयमिति अतस्तानाह—

वज्जिज्जा आणयणप्पओगपेसप्प ओगयं चेव ।
सद्दाणुरूववायं तह बहिया पुग्गलक्खेवं ॥३२०॥

प्रतिपन्नदेशावकाशिकः सन् वर्जयेत् । किम् ? आनयनप्रयोगं प्रेष्यप्रयोगं चैव शब्दानुपातं रूपानुपातं च तथा बहिर्वा पुद्गलक्षेपं वर्जयेदिति पदघटना। भावार्थस्तु इह विशिष्टावधिके भूदेशाभिग्रहे परतः स्वयं गमनायोगाद्योऽन्यः सचित्तादिद्रव्यानयने प्रयुज्यते संदेशकप्रदानादिना 'त्वयेदमानेयम्' इति अयमानयनप्रयोगः ।१। तथा प्रेष्यप्रयोगः बलाद्विनियोज्यः प्रेष्यस्तस्य प्रयोगो यथाभिगृहीत-प्रविचारदेशव्यतिक्रमभयात् "त्वयावश्यमेव गत्वा मम गवाद्यानेयमिदं वा तत्र कर्तव्यमेव" एवंभूतः तथा शब्दानुपातः स्वगृहवृत्तिप्राकाराद्यव्यवच्छिन्नभूप्रदेशाभिग्रहे बहिः प्रयोजनोत्पत्तौ तत्र स्वयं गमनायोगाद्वृत्ति-प्राकारप्रत्यासन्नवर्तिनो बुद्धिपूर्वकमभ्युत्कासितादिकशब्दकरणेन समवसितकान् बोधयतः शब्दानुपातनमुच्चारणं तादृग्येन[1] परकीयश्रवणविवरमनुपतत्यसाविति तथा रूपानुपातो गृहीतदेशाद्बहिः प्रयोजनभावे शब्दमनुच्चारयत एव परेषां समीपानयनार्थं स्वशरीररूपप्रदर्शनं रूपानुपातः तथा बहिः पुद्गलक्षेपोऽभिगृहीतदेशाद्बहिः प्रयोजनभावे परेषां प्रबोधनाय लेष्ट्वादिक्षेपः पुद्गलप्रक्षेप इति भावना देशावकाशिकमेतदर्थमभिगृह्यते मा भूद्बहिर्गमनागमनादिव्यापारजनितः

करनेसे प्रमादसे रहित होनेके कारण उसका चित्त भी निर्मल होता है। इसीलिए प्रयत्नपूर्वक उसके पालनके लिए यहाँ प्रेरणा की गयी है। 'देश' का अर्थ है दिग्व्रतमें गृहीत देशका एक अंश, उसमें अवकाश (जानेकी प्रवृत्ति) होनेसे इस व्रतकी देशावकाशिक यह सार्थक संज्ञा समझना चाहिए ॥३१९॥

आगे उसके निरतिचार पालन करानेके लिए अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

आनयनप्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और बलि पुद्गलक्षेप ये उसके पाँच अतिचार हैं, जिनका परित्याग करना चाहिए।

विवेचन—(१) आनयन—इस व्रतमें स्वीकृत प्रमाणके बाहर जाना निषिद्ध है, ऐसा समझकर परिमित देशके बाहरसे किसी सचित्त आदि वस्तुके लानेके लिए 'तुम्हें वहाँसे अमुक वस्तु लाना है' ऐसा सन्देश देकर जो उसे वहाँसे मँगाया जाता है, यह उसका आनयन प्रयोग नामका प्रथम अतिचार है। (२) प्रेष्यप्रयोग—प्रेष्य नाम दास या सेवकका है। सीमित देशके बाहर जाना उचित न जानकर 'तू अमुक देशमें जाकर मेरी गाय आदिको ले आ' इस प्रकारसे जो देशावकाशिकव्रतीके द्वारा सेवकको अभीष्ट कार्यमें प्रयुक्त किया जाता है, इसका नाम प्रेष्य-प्रयोग है। यह उसका दूसरा अतिचार है। (३) शब्दानुपात—मर्यादित देशके बाहर प्रयोजनके उपस्थित होनेपर वहाँ जाना निषिद्ध समझकर जो उक्त अपने गृह आदि मर्यादित क्षेत्रके भीतर स्थित रहता हुआ भी उसके बाहर अवस्थित जनोंके सम्बोधनार्थ जो खाँसी आदि रूप शब्दोच्चारण किया जाता है उसे शब्दानुपात नामक तीसरा अतिचार जानना चाहिए। (४) रूपानुपात—स्वीकृत देशके बाहर प्रयोजनके उपस्थित होनेपर शब्दोच्चारण न करता हुआ भी देशावकाशिकव्रती जो मर्यादित क्षेत्रके बाहर स्थित किसीको समीपमें बुलानेके लिए अपने शरीरको दिखलाता है, इसका नाम रूपानुपात है। यह प्रकृतव्रतका चौथा अतिचार है। (५) मर्यादित क्षेत्रके बाहर प्रयोजनवश वहाँ अवस्थित अन्य किसीको प्रबोधित करनेके लिए जो

---

१. अ पूर्वकामभ्युत्काशितादिशब्दः करणेन समवसितकां बोधयन् शब्दानुपातः मुच्चारणं तादृगेन ।

प्राण्युपमर्द इति । स च स्वयं कृतोऽन्येन वा कारितः इति न कश्चित्फले विशेषः, प्रत्युत गुणः, स्वयं गमन ईर्यापथविशुद्धेः, परस्य पुनरनिपुणत्वात्तदशुद्धिरिति ॥३२०॥

व्याख्यातं सातिचारं द्वितीयं शिक्षापदमधुना तृतीयमुच्यते—

आहारपोसहो खलु सरीरसक्कारपोसहो चेव ।
बंभव्वावारेसु य तइयं सिक्खावयं नाम ॥३२१॥

आहारपौषधः खलु शरीरसत्कारपौषधश्चैव ब्रह्माव्यापारयोश्चेति ब्रह्मचर्यपौषधोऽव्यापारपौषधश्चेति । इह पौषधशब्दः रूढ्या पर्वसु वर्तते । पर्वाणि चाष्टम्यादितिथयः, पूरणात्पर्व धर्मोपचयहेतुत्वादिति । तत्राहारः प्रतीतः, तद्विषयस्तन्निमित्तो वा पौषधः आहारपौषधः । आहारादिनिवृत्तिनिमित्तं धर्मपूरणं पर्वेतिभावना[1] । एवं शरीरसत्कारपौषधः । ब्रह्मचर्यपौषधः—अत्र चरणीयं चर्यम् 'अतो यत्' इत्यस्मादधिकारात् 'गद-मद-चर-यमश्चानुपसर्गः' इति 'यत्' ब्रह्म कुशलानुष्ठानम्[2] । यथोक्तम्—ब्रह्म वेदो ब्रह्म तपो ब्रह्म ज्ञानं च शाश्वतम् । ब्रह्मवत् चर्यं चेति समासः, शेषं पूर्ववत् । तथाव्यापारपौषधः तृतीयं शिक्षाव्रतं नामेति । सूचनात्सूत्रमिति न्यायात्तृतीयं शिक्षापदव्रतमिति ॥३२१॥

एतदेव विशेषेणाह[3]—

कंकड़ आदि फेंके जाते हैं, इसे पुद्गल क्षेप कहा जाता है । यह उसका पाँचवाँ अतिचार है । ये पाँचों अतिचार परित्याज्य हैं । देशावकाशिकव्रतको इसलिए ग्रहण किया जाता है कि मर्यादित देशके बाहर न जानेसे वहाँ स्थित जीवोंको पीड़ा न पहुँचे । पर स्वीकृत क्षेत्रके बाहर स्वयं जाकर कार्य किया या किसी दूसरेसे कराया, इसमें कुछ अन्तर नहीं है । प्रत्युत इसके, दूसरोंको भेजने आदिकी अपेक्षा स्वयंके जानेमें यह एक विशेषता भी है कि वह ईर्यापथकी शुद्धिपूर्वक जायेगा जो प्रायः दूसरोंसे सम्भव नहीं है, क्योंकि वे उस प्रकारसे प्राणियोंके संरक्षणमें सावधान नहीं रह सकते ॥३२०॥

अब क्रमप्राप्त तीसरे शिक्षापदके स्वरूपका निर्देश किया जाता है—

आहारपोषध, शरीरसत्कारपोषध, ब्रह्मचर्यपोषध और अव्यापारपोषध; इन सबका नाम तृतीय (पोषध) शिक्षापदव्रत है ।

विवेचन—यहाँ 'पोषध' शब्द पर्वके अर्थमें रूढ़ है । पर्वसे अभिप्राय अष्टमी व चतुर्दशी आदि धार्मिक तिथियोंका है, क्योंकि इनके आश्रयसे धर्मकी पूर्ति (उपचय) हुआ करती है । आहारके निमित्तसे—उसके परित्याग (अनशन आदि) से जो धर्मका उपचय होता है उसे आहार पोषध कहा जाता है । शरीरविषयक सत्कार—स्नान आदिसे उसके सुसज्जित करने—के त्यागसे जो धर्मका संचय होता है उसका नाम शरीरसत्कारपोषध है । ब्रह्मचर्यपोषधसे अभिप्राय कुशल अनुष्ठानका है । अमुक-अमुक व्यापारको मैं नहीं करूँगा, इस प्रकारके व्रतको अव्यापारपोषध समझना चाहिए (गाथागत 'बंभव्वावारेसु' में ग्रन्थकारको व्यापारपोषध अभीष्ट है या अव्यापारपोषध, यह स्पष्ट नहीं है, टीकासे भी उसका कुछ स्पष्टीकरण नहीं होता) । इस प्रकारके सब पोषधको यहाँ तीसरा शिक्षापदव्रत कहा गया है ॥३२१॥

आगे इसीको कुछ विशेष रूपसे स्पष्ट किया जाता है—

---

१. अ धर्म्मपूरणं प्रवृतिभावना । २. अ °नुष्ठानां यथो ब्रह्म । ३. अ विशेषमाह ।

देसे सव्वे य दुहा इक्किको इत्थ[1] होइ नायव्वो ।
सामाइए विभासा देसे इयरम्मि नियमेण ॥३२२॥

देश इति देशविषयः, सर्व इति सर्वविषयश्च, द्विधा द्विप्रकार एकैक आहारपौषधादिरत्र प्रवचने भवति ज्ञातव्यः । सामायिके विभाषा कदाचित्क्रियते कदाचिन्नेति देशपौषधे । इतरस्मिन् सर्वपौषधे । नियमेन सामायिकम्, अकरणादात्मवंचनेति ।

भावत्थो पुण इमो—आहारपोसहो दुविहो देसे सव्वे य । देसे अमुगा विगती आयंबिलं वा एक्कसिं[2] वा दो वा । सव्वे चउव्विहो आहारो अहोरत्तं पच्चक्खाओ । सरीरसक्कारपोसहो न्हाणुव्वट्टण-वन्नग-विलेवण-पुप्फ-गन्ध-तंबोलाणं वत्थाहरणपरिच्चागो य । सो दुविहो देसे सव्वे य । देसे अमुगं सरीरसक्कारं न करेमि, सव्वे सव्वं न करेमि त्ति । बंभचेरपोसहो वि देसे सव्वे य । देसे दिवा रत्तिं वा एक्कसिं वा दो वारे त्ति, सव्वे अहोरत्तं बंभचारी भवति । अव्वापारपोसहो वि दुविहो देसे सव्वे य । देसे अमुगंमि वावारंमि, सव्वे सव्वं वावारं चेव हल-सगड-घर-कम्माइयं ण करेमि ।[3] एत्थ जो देसपोसहं करेइ सो सामायिकं करेइ वा ण वा । जो सव्वपोसहं करेइ सो नियमा कयसामाइओ । जइ ण करे तो णियमा वंचिज्जइ । कहिं ? चेइयघरे साहुमूले वा घरे वा पोसहसालाए वा । उम्मुक्कमणि-सुवन्नो पढंतो पोत्थगं वा वायंतो धम्मज्झाणं वा झायइ जहा एए साहुगुणा अहमसत्थो मंदभग्गो [ग्गो] धारेउं विभासा ॥३२२॥

यहाँ (आगममें) उक्त आहार पौषधादिमें प्रत्येक देशविषयक और सर्वविषयकके भेदसे दो प्रकारका है, यह जानना चाहिए । देशविषयक आहारपोषधादिमें सामायिक विषयक विकल्प है—कदाचित् वह की जाती है और कदाचित् नहीं भी की जाती है, परन्तु सर्वविषयक पौषधमें वह नियमसे की जाती है ।

विवेचन—अभिप्राय इसका यह है कि आहारपौषधमें जो आहारका परित्याग किया जाता है वह देश या सर्वरूपसे किया जाता है । इनमें देशरूपमें जैसे—मैं अमुक विकृति (घृतादि) या आचाम्ल (भातका माड़) में एक या दो को लूँगा, अथवा एक बार या दो बार लूँगा, इस प्रकारसे जो आहारविषयक नियम किया जाता है उसे देशविषयक आहारपौषध समझना चाहिए । चारों प्रकारके आहारका जो दिन-रातके लिए प्रत्याख्यान किया जाता है, यह सर्व-विषयक आहारपौषध कहलाता है । शरीरसत्कारपौषधमें स्नान, उद्वर्तन (उबटन), विलेपन, पुष्प, गन्ध व ताम्बूल आदि तथा वस्त्राभरण आदिका परित्याग किया जाता है । वह भी देश अथवा सर्वरूपमें किया जाता है । उक्त शरीर संस्कारोंमें मैं अमुक शरीर संस्कारको नहीं करूँगा, इस प्रकारसे किसी विशेष शरीर संस्कारका त्याग करना, यह देशशरीर संस्कार पौषध कहलाता है । समस्त शरीर संस्कारोंके त्यागको सर्वरूपमें शरीर सत्कार पौषध जानना चाहिए । ब्रह्मचर्य पौषधमें मैं दिनमें, रात्रिमें अथवा एक या दो बार भोग करूँगा; इस प्रकारके नियमको देश ब्रह्मचर्य पौषध कहा जाता है । दिन-रात ब्रह्मचर्यके पालनका नाम सर्वब्रह्मचर्य पौषध है । अव्यापार पौषध भी देश और सर्वके भेदसे दो प्रकारका है । उनमें अमुक व्यापारको मैं नहीं करूँगा, इस प्रकारके नियमका नाम देश अव्यापार पौषध और हल व गाड़ी आदि किसी भी कर्मको मैं नहीं करूँगा, इस प्रकारके नियमका नाम सर्व अव्यापार पौषध है । चार प्रकारके पौषधमें जो श्रावक देश पौषधको करता है वह सामायिक करे अथवा नहीं भी करे, इसका नियम

१. अ एक्केक्को एत्थ । २. अ अपुगा विपती आयंविवंला एक्कंसि । ३. अ घरकरिकम्मा य ।

इदमपि च शिक्षापदव्रतमतिचाररहितमनुपालनीयमिति । अत आह—

अप्पडिदुप्पडिलेहियसिज्जासंथारयं विवज्जिज्जा ।
अपमज्जियदुपमज्जिय तह उच्चाराइभूमिं च ॥३२३॥

अप्रत्युपेक्षित-दुःप्रत्युपेक्षितशय्या-संस्तारकौ वर्जयेत् । इह संस्तीर्यते यः प्रतिपन्नपौषधोपवासेन दर्भ-कुश-कम्बल-वस्त्रादिः स संस्तारकः, शय्या प्रतीता । अप्रत्युपेक्षणं गोचरापन्नस्य शय्यादेः चक्षुषानिरीक्षणम् । दुष्टमुद्भ्रान्तचेतसः प्रत्युपेक्षणं दुष्प्रत्युपेक्षणम् । ततश्चाप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षितौ च शय्या-संस्तारकौ चेति समासः । शय्यैव वा संस्तारक इति । एवमन्यत्रापि [1]क्षरगमनिका कार्येति । उपलक्षणं च शय्या-संस्तारकावुपयोगिनः पीढ-फलकादेरपि ।

एत्थं सामायारी—कडपोसहो णो अप्पडिलेहिय सेज्जं दुरुहइ संथारगं वा दुरुहइ पोसहसालं वा सेवइ दब्भ-वत्थं वा सुद्धवत्थं वा भूमीए संथारेइ । काइयभूमीउ वा आगओ पुणरवि पडिलेहइ, अन्नहातियारो । एवं पीढ-फलगादिसु वि विभासा ।

नहीं रहता । किन्तु जो सर्वपौषधको करता है वह नियमसे सामायिक करता है, यदि वह नहीं करता है तो वह स्वीकृतव्रतसे वंचित होता है । पौषधोपवासव्रतीको चैत्यगृहमें, साधुके समीपमें, घरमें अथवा पौषधशालामें कहीं भी मणि-सुवर्ण आदिको छोड़कर सामायिक करते हुए पढ़ना चाहिए, पुस्तकका वाचन करना चाहिए अथवा धर्मध्यान करना चाहिए । उसे विचार करना चाहिए कि ये श्रेष्ठ गुण हैं, मैं अभागा उन्हें धारण करनेके लिए असमर्थ हूँ, जो अनिवार्य रूपसे उनका परिपालन नहीं कर पाता ॥३२२॥

आगे इसे निरतिचार पालनके लिए उसके अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

पौषधोपवासव्रती श्रावकको अप्रत्यपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या-संस्तारक, अप्रमार्जित-दुःप्रमार्जित शय्या-संस्तारक, अप्रत्यपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चारादिभूमि और अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारादि भूमिका परित्याग करना चाहिए ।

विवेचन—प्रकृत गाथामें इस व्रतके चार अतिचारोंका निर्देश किया गया है । वे इस प्रकार हैं—(१) अप्रत्यपेक्षित-दुष्प्रत्यपेक्षित शय्या-संस्तारक—शय्यासे अभिप्राय चारपाई या पलंग आदिका तथा आसनसे अभिप्राय डाभके आसन व कम्बलवस्त्र आदिका है । इनका उपयोग आँखोंसे देखे बिना अथवा असावधानी या अधीरतासे देखकर करना । (२) उक्त शय्या व संस्तारकका उपयोग कोमल वस्त्र आदिसे झाडे-पोंछे बिना अथवा व्याकुल चित्तसे झाड़-पोंछकर करना, यह अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक नामका दूसरा अतिचार है । (३) उच्चार नाम मलका है, आदि शब्दसे मूत्र व कफ आदिको ग्रहण करना चाहिए । मल-मूत्रादिके विसर्जनके समय भूमिको बिना देखे ही अथवा अधीरतासे देखकर उनका विसर्जन करना, यह अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चारादिभूमि नामका तीसरा अतिचार है । (४) इसी प्रकार उक्त मल-मूत्रादि विसर्जनकी भूमिको कोमल वस्त्र आदिसे झाड़ने-पोंछनेके बिना या दुष्टतापूर्वक झाड़-पोंछकर वहाँ मल-मूत्रादिको विसर्जित करना, यह उक्त व्रतका अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारादिभूमि नामका

---

१. अ '[1]मन्यत्राप्यक्षरगम' इत्यतोऽग्रे 'णो अप्पडिले' पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति । (अग्रे एक-दोपंक्त्य उपरिमाः लिखिताः, तत्पश्चाच्च एक-दोपंक्त्योऽधस्तना लिखिताः, एवं मुहुर्मुहुः पंक्तिव्यत्यासः कृतः । एवं च सति समस्तोऽपि संदर्भोऽस्तव्यस्तो जातः) ।

तथा अप्रमार्जित-दुःप्रमार्जितशय्या-संस्तारकावेव। इहाप्रमार्जनं शय्यादेरासेवनकाले वस्त्रोपान्तादिनेति, दुष्टमविधिना प्रमार्जनम्। शेषं भावितमेव। एवमुच्चारप्रस्रवणभुवमपि। उच्चारप्रस्रवणं निष्ठचूत-स्वेवमलाद्युपलक्षणम्। शेषं भावितमेव ॥३२३॥ गाहा—

तह चेव य उज्जुत्तो विहीइ इह पोसहम्मि वज्जिज्जा।
सम्मं च अणणुपालणमाहाराईसु सव्वेसु ॥३२४॥

तथैव च यथानन्तरोदितमुद्युक्तो विधिना प्रवचनोक्तक्रियया निःप्रकम्पेन मनसा। इह पौषधे पौषधविषयं वर्जयेत्। किम्? सम्यगननुपालनं चेति। क्व? आहारादिषु सर्वेषु सर्वाहारादिविषयमिति गाथाक्षरार्थः।

एत्थ भावणा—कयपोसहो अथिरचित्तो आहारे ताव सव्वं देसं वा पत्थेइ? बीयदिवसे पारणगस्स वा अप्पणोट्ठाए आढत्तिं करेइ कारवेइ वा इमं इमं वत्ति करेह[1]? न वट्टइ सरीरसक्कारे—सरीरमुव्वट्टेइ, दाढियाउ केसे वा रोमाइं वा सिंगाराभिप्पाएण संठवेइ, दाहे वा सरीरं सिंचइ, एवं सव्वाणि सरीरविभूसाकारणाणि परिहरइ। बंभचेरे इहलोइए वा परलोइए भोगे पत्थेइ संवाहेइ[2] वा अहवा सद्द-फारस-रस-रूव-गंधे वा अभिलसइ कइया बंभचेर-

---

चौथा अतिचार है। यहाँ टीकाकार हरिभद्र सूरिने 'शय्या-संस्तारक' में प्रथमतः द्वन्द्व समासके आधारसे शय्या और संस्तार इन दोको पृथक्-पृथक् ग्रहण किया है। पश्चात् विकल्प रूपमें उन्होंने कर्मधारय समासके आधारसे शय्याको ही संस्तारकके रूपमें ग्रहण कर लिया है। यहाँ 'एत्थ सामायारी' ऐसा निर्देश करते हुए कहा गया है कि जिसने पौषध व्रतको स्वीकार किया है उसे सावधानीसे देखे बिना शय्या अथवा आसनपर आरूढ़ नहीं होना चाहिए, इसी प्रकार बिना देखे या व्यग्रतासे देखकर पौषधशालाका सेवन नहीं करना चाहिए, दर्भवस्त्रको या शुद्ध वस्त्रको भूमिपर नहीं बिछाना चाहिए, कायिक भूमिसे आकर फिरसे देख लेना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो स्वीकृत व्रत अतिचरित (मलिन) होनेवाला है। इसी प्रकार पीठ फलकादि (चौकी आदि) के विषयमें विकल्प करना चाहिए ॥३२३॥

आगे उसके पाँचवें अतिचारका निर्देश करते हुए उसे छोड़नेकी प्रेरणा की जाती है—

इसी प्रकारसे विधिपूर्वक व्रतमें उद्युक्त हुए श्रावकको समस्त आहारादि विषयक पौषधके अननुपालनको सम्यक् प्रकारसे छोड़ देना चाहिए—प्रयत्नपूर्वक आगमोक्त विधिके अनुसार उसका परिपालन करना चाहिए।

विवेचन—यहाँ टीकामें 'एत्थ भावणा' ऐसा संकेत करते हुए कहा गया है कि जिस श्रावकने पौषध व्रतको स्वीकार किया है वह अस्थिर चित्त होकर आहारके विषयमें सबकी अथवा एक देशकी प्रार्थना करता है, दूसरे दिन अथवा पारणाके समय न स्वयं आदर करता है और न कराता है, यह करो, यह करो ऐसा बोलता भी नहीं है। वह शरीरके सत्कारमें—उसके सुसज्जित करनेमें—प्रवृत्त नहीं होता, वह न शरीरका उपटन करता है और न शृंगारके अभिप्रायसे दाढ़ी, बाल और रोमोंको व्यवस्थित करता है, शरीरमें दाह होनेपर—उष्णताकी वेदना होनेपर—शरीरका सिंचन नहीं करता है; इस प्रकारसे वह शरीरके विभूषित करनेके सभी कारणोंको छोड़ता है। वह ब्रह्मचर्यके पालनमें उद्यत होकर इस लोक सम्बन्धी व परलोक सम्बन्धी भोगोंकी

---

1. अ कारावइ वा यम इमं वत्ति। 2. अ संपाहेइ।

पोसहो पूरिहिइ चइयामो बंभचेरेणंति।[1] अव्वावारे सावज्जाणि वावारेइ कयमकयं वा चिंतेइ एवं पंचातियारसुद्धो अणुपालेयव्वोत्ति गाथाद्वयभावार्थः ॥३२४॥

उक्तं सातिचारं तृतीयं शिक्षापदव्रतमधुना चतुर्थमुच्यते—

नायागयाण अन्नाइयाण तह चेव कप्पणिज्जाणं[2] ।
देसद्धसद्धसक्कारकमजुयं परमभत्तीए ॥३२५॥

न्यायागतानामिति—न्यायो[3] द्विज-क्षत्रिय-विट्-शूद्राणां स्ववृत्त्यनुष्ठानम्। स्ववृत्तिश्च प्रसिद्धैव प्रायो लोकहेर्या, तेनेदृशन्यायेनागतानां प्राप्तानाम्। अनेनान्यायागतानां प्रतिषेधमाह। अन्नादीनां द्रव्याणाम्, आदिग्रहणात्पान-वस्त्र-पात्रौषध-भेषजादिपरिग्रहः[4]। अनेनापि हिरण्यादिव्यवच्छेदमाह। कल्पनीयानामिति उद्गमादिदोषपरिवर्जितानाम्। अनेनाकल्पनीयानां निषेधमाह। देश-काल-श्रद्धा-सत्कार-क्रमयुक्तम्—नानाव्रीहि-कोद्रव-कङ्गु-गोधूमादिनिष्पत्तिभाग्देशः, सुभिक्ष-दुभिक्षादिः कालः, विशुद्धचित्तपरिणामः श्रद्धा, अभ्युत्थानासनदान-वंदनाद्यनुव्रजनादिः सत्कारः, पाकस्य पेयादिपरिपाट्या प्रदानं क्रमः, एभिर्देशादिभिर्युक्तं समन्वितम्। अनेनापि विपक्षव्यवच्छेदमाह। परमया प्रधानया भक्त्या इत्यनेन फलप्राप्तौ भक्तिकृतमतिशयमाहेति ॥३२५॥

आयाणुग्गहबुद्धीइ संजयाणं जमित्थ[5] दाणं तु ।
एयं जिणेहि भणियं गिहीण सिक्खावयं चरिमं ॥३२६॥

प्रार्थना [नहीं] करता और [न] उनको धारण करता है; अथवा वह शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धकी भी अभिलाषा [नहीं] करता है, इस प्रकारसे वह ब्रह्मचर्य पोषधका पालन करता है व उससे च्युत नहीं होता है। अव्यापार पोषधमें वह सावद्य कर्मोंमें व्यापृत नहीं होता तथा कृत-अकृतका विचार करता है। इस प्रकार पाँच अतिचारोंसे शुद्ध होकर व्रती श्रावक प्रकृत पोषध-व्रतका परिपालन करता है। इससे इन दो (३२३-३२४) गाथाओंका भावार्थ प्रकट किया गया है ॥३२४॥

इस प्रकार अतिचार सहित तीसरे शिक्षापदका निरूपण करके अब चौथे शिक्षापदके स्वरूपको दिखलाते हुए क्या देना चाहिए व उसे किस प्रकारसे देना चाहिए, इसका निर्देश किया जाता है—

न्यायसे उपार्जित तथा कल्पनीय (संयतके लिए देने योग्य) अन्न आदि—अन्न, पान, वस्त्र, पात्र व औषध आदि—को जो देश, काल, श्रद्धा, सत्कार और क्रमसे युक्त अतिशय भक्तिके साथ दिया जाता है; यह चौथा शिक्षापद व्रत है ॥३२५॥

आगे इसे स्पष्ट करते हुए उन वस्तुओंको किनके लिए व किस बुद्धिसे दिया जाता है, इसकी सूचना की जाती है—

पूर्वगाथामें निर्दिष्ट उन कल्पनीय अन्नपानादिकोंका जो अपने अनुग्रहकी बुद्धिसे संयतोंके लिए दान किया जाता है, इसे जिन भगवान्ने गृहस्थोंका अन्तिम (चौथा) अतिथिसंविभाग नामका शिक्षापद कहा है।

---

१. अ पूरिहिए चईय बंभचरेणंति। २. अ कप्पणिज्जाणे। ३. अ 'द्विज' इत्यतोऽग्रे 'प्राप्तानामनेनान्यायागतानां प्र'पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति। ४. अ परिग्रहं (अतोऽग्रेऽस्या गाथायाष्टीकायाः सर्वोऽपि पाठोऽस्तव्यस्तोऽस्ति—अध उपरि यत्र कुत्रापि किंचिल्लिखितमस्ति। ५. अ तमेत्थ।

आत्मानुग्रहबुद्धया, न पुनर्यत्यनुग्रहबुद्धयेति। तथाहि—आत्मपरानुग्रहपरा एव यतयः संयता मूलोत्तरगुणसंपन्नाः साधवस्तेभ्यो दानमिति। एतज्जिनैस्तीर्थंकरैर्भणितम्। गृहिणः श्रावकस्य। शिक्षापदमिति शिक्षापदव्रतम्। चरमं अतिथिसंविभागाभिधानम्। इह भोजनार्थं भोजनकालोपस्थाय्यतिथिरुच्यते। आत्मार्थनिष्पादिताहारस्य[1] गृहिणो व्रती साधुरेवातिथिः। यत उक्तम्—

तिथिः पर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।
अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः॥

तस्य संविभागो अतिथिसंविभागः। संविभागग्रहणात्पश्चात्कर्मादिपरिहारमाहेति।

एत्थ सामायारी—सावगेण पोसहं पारंतेण नियमा साहूणमदाउं न पारेयव्वं, दाउं पारेयव्वं। अन्नया पुण अनियमो दाउं वा पारेइ, पारिए वा देइ त्ति। तम्हा पुव्वं साहूणं दाउं

विवेचन—अतिथिसंविभाग नामक इस चौथे शिक्षापद व्रतमें यहाँ दाता, देय, द्रव्य और दानके पात्र आदिका विचार करते हुए यह कहा गया है कि श्रावक मूल और उत्तर गुणोंसे सम्पन्न मुनि जनके लिए जिन आहार, पान, वस्त्र, पात्र और औषध आदि वस्तुओंको देता है वे न्यायसे उपार्जित की गयी होनी चाहिए—अन्यायोपार्जित नहीं होनी चाहिए। न्यायसे अभिप्राय यहाँ उस आजीविकासे है जो लोकमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिए नियत है। तदनुसार नीतिपूर्वक आजीविकाको करते हुए जो आहारादिके योग्य वस्तुएँ प्राप्त की गयी हैं तथा साधुके लिए देनेके योग्य हैं उन्हें ही देना चाहिए। गाथा (३२६) में जो 'कल्पनीय' पदको ग्रहण किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि शरीरको स्थिर रखने व धर्मके परिपालनके लिए अन्न, पान, वस्त्र, पात्र और औषध आदि वस्तुएँ ही साधुके लिए आवश्यक हैं; अतः साधुके लिए ऐसी ही आवश्यक वस्तुओंको देना चाहिए। इससे सुवर्ण-चाँदी आदि मुनिधर्मकी विघातक अनावश्यक वस्तुओंके देनेका निषेध प्रकट कर दिया गया है। कारण यह कि मुनिधर्मको स्वीकार करते हुए साधु उन्हें पूर्वमें ही छोड़ चुका है। इसके अतिरिक्त उक्त कल्पनीय पदके ग्रहणसे यह भी समझ लेना चाहिए कि उपर्युक्त अन्नादि वस्तुएँ भी पिण्डनिर्युक्ति निर्दिष्ट उद्गम व उत्पादन आदि दोषोंसे रहित होनी चाहिए। इसके साथ दाता श्रावकको देश, काल, श्रद्धा, सत्कार और क्रमसे युक्त होना चाहिए। भिन्न-भिन्न देशमें प्रायः विविध प्रकारका अनाज—जैसे धान, कोदों, कांगनी व गेहूँ आदि—तथा अनेक प्रकारकी शाक व फल आदि उत्पन्न हुआ करते हैं। अतएव जो वस्तु जिस देशमें प्रमुखतासे उत्पन्न हुआ करती है तदनुसार ही भोज्य वस्तुकी सदोषता व निर्दोषताका विचार करते हुए दाताको तदनुरूप ही वस्तु साधुके लिए देनी चाहिए। कालकी अपेक्षा सुभिक्ष व दुर्भिक्ष आदिका विचार करना भी आवश्यक है। चित्तकी निर्मलताका नाम श्रद्धा है। सत्कारसे अभिप्राय विनयका है—जब साधु आहारग्रहणके लिए आता है तब दाताको खड़े होकर वन्दनापूर्वक आसन आदि प्रदान करना चाहिए तथा साधुके वापस जानेपर यथासम्भव कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे जाना चाहिए; यह सब सत्कारके अन्तर्गत है। पेय आदिको परिपाटीके अनुसार अन्न-पान आदिके प्रदान करनेका नाम क्रम है। इस सबके परिज्ञानके साथ तदनुरूप ही श्रावककी प्रवृत्ति होनी चाहिए। दान भी अतिशय भक्तिके साथ—साधुके गुणोंमें अनुराग रखते हुए—देना चाहिए। इसके अतिरिक्त साधुको आहार आदि देते हुए श्रावकको यह अनुभव करना चाहिए कि यह मेरे लिए आत्मकल्याणकारी सुयोग प्राप्त हुआ है। इस प्रकार

---

१. अ °स्थाप्यतिथिरुच्यते तथा स्वार्थनिष्पादिताहारस्य।

पच्छा पारेयव्वं । कहं ? जाहे देसकालो[1] ताहे अप्पणो सरीरस्स विभूसं काउं साहुपडिस्सयं गंतुं णिमंतेइ भिक्खं गेण्हह त्ति । साहूणं का पडिवत्ती ? ताहे[2] अन्नो पडलयं अन्नो मुहणंतगं अन्नो[3] भायणं[4] पडिलेहेइ मा अंतराइयदोसा ठवणा दोसो[5] य भविस्सन्ति । सो जइ पढमाए पोरिसीए णिमंतेइ अत्थि णमोक्कारसहियाइत्ता तो गच्छइ, अह नत्थि न गच्छइ, तं ठवियव्वं होइ जइ घणं लगेज्जा ताहे गेण्हइ संवित्ताविज्जइ जो व उग्घाडाए पोरसीए पारेइ पारणाइत्तो अन्नो वा तस्स दिज्जइ[6] सामन्नेणं नाए कहिए पच्छा तेण सावगेण समं गम्मइ संघाडगो वच्चइ एगो न वट्टइ पट्ठवेउं । साहू[7] पुरओ सावगो मग्गओ घरं णेऊण आसणेण उवणिमंतिज्जइ । जइ णिविट्ठो लट्ठयं[8] अह ण णिविसति[9] तहा वि विणओ[10] पयत्तो । ताहे भत्तपाणं देइ सयं चेव, अहवा भाणं धरेइ भज्जा से देइ । अहव ठिओ अच्छइ जहा दिन्नं । साहुवि सावसेसं[11] दव्वं गेण्हइ । पच्छाकम्म-परिहरणट्ठा दाउं वंदिऊण विसज्जेइ । विसज्जिता अणुगच्छइ पच्छा सयं भुंजइ । जं च

आत्मोपकारकी दृष्टिसे ही दान देना चाहिए, न कि साधुके उपकार करनेकी बुद्धिसे । कारण यह कि साधु मूल व उत्तर गुणोसे संयुक्त होते हुए निरन्तर अपने व अन्यके उपकारमें निरत होते हैं, इसीलिए उन्हें संयत कहा जाता है । ऐसे संयतोंके लिए आहारादि प्रदान करनेसे श्रावकका पुण्योपार्जनरूप आत्मकल्याण होता है । यहाँ प्रकृत 'अतिथिसंविभागव्रत' के अन्तर्गत 'अतिथि' शब्दसे यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए कि जिन महापुरुषोंने तिथि व पर्व आदि सब उत्सवों-का परित्याग कर दिया है उन्हें अतिथि जानना चाहिए। शेष जनोंको अभ्यागत कहा जाता है, न कि अतिथि । ऐसे संयत आहारके ग्रहणार्थ जो गृहस्थके घरपर उपस्थित होते हैं वे अपने निमित्तसे निर्मित (उद्दिष्ट) भोजनको कभी नही ग्रहण किया करते हैं, किन्तु जिसे गृहस्थ अपने उद्देश्यसे तैयार करता है उस अनुद्दिष्ट भोजनको ही परिमित मात्रामें ग्रहण किया करत है । ऐसे अतिथिके लिए श्रावक अपने निमित्तसे निर्मित भोजनमे-से जो विभाग करता है यह उस अतिथि-संविभाग शिक्षापदका लक्षण है । 'संविभाग' पदसे यह भी प्रकट है कि श्रावक यथाविधि साधुके लिए जो अपने भोजनमें-से विभाग करता है उससे उसके पुरातन कर्मका भी विभाग (निर्जरा) होता है ।

'एत्थ सामायारी' ऐसी सूचना करते हुए टीकामें प्रकृत पोषधव्रतकी विधि आदिके विषयमें विशेष प्रकाश डाला गया है । यथा—पोषधको समाप्त करते हुए श्रावकको नियमसे साधुओंको दिये बिना पारण नहीं करना चाहिए, किन्तु उन्हें देकर ही पारणा करना चाहिए । दूसरे समयमें इसका कुछ नियम नहीं है—वह उन्हें देकर भी पारणा कर सकता है, अथवा पारणा करनेके बाद भी दे सकता है । इसलिए पूर्वमें साधुओंको देकर तत्पश्चात् पारणा करना चाहिए । जब गोचरीका समय हो तब देश-कालके अनुसार अपने शरीरको विभूषित करके साधुओंके प्रतिश्रय (उपाश्रय) में जावे और 'भिक्षा ग्रहण कीजिए' इस प्रकार कहकर उन्हें निमन्त्रित करे। साधुओं-की क्या प्रतिपत्ति है ? उस समय अन्य पटलक, अन्य मुहणतक (मुखवस्त्रिका) और अन्य पात्रका 'आन्तरायिक अथवा स्थापनादोष न हों' इस विचारसे प्रतिलेखन करे । वह यदि प्रथम पौरुषीमें

---

१. अ जा देसकालो । २. अ ताहि । ३. अ 'पडलयं अन्नो मुहणंतगं अन्नो' इत्येतावान् पाठो नास्ति । ४. अ भोयणं । ५. अ अंतराईयदोसा ठविगदोसा । ६. अ ताहे गब्भइ संवित्ताविक्तइ जो व उग्घोडाए पोरसीए पारणाए पारणा इत्तो वा तस्स दिज्जइ । ७. अ पट्ठवेइउ साहु । ८. अ जए णविट्ठो लव्वयं । ९. अ णवसति । १०. अ वणओ । ११. अ ट्ठिओ अत्तए जाव दिन्नं साहु वि साविसेसं ।

किर[1] साहूण ण दिन्नं तं सावगेण न भोत्तव्वं। जइ पुण साहू नत्थि ताहे देसकालवेलाए विसालोओ कायव्वो। विसुद्धभावेण चिंतियव्वं साहुणो जइ होंता नाम नित्थारिओ होंतो त्ति विभासा[2] ॥३२६॥

इदमपि[3] शिक्षापदव्रतमतिचाररहितमनुपालनीयमिति एतदाह—

सच्चित्तनिक्खिवणयं[4] वज्जे सच्चित्तपिहणयं चेव।

कालाइक्कमदाणं परववएसं च मच्छरियं[5] ॥३२७॥

विवर्जयेत्—तत्र[6] सचित्तनिक्षेपणं सचित्तेषु[7] व्रीह्यादिषु निक्षेपणमन्नादेरदेयबुद्धया मातृस्थानतः। १। एवं सचित्तपिधानं सचित्तेन फलादिना पिधानं स्थगनमिति समासः, भावार्थः प्राग्वत्। २। कालातिक्रम इति। कालस्यातिक्रमः कालातिक्रमः उचितो यो भिक्षाकालः साधूनां तमतिक्रम्य उल्लंघ्य भुंक्ते। तदा च किं तेन लब्धेनापि, कालातिक्रांतत्वात्तस्य। उक्तं च —

काले दिन्नस्स पहेणयस्स अग्घो ण तीरए[8] काउं।
तस्सेवकाले परिणामियस्स[9] गिण्हंतया नत्थि। ३।

निमन्त्रित करता है तो नमस्कार सहित होनेपर जावे, अन्यथा न जावे। तब उसे ठप्प कर दे। यदि अतिशय लगाव या प्रेरणा हो तो ग्रहण करे व संविभाग करावे। यदि उद्घाटित पौरुषीमें पारणा करता है तो पारणा व्यापृत अथवा दूसरा कोई सामान्यसे ज्ञात कहनेपर उसे दे। पश्चात् उस श्रावकके साथ जाता है, संघाटक जाता है, एक नहीं पठानेके लिए प्रवृत्त होता है। साधु आगे और श्रावक पीछे चलकर घर ले जाता है और आसनपर बैठनेके लिए उपनिमन्त्रित करता है। वह यदि आसनपर विराजमान हो जाता है तो दण्डवत् नमस्कार करता है, और यदि आसनपर नहीं बैठता है तो भी विनत रहता है। उस समय वह स्वयं ही भक्त-पान देता है, अथवा पात्रको धरता है और पत्नी उसे देती है, अथवा खड़ा रहे। जैसा कुछ दिया जा रहा है, साधु भी सावशेष (परिमित मात्रामें) द्रव्यको ग्रहण करता है। इस प्रकार पश्चात्कर्मके परिहारार्थ देकर व वन्दना करके साधुको विदा करता है। उसे विदा करके पीछे जाता है। तत्पश्चात् श्रावक स्वयं भोजन करता है। जो भोज्य वस्तु साधुको नहीं दी गयी है उसे श्रावकको नहीं खाना चाहिए। यदि साधुका लाभ नहीं होता तो देश व काल-वेलाके अनुसार दिशावलोकन करे—साधुके आनेकी प्रतीक्षा करे और विशुद्ध भावसे यह विचार करे कि यदि साधु होते तो मेरा निस्तार (उद्धार) होता। यह साधुके लिए भोजन देनेकी विधि है ॥३२५-३२६॥

इस व्रतका परिपालन भी निरतिचार ही करना चाहिए, इस उद्देश्यसे आगे उसके अतिचारोंका निर्देश किया जाता है—

सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, कालातिक्रमदान, परव्यपदेश और मात्सर्य ये इस व्रतके पाँच अतिचार हैं। व्रती श्रावकको उनका परित्याग करना चाहिए।

विवेचन—(१) यदि न देनेके विचारसे अन्न आदिको जहाँ रखा हुआ है वहाँसे हटाकर सचित्त व्रीही (धान्य) आदिमें स्थापित करता है तो यह सचित्तनिक्षेप नामका उस व्रतका प्रथम अतिचार होता है। यह स्मरणीय है कि सचित्तपर रखी हुई किसी भोज्य वस्तुको नहीं ग्रहण किया करते हैं। (२) देय भोज्य वस्तुको सचित्त फल या पत्ते आदिसे ढककर रखनेपर

---

१. भुंजइ किं च किर। २. अ जइ हुंता णाम णित्थारओ होति त्ति भास। ३. अ इहमपि। ४. अ सच्चित्ते णिक्खवणं। ५. अ कालाइक्कमपरववदेसमच्छरियं चेव सचित्तपक्षेपणं। ६. अ 'तत्र' नास्ति। ७. अ सचित्तनिक्षेपण। ८. अ °स्स अप्पाण तीए। ९. अ तस्सेवाकालपरि°।

परव्यपदेश इति—आत्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परस्तद्व्यपदेश इति समासः, साधोः पौषधोपवासपारणकाले भिक्षायै समुपस्थितस्य प्रकटमन्नादि पश्यतः श्रावकोऽभिधत्ते परकीयमिदमिति नात्मीयमतो न ददामि किंचिद्याचितो वाभिधत्ते विद्यमान एवामुकस्येदमस्ति तत्र गत्वा मार्गय तद्यूयमिति । ४ । मात्सर्यमिति—याचितः कुप्यते, सदपि न ददाति, परोन्नतिवैमनस्यं च मात्सर्यमिति । तेन तावद्द्रमकेण याचितेन दत्तम्, किमहं ततोऽपि न्यूनः इति मात्सर्याद्ददाति कषायकलुषितेन वा चित्तेन ददतो मात्सर्यमिति (५) ॥३२७॥

उक्तं च सातिचारं चतुर्थं शिक्षापदव्रतम्, अधुनैषामणुव्रतादीनां यानि यावत्कथिकानि यानि चेत्वराणि तदेतदाह—

इत्थ उ समणोवासगधम्मे अणुव्वय-गुणव्वयाइं च ।
आवकहियाइ सिक्खावयाइं पुण इत्तराइं ति ॥३२८॥

अत्र पुनः श्रमणोपासकधर्मे । तुशब्दः पुनःशब्दार्थः, स चावधारणे अत्रैव न शाक्याद्युपासकधर्मे, तत्र सम्यक्त्वाभावेन अणुव्रताद्यभावात् । उपास्ते इत्युपासकः, सेवकः इत्यर्थः । श्रमणानामुपासकस्तस्य धर्म इति समासः । अणुव्रतानि गुणव्रतानि चेति पञ्चाणुव्रतानि प्रतिपादितस्वरूपाणि

सचित्तपिधान नामका यह दूसरा अतिचार होता है। इसे भी यदि न देनेके विचारसे वैसा किया जाता है तभी अतिचार समझना चाहिए। (३) साधुओंकी भिक्षाके योग्य जो समय है यदि उसे बिताकर भोजन करता है तो यह प्रकृत व्रतका कालातिक्रम नामका तीसरा अतिचार होता है। कारण यह कि उस समय साधुका लाभ होनेपर भी उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है, क्योंकि गोचरीके कालके निकल जानेपर साधु ग्रहण नहीं किया करते हैं। समयपर देनेपर ही उसका मूल्य होता है—वह तभी श्रेयस्कर होता है। असमयमें निर्मित भोजनको ग्रहण करनेवाले साधु उपलब्ध ही नहीं होते। (४) अपनेसे भिन्न जो अन्य है उसका व्यपदेश करनेपर—उसका नाम बतलानेपर—परव्यपदेश नामक चौथा अतिचार होता है। इसका अभिप्राय यह है कि साधु जब पौषधोपवासकी पारणाके समयमें भोजनके लिए उपस्थित होता है और प्रत्यक्षमें अन्न आदिको रखा हुआ देखता है तब यदि श्रावक यह कहता है कि यह दूसरेका है मेरा स्वयंका नहीं है, इसलिए नहीं देता हूँ। अथवा कुछ याचना करनेपर देय वस्तुके विद्यमान होते हुए भी यदि 'यह अमुक व्यक्तिकी है, वहाँ जाकर आप माँग लें' ऐसा कहता है तो उसका प्रकृत व्रत परव्यपदेश नामक इस चौथे अतिचारसे मलिन होता है। (५) माँगनेपर यदि श्रावक क्रोधित होता है, वस्तुके होते हुए भी नहीं देता है, अथवा 'अमुक दरिद्र व्यक्तिने तो याचना करनेपर दिया है, क्या मैं उससे भी हीन हूँ' इस प्रकार दूसरेकी उन्नतिको देखकर विमनस्क होते हुए मत्सरतासे या कषायसे कलुषितचित्त होकर देता है तो उसका व्रत मात्सर्य नामक इस पाँचवें अतिचारसे दूषित होता है। इसलिए पौषधोपवासव्रती श्रावकको इन पाँचों अतिचारोंका परित्याग करना चाहिए॥३२७।

अब उक्त अणुव्रतादिकोंमें जो यावत्कथिक हैं और जो अल्पकालिक हैं उनका निर्देश किया जाता है—

पूर्वोक्त श्रमणोपासक (श्रावक) धर्ममें अणुव्रत और गुणव्रत तो यावत्कथिक—जीवन पर्यन्त पालन करने योग्य—है, पर शिक्षाव्रत इत्वर (अल्पकालिक) हैं।

विवेचन—श्रमण नाम साधुका है, उन श्रमणोंकी जो उपासना या सेवा किया करता है वह श्रमणोपासक कहलाता है। दूसरे शब्दसे उसे श्रावक कहा जाता है। (इसका लक्षण पीछे

त्रीणि गुणव्रतानि उक्तलक्षणान्येव यावत्कथिकानीति सकृद्गृहीतानि यावज्जीवमपि भावनीयानि, न तु नियोगतो यावज्जीवमेवेति गुरवो व्याचक्षते। प्रतिचातुर्मासकमपि तद्ग्रहणम्, वृद्धपरंपरायाततया सामाचार्युपलब्धेः। शिक्षापदव्रतानि पुनरित्वराणि—शिक्षा अभ्यासस्तस्याः पदानि स्थानानि तान्येव व्रतानि शिक्षापदव्रतानि, इत्वराणीति तत्र प्रतिदिवसानुष्ठेये सामायिकदेशावकाशिके पुनः पुनरुच्चार्येते इति भावना। पौषधोपवासातिथिसंविभागौ तु प्रतिनियतदिवसानुष्ठेयौ, न प्रतिदिवसाचरणीयाविति ॥३२८॥

श्रावकधर्मे च प्रत्याख्यानभेदानां सप्तचत्वारिंशदधिकं भङ्गशतं भवति, चित्रत्वाद्देशविरतेः। तदाह—

सीयालं भंगसयं गिहिपच्चक्खाणभेयपरिमाणं[1]।
तं च विहिणा इमेणं भावेयव्वं पयत्तेणं ॥३२९॥

सप्तचत्वारिंशदधिकं भंगशतं[2] गृहिप्रत्याख्यानभेदानां परिमाणमियत्ता। तच्च विधिना अनेन वक्ष्यमाणेन भावयितव्यं प्रयत्नेनावहितचेतोभिरिति ॥३२९॥

विधिमाह—

तिन्नि तिया तिन्नि दुया तिन्निक्किक्का य हुंति जोगेसु।
ति दु एक्कं ति दु एक्कं ति दु एक्कं चेव करणाइं[3] ॥३३०॥

गाथा २ में कहा जा चुका है)। उसके धर्ममें जिन पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षापदोंका निरूपण पीछे किया जा चुका है (गा. ६) उनमें पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत तो ऐसे हैं जिन्हें एक बार ग्रहण करके जीवनपर्यन्त पाला जाता है। यहाँ टीकामें गुरुओंकी व्याख्याके अनुसार इतना विशेष कहा गया है कि उनका परिपालन जीवनपर्यन्त भी किया जाता है। पर यह नियम नहीं है कि जीवनपर्यन्त ही उनका पालन किया जाना चाहिए, क्योंकि वृद्धपरम्परागत सामाचारीके अनुसार उनका ग्रहण प्रत्येक चातुर्मासमें भी सम्भव है। परन्तु शिक्षापदोंका परिपालन जीवनपर्यन्त नहीं होता, उनका पालन नियत समयमें सम्भव है। यथा—सामायिक और देशावकाशिक इन दो शिक्षापदोंका अनुष्ठान प्रतिदिन किया जाता है व पुनः-पुनः उनका उच्चारण किया जाता है—प्रतिदिन उन्हें धारण किया जाता है। पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग ये दो शिक्षापद प्रतिनियत दिनोंमें—जैसे अष्टमी व चतुर्दशी आदिमें—अनुष्ठेय हैं, उनका आचरण प्रतिदिन नहीं किया जाता। अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षापदोंका निरूपण पूर्वमें विस्तारसे किया जा चुका है ॥३२८॥

अब श्रावकधर्ममें प्रत्याख्यानके भेदोंकी संख्याका निर्देश किया जाता है—

गृहस्थके प्रत्याख्यान सम्बन्धी भेदोंका प्रमाण एक सौ सैंतालीस भंगरूप है। उसका विचार आगे कही जानेवाली इस विधिसे प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए ॥३२९॥

वह विधि इस प्रकार है—

काय, वचन और मनके व्यापारस्वरूप योगोंमें तीन त्रिक (३), तीन द्विक (२) और तीन एक-एक तथा मन, वचन और कायरूप करण तीन, दो, एक, तीन, दो, एक, तीन, दो और एक होते हैं।

---

१. अ परिमाणा। २. म °दधिकं शतं। ३. अ ति नि एक्कं त दु एक्कं ति चेव कारणाए।

त्रयस्त्रिकास्त्रयो द्विकास्त्रय एककाश्च भवन्ति योगेषु कायवाग्मनोव्यापारलक्षणेषु । त्रीणि द्वयमेकं ३ चैवं[1] करणानि मनोवाक्कायलक्षणानीति पदघटना । भावार्थस्तु स्थापनया निर्दिश्यते । सा चेयं—

[2]योगाः	३	३	३	२	२	२	१	१	१
करणानि	३	२	१	३	२	१	३	२	१
	१	३	३	३	९	९	३	९	९

कात्र भावना ? न करेइ, न कारवेइ, करंतंपि अन्नं न समणुजाणइ मणेणं वायाए काएण । एको भेओ $\frac{1}{1}$ ।१।[3] इयाणिं बिइओ—ण करेइ, न कारवेइ, करंतंपि अन्नं न समणुजाणइ मणेणं वायाए एक्को $\frac{1}{2}$, मणेणं[4] काएण $\frac{2}{3}$, तहा[5] वायाए काएण $\frac{3}{4}$; बीओ[6] मूलभेओ गओ ।२। इयाणिं तइयओ—ण करेइ ण करावेइ करंतं पि अन्नं न समणुजाणइ मणेणं $\frac{1}{5}$, वायाए $\frac{2}{6}$, काएणं $\frac{3}{7}$; ।३। इदानीं[7] चतुर्थः—न करेइ न कारवेइ मणेणं वायाए काएणं $\frac{1}{8}$, ण[8] करेइ करंतं पि नाणुजाणइ $\frac{2}{9}$, णं[9] कारवेइ करंतं पि नाणुजाणइ तइओ $\frac{3}{10}$; चउत्थो मूलभेओ ।४। इदानी[10] पंचमो—न करेइ न कारवेइ मणेणं वायाए एक्को $\frac{1}{11}$, न[11] करेइ करंतं नाणुजाणइ $\frac{2}{12}$, ण[12] कारवेइ करंतं नाणुजाणइ $\frac{3}{13}$ एए[13] । तिन्नि वि भंगा मणेणं वायाए लद्धा । अन्ने वि तिन्नि मणेणं काएण य एवमेव

विवेचन—अभिप्राय यह है कि प्राणिघातादिका जो प्रत्याख्यान किया जाता है वह तीनों योगोंसे, दो योगोंसे और केवल एक योगसे भी किया जाता है, किया व कराया जाता है तथा करने व करानेके साथ अनुमोदन भी किया जाता है। इस प्रकारसे उस प्रत्याख्यानके भंग (भेद) उनचास हो जाते हैं जो निम्न संदृष्टि या स्थापनामें जाने जा सकते हैं—

योग	३	३	३	२	२	२	१	१	१	
करण	३	२	१	३	२	१	३	२	१	
भंग	१	३	३	३	९	९	३	९	९	४९

उनका उच्चारण इस प्रकारसे किया जा सकता है—१ मन, वचन व कायसे न करता है, न कराता है और न करते हुए अन्यका अनुमोदन करता है। २ मन व वचनसे न करता है, न कराता है और करते हुए अन्यका अनुमोदन करता है। ३ मन-कायसे न करता है, न कराता है, न करते हुएका अनुमोदन करता है। ४ वचन-कायसे न करता है, न कराता है, न करते हुएका अनुमोदन करता है। ५ मन से न करता है, न कराता है, न करते हुएका अनुमोदन करता है। ६ वचनसे न करता है, न कराता है, न करते हुएका अनुमोदन करता है। ७ कायसे न करता है, न कराता है, न करते हुए का अनुमोदन करता है। ८ मन-वचन-कायसे न करता है, न कराता है। ९ मन-वचन-कायसे न करता है, न अनुमोदन करता है। १० मन-वचन-कायसे न कराता है, न अनुमोदन करता है। ११ मन-वचनसे न करता है, न कराता है। १२ मन-वचनसे न करता है,

---

१. अ °मेकं चैव। २. अ 'योगाः कारणानि' नास्ति। ३. अ भेओ इयाणिं। ४. अ एक्को मणेणं। ५. अ मणकाएण २ तहा। ६. अ वायाए काएण २ वीओ। ७. अ मणेणं १ वायाए २ काएणं ३ इदानीं। ८. अ काएणं ण। ९. अ नाणुजाणइ २ ण। १०. अ तईय चतुर्थो मूलभेउ इदानीं। ११. अ एक्को न। १२. णाणुजाणइ न। १३. अ णाणुजाणइ ३ एए।

लब्भंति १४ १५ १६। तहा अवरे वि वायाए काएण य लब्भंति १७ १८ १९। एवमेव[1] एते सव्वे नव। पंचमोऽप्युक्तो मूलभेदः।५। इयाणि छट्ठो—ण करेइ ण कारवेइ मणेणं[3] एक्को २०। तहा ण करेइ करंतं पि नाणुजाणइ मणेणं २१, ण[4] कारवेइ करंतं नाणुजाणइ मनसैव तृतीयः २२। एवं वायाए २३ २४ २५; काएण य २६ २७ २८। सव्वे नव। उक्तो षष्ठो मूलभेदः।६। इदानीं[5] सप्तमोऽभिधीयते, ण करेइ मणेणं वायाए काएण य एक्को २९। एवं णे कारवेइ मणाईहिं ३०, करंतं णाणुजाणइ ३१;।७। इदानीमष्टमो[7] भण्यते—न करेइ मणेण वायाए एक्को ३२, तहा[8] मणेण काएण यं[9] ३३, तहा वायाए काएण य ३४। एवं न करावेइ ३५ ३६ ३७; करंतं[10] नाणुजाणइ ३८ ३९ ४०। सव्वे[11] वि णव।८। [12]इदानीं नवमो भण्यते न करेइ मणेणं ४१ न[13] कारवेइ ४२, करंतं नाणुजाणइ ४३। [14]एवं वायाए वि ४४ ४५ ४६; काएणं[15] वि ४७ ४८ ४९। सव्वे वि नव नवमो मूलभेदः।९। [16]आगतगुणनेदानीं क्रियते—

न अनुमोदन करता है। १३ मन-वचनसे न कराता है, न अनुमोदन करता है। १४ मन-कायसे न करता है, न कराता है। १५ मन-कायसे न करता है, न अनुमोदन करता है। १६ मन-कायसे न कराता है न अनुमोदन करता है। १७ वचन-कायसे न करता है, न कराता है। १८ वचन-कायसे न करता है, न अनुमोदन करता है। १९ वचन-कायसे न कराता है, न अनुमोदन करता है। २० मनसे न करता है, न कराता है। २१ मनसे न करता है, न अनुमोदन करता है। २२ मनसे न कराता है, न अनुमोदन करता है। २३ वचनसे न करता है, न कराता है। २४ वचनसे न करता है, न अनुमोदन करता है। २५ वचन से न कराता है, न अनुमोदन करता है। २६ कायसे न करता है, न कराता है। २७ कायसे न करता है, न अनुमोदन करता है। २८ कायसे न कराता है, न अनुमोदन करता है। २९ मन-वचन-कायसे स्वयं करता नहीं। ३० मन-वचन-कायसे कराता नहीं। ३१ मन-वचन-कायसे अनुमोदन नहीं करता। ३२ मन-वचनसे करता नहीं। ३३ मन-वचनसे कराता नहीं। ३४ मन-वचनसे अनुमोदन नहीं करता। ३५ मन-कायसे करता नहीं। ३६ मन-कायसे कराता नहीं। ३७ मन-कायसे अनुमोदन नहीं करता। ३८ वचन-कायसे करता नहीं। ३९ वचन-कायसे कराता नहीं। ४० वचन-कायसे अनुमोदन नहीं करता। ४१ मनसे करता नहीं। ४२ मनसे कराता नहीं। ४३ मनसे अनुमोदन नहीं करता। ४४ वचनसे करता नहीं। ४५ वचनसे कराता नहीं। ४६ वचनसे अनुमोदन नहीं करता। ४७ कायसे करता नहीं। ४८ कायसे कराता नहीं। ४९ कायसे अनुमोदन नहीं करता। इस प्रकार मन, वचन और कायके व्यापाररूप तीन योगों तथा करणरूप मन, वचन और काय इनके परस्परके संयोगसे ४९ भंग हो जाते हैं। उपर्युक्त ४९ प्रकारके प्रत्याख्यानमें-से प्रत्येकका भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन कालोंसे सम्बन्ध होनेके कारण ४९ को ३ से गुणित करनेपर समस्त भंग एक सौ सैंतालीस (४९ × ३ = १४७) हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि भूतकालमें जो प्राणातिपातादिरूप अपराध

---

१. अ लब्भति ३ तहा अवरे पि वायाए ।७। काएण य लब्भति ३ एवमेव। २. अ मूलभेदः इयाणि। ३. अ मणेणं एक्को। ४. अ मणेणं २ ण। ५. अ मनसैव त्रतीय ३ एवं वायाए ३ काएण ३ य सव्वे इव ९ उक्तः षष्टो मूलभेदः इदानीं। ६. अ एक्को एवं। ७. अ कारावइ मणाईहि २ करेंतं णाणुजाणइ ३ इदानीं। ८. अ एक्को तहा। ९. अ अतोऽग्रेऽग्रिम 'य' पर्यन्तः पाठो नास्ति। १०. अ य एवं न करावेइ करेतं। ११. अ °इ सव्वे। १२. अ णव ९ इदानीं। १३. अ मणेण न। १४. अ कारवेइ २करेंतं नाणुजाणइ ३ एवं। १५. अ वि ३ काएण। १६. अ वि ३ सव्वे पि नव ९ नवमो मूलभेद आगत°।

लद्धफलमाणमेयं भंगाउ भवंति अउणपन्नासं ।
तीयाणागयसंपयगुणियं कालेण होइ इमं ॥
सीयालं भंगसयं कह कालतिएण होइ गुणणाउ ।
तीयस्स पडिक्कमणं पच्चुप्पन्नस्स संवरणं ॥
पच्चक्खाणं व तहा होइ य एस्सस्स एस गुणणाओ ।
कालतिएण य भणियं जिणगणहरवायगेहिं च ॥ इति ॥३३०॥

उक्तभङ्गकानामाद्यभङ्गस्वरूपाभिधित्सयाह—

न करइ न करावेइ य करंतमन्नं पि नाणुजाणेइ ।
मणवयकायेणिक्को एवं सेसा वि जाणिज्जा ॥३३१॥

न करोति स्वयं न कारयत्यन्यैः कुर्वन्तमन्यमपि स्वनिमित्तं स्वयमेव नानुजानाति। कथम् ? मनोवाक्कायैर्मनसा वाचा कायेन चेत्येवमेको विकल्पः । एवं शेषानपि द्वयादीन् जानीयात् यथोक्तान् प्रागिति ॥३३१॥

अत्राह—

न करेईच्चाइतियं गिहिणो कह होइ देसविरयस्स ।
भन्नइ विसयस्स बहिं पडिसेहो अणुमईए वि ॥३३२॥

न करोतीत्यादित्रिकं अनन्तरोक्तम् । गृहिणः श्रावकस्य। कथं भवति देशविरतस्य विरताविरतस्य, सावद्ययोगेष्वनुमतेरव्यवच्छिन्नत्वात् । नैव भवतीत्यभिप्रायः। एवं चोदकाभि-

---

किया गया है, कराया गया है या अनुमोदित हुआ है उसका प्रतिक्रमण किया जाता है; वर्तमानमें उसे रोका जाता है और भविष्यमें सम्भव उसका प्रत्याख्यान किया जाता है । इसी कारण—तीन कालसे सम्बद्ध होनेके कारण—उसे उक्त प्रकार तीन कालोंसे गुणित किया गया है। यह प्रत्याख्यानविषयक व्याख्यान वीतराग जिन, गणधर और वाचक (द्वादशांगका वेत्ता) इनकी परम्परासे समागत है ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥३३०॥

आगे उपर्युक्त भंगोंमे-से प्रथम भंगका निर्देश स्वयं ग्रन्थकारके द्वारा किया जाता है—

मन, वचन और कायसे न स्वयं करता है, न अन्यसे कराता है और न करते हुए अन्यका अनुमोदन भी करता है। इस प्रकार उक्त एक सौ सैंतालीस भंगोंमें यह प्रथम है। इसी प्रकार शेष भंगोंको भी जानना चाहिए ॥३३१॥

अब यहाँ शंकाकारके द्वारा उठायी गयी शंकाको प्रकट करके उसका समाधान किया जाता है—

यहाँ शंकाकार पूछता है कि देशविरत श्रावकके 'न स्वयं करता है' इत्यादि तीन कैसे सम्भव है। इसके समाधानमें कहा गया है कि विषयके बाहर उसके अनुमतिका भी प्रतिषेध सम्भव है।

विवेचन—शंकाकारका अभिप्राय है कि आरम्भ कार्योंमें निरत गृहस्थ स्थूल रूपमें प्राणातिपातादिका परित्याग करता है, अतः उसके करने व करानेका प्रतिषेध तो सम्भव है, किन्तु उसके लिए अनुमतिका निषेध करना शक्य नहीं है। इसके उत्तरमें यहाँ यह कहा गया है कि

प्रायमाशङ्क्य गुरुराह—भण्यते तत्र प्रतिवचनम्। विषयाद्बहिः प्रतिषेधोऽनुमतेरपि, यत आगतं भाण्डाद्यपि न गृह्णातीत्यादाविति ॥३३२॥

अत्रैवं व्यवस्थिते सति—

केई भणंति गिहिणो तिविहं तिविहेण नत्थि संवरणं।
तं न जओ निद्दिट्ठं पन्नत्तीए विसेसेउं ॥३३३॥

केचनार्हन्मतानुसारिण एवापरिणतसिद्धान्ता भणन्ति। किम्? गृहिणः त्रिविधं न करोतीत्यादि। त्रिविधेन मनसेत्यादिना। नास्ति संवरणं न विद्यते प्रत्याख्यानम्। तन्न तदेतदयुक्तम्। किमिति? यतो निर्दिष्टं प्रज्ञप्तौ भगवत्याम्। विशेषः अविषये "तिविहं पि" इत्यादिनेति ॥३३३॥ आह—

ता कह निज्जुत्तीए णुमतिनिसेहु त्ति से सविसयम्मि।
सामन्ने वान्नत्थ उ तिविहं तिविहेण को दोसो ॥३३४॥

यद्येवं तत्कथं निर्युक्तौ प्रत्याख्यानसंज्ञितायाम् अनुमतिनिषेध इति "दुविहं तिविहेण पढमउ" इत्यादिवचनेन? अत्रोच्यते—स स्वविषये यत्रानुमतिरस्ति तत्र तन्निषेधः, सामान्ये वा

जिस कार्यसे उसका कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसे अपने अविषयभूत सावद्य कार्यके विषयमें वह अपनी अनुमतिका परित्याग कर सकता है, उसमें कुछ बाधा नहीं है ॥३३२॥

आगे इस विषयमें अन्य किन्हीं आचार्योंके अभिमतको दिखलाते हुए उसका भी निषेध किया जाता है—

यहाँ कितने ही जैन मतानुयायी कहते हैं कि गृहस्थके तीन प्रकारसे—मन, वचन और कायसे—कृत, कारित व अनुमत तीन प्रकारके सावद्यका प्रत्याख्यान सम्भव नहीं है। इसके समाधानमें यहाँ कहा जा रहा है कि ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रज्ञप्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति) मे विशेष करके वैसा कहा गया है, अर्थात् भगवतीसूत्रमें यह निर्देश किया गया है कि गृहस्थ भी विषयके बहिर्भूत कृत-कारितादिरूप तीन प्रकारके सावद्य कर्मका तीन प्रकारसे प्रत्याख्यान कर सकता है ॥३३३॥

आगे इस प्रसंगमें शंकाकारके द्वारा उद्भावित शंकाको प्रकट करते हुए उसका समाधान किया जाता है—

शंकाकार कहता है कि जब व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) में अनुमतिका निषेध नहीं किया है तब फिर निर्युक्ति (प्रत्याख्याननिर्युक्ति) में अनुमतिका निषेध कैसे किया गया है? इस शंकाके उत्तरमें कहा जा रहा है कि वहाँ उसका निषेध स्वविषयमें किया गया है। अथवा सामान्य प्रत्याख्यानमें उसका निषेध किया गया है। अन्यत्र (अविषयमें) कृत-कारितादिरूप तीन प्रकारके सावद्यका प्रत्याख्यान तीन प्रकारसे करनेमें कौन-सा दोष है? कुछ भी दोष नहीं है।

विवेचन—शंकाकारका अभिप्राय है कि व्याख्याप्रज्ञप्तिमे जब यह कहा गया है कि गृहस्थ कृत, कारित एवं अनुमत इस तीन प्रकारके सावद्यका प्रत्याख्यान मन, वचन व काय इन तीनोंसे करता है तब क्या कारण है जो प्रत्याख्याननिर्युक्तिमें अनुमतिका निषेध करते हुए दो ही प्रकारके

१. अ भवतीत्यभिप्रायमाशंक्य। २. अ 'तत्र' नास्ति। ३. अ प्रतिषेधे°। ४. अ तत्त जवो न दिट्ठं। ५. अ एव परिणतसद्धांताभणित किं। ६. अ (विविध्य!) नास्ति।

प्रत्याख्याने स इति । अन्यत्र तु विशेषे स्वयंभूरमणजलधिमत्स्यादौ । त्रिविधं त्रिविधेन कुर्वतः को दोषः ? न कश्चिदिति—परिहारान्तरमाह ॥३३४॥

पुत्ताइसंतइनिमित्तमित्तमेगारसिं पवन्नस्स ।
जंपंति केइ गिहिणो दिक्खाभिमुहस्स तिविहं पि ॥३३५॥

पुत्रादिसन्ततिनिमित्तमात्रम्—प्रव्रजितोऽस्य पितेत्येवं विज्ञाय परिभवन्ति केचन तत्सुतम्, अप्रव्रजिते तु न, एतावद्भिश्चाहोभिरसौ मानुषोभवत्येवेति । तत ऊर्ध्वं गुणमुपलभ्य एतन्निमित्तं प्रविव्रजिषुरपि कश्चित्पर्यन्तवर्तिनीमुपासकप्रतिमां प्रतिपद्यत इति तदाह—एकादशीं प्रपन्नस्य श्रवणभूताभिधानामुपासकप्रतिमामाश्रितस्य । जल्पन्ति केचन गृहिणो दीक्षाभिमुखस्य त्रिविधमपि प्रत्याख्यानमिति ॥३३५॥

प्रत्याख्यानका तीन प्रकारसे करनेका निर्देश किया गया है ? इस शंकाका समाधान करते हुए यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्याख्यान निर्युक्तिमें जो अनुमतिका निषेध किया गया है वह अपने व्यवहार कार्यको लक्ष्यमे रखकर किया गया है, क्योंकि आरम्भ कार्य करते हुए गृहस्थको कभी-कभी अनुमति देना आवश्यक हो जाता है। किन्तु जो गृहस्थके व्यवहारका विषय नहीं है वहाँ गृहस्थ कृत, कारित व अनुमत तीनों प्रकारके सावद्यका मन, वचन व काय तीनों प्रकारसे प्रत्याख्यान करता है। उदाहरणार्थ स्वयम्भूरमण समुद्रवर्ती मत्स्यादि गृहस्थके व्यवहारके विषयभूत नहीं है, अतः ऐसे अविषयमें वह अनुमतिके साथ तीन प्रकारके सावद्यका तीनों प्रकारसे त्याग करता है। इस प्रकार उक्त व्याख्याप्रज्ञप्तिके विशेष आशयके समझ लेनेपर प्रकृत प्रत्याख्यान-निर्युक्तिके इस कथनसे कुछ भी विरोध नहीं रहता। अथवा प्रत्याख्याननिर्युक्तिमें सामान्य प्रत्याख्यानकी विवक्षामे अनुमतिका निषेध किया गया है, विशेष प्रत्याख्यानमें व्याख्याप्रज्ञप्तिके समान ही प्रत्याख्याननिर्युक्तका अभिप्राय समझना चाहिए ॥३३४॥

आगे उपर्युक्त शंकाका समाधान अन्य प्रकारसे किया जाता है—

जो गृहस्थ दीक्षाके अभिमुख होता हुआ पुत्रादिके निमित्त मात्रसे ग्यारहवीं प्रतिमाको स्वीकार करता है उसके तीनों प्रकारका प्रत्याख्यान होता है, इस प्रकारसे अन्य कितने ही उक्त शंकाके समाधानमें कहते है।

विवेचन—पूर्वमें (३३२) में जो यह शंका उठायी गयी थी कि देशव्रती गृहस्थके 'न करता है, न कराता है और न अनुमति देता है' इस प्रकारसे तीन प्रकारका प्रत्याख्यान कैसे सम्भव है ? इसका समाधान यद्यपि इसके पूर्व किया जा चुका है, फिर भी प्रकारान्तरसे यहाँ उसका समाधान करते हुए यह कहा गया है कि 'पुत्र आदिके निमित्तसे यह दीक्षित हुआ है' इस प्रकार कहते हुए कोई उसके पुत्रको लज्जित न करे, इस विचारसे जिस गृहस्थने मुनिदीक्षाके अभिमुख होकर भी उसे स्वीकार न कर श्रमणभूत—श्रमणके समान अनुष्ठानवाली—ग्यारहवीं प्रतिमाको स्वीकार किया है उसके अपने विषयमे भी अनुमतिका निषेध होता है—वह किसी भी व्यवहार कार्यमें अपनी अनुमति नही देता। इस प्रकार उक्त गृहस्थके कृत, कारित व अनुमत तीन प्रकारके सावद्यका प्रत्याख्यान मन, वचन व काय इन तीनोंसे बन जाता है ॥३३५॥

---

१. अ पुत्रातिसंतइणिमित्तमेत्तमेकार्दास । २. अ इत्याह ।

आह कहं पुण मणसा करणं कारावणं अणुमई य ।
जह वइतणुजोगेहिं करणाई तह भवे मणसा ॥३३६॥

आह चोदकः—कथं पुनर्मनसा करणं कारणमनुमतिश्चान्त-र्व्यापारत्वेन परैरनुपलक्ष्यमाणत्वादनुपपत्तिरित्यभिप्रायः। गुरुराह—यथा वाक्तनुयोगाभ्यां करणादयः करण-कारणानुमोदनानि। तथा भवेद् मनसापीति ॥३३६॥

कथमित्याह[1]—

तयहीणत्ता वय-तणुकरणाईण अहवा उ मणकरणं[2] ।
सावज्जजोगमणणं पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥३३७॥

तदधीनत्वादिति मनोयोगाधीनत्वात् वाक्तनुकरणादीनाम्, तेन ह्यालोच्य वाचा कायेन वा करोति कारयति चेत्यादि अभिसंधिमन्तरेण प्रायस्तदनुपपत्तेः। प्रकारान्तरं चाह—अथवा मनःकरणम्। किम्? सावद्ययोगमननं करोम्यहं एतदिति सपापव्यापारचिन्तनं प्रज्ञप्तं वीतरागैरिति ॥३३७॥

कारवणं पुण मणसा चिंतेइ करेउ एस[3] सावज्जं ।
चिंतेई य कए पुण सुट्ठुकयं अणुमई होइ ॥३३८॥

कारवणं पुनर्मनसा चिन्तयति करोतु एष सावद्यं असावपि चेङ्गितज्ञोऽ[4]भिप्रायात्प्रवर्तत एव। चिन्तयति च कृते पुनः सुष्ठुकृतमनुमतिर्भवति मानसी अभिप्रायज्ञो विजानात्यपीति ॥३३८॥

आगे प्रसंगानुरूप अन्य शंकाको उद्भावित करते हुए उसका समाधान किया जाता है—

इस प्रसंगमें कोई कहता है कि मनसे करना, कराना और अनुमति कैसे सम्भव है? इसके उत्तरमें कहा गया है कि जैसे वचन और काय योगोंसे उक्त करना आदि होते हैं वैसे ही मनसे भी वे होते हैं ॥३३६॥

आगे इसे ही स्पष्ट किया जाता है—

वचन और शरीरसे सम्बद्ध करना आदि—करना, कराना और अनुमति—चूँकि उक्त मनके अधीन हैं, अर्थात् मनसे विचार किये बिना वचनसे व कायसे उक्त करना आदि सम्भव नहीं हैं, इसीलिए वचन और कायके समान मनसे भी उक्त करने आदि तीनको समझना चाहिए। अथवा सावद्ययोगका जो मनन है—'मैं करता हूँ' इस प्रकारका जो मनसे चिन्तन—होता है उसे वीतराग भगवान्ने मन करण कहा है ॥३३७॥

आगे उसे और भी स्पष्ट किया जाता है—

'यह मेरे सावद्य कार्यको करे' इस प्रकारका जो मनसे चिन्तन किया जाता है, यह मनसे कराना है। अभीष्ट कार्यके कर देनेपर फिर जो 'ठीक किया' ऐसा मनसे विचार करता है, यह मनसे अनुमति है ॥३३८॥

विवेचन—शंकाकारका अभिप्राय था कि जिस प्रकार वचन और शरीरका व्यापार दूसरोंके द्वारा देखा जाता है उस प्रकार अन्तःकरण होनेसे मनके द्वारा क्या किया-कराया है, यह दूसरोंके लिए उपलक्ष्य नहीं है; अतः मनके द्वारा कृत, कारित व अनुमत सावद्यको कैसे समझा

---

१. अ कथमित्यादि। २. अ °त्ता वत्तित्तणुकरणादीणमहव मणकरणं। तु। ३. अ करेइ उ एस।
४. अ चंतितज्ञो।

उक्तः प्रत्याख्यानविधिरधुना श्रावकस्यैव निवासादिविषयां सामाचारीं प्रतिपादयन्नाह—

निवसिज्ज तत्थ सड्ढो साहूणं जत्थ होइ संपाओ ।
चेइयघराइ जत्थ य तयन्नसाहम्मिया चेव ॥३३९॥

निवसेत्तत्र नगरादौ श्रावकः, साधूनां यत्र भवति संपातः—संपतनं संपातः, [2]आगमनमित्यर्थः। चैत्यगृहाणि च यस्मिंस्तदन्यसार्धमिकाश्चैव श्रावकादय इति गाथासमासार्थः ॥३३९॥

अधुना प्रतिद्वारं गुणा उच्यन्ते तत्र साधुसंपाते गुणानाह—

साहूण वंदणेणं नासइ पावं असंकिया भावा ।
फासुयदाणे निज्जर उवग्गहो नाणमाईणं ॥३४०॥

साधूनां वन्दनेन करणभूतेन। किम् ? नश्यति पापम् गुणेषु बहुमानात् । तथा अशङ्किता भावास्तत्समीपे श्रवणात् । प्रासुकदाने निर्जरा । कुतः । उपग्रहो ज्ञानादीनां ज्ञानादिमन्त एव साधव[3] इति ? उक्ताः साधुसंपाते गुणाः ॥३४०॥

जाये ? इस शंकाके उत्तरमें प्रथम तो यही कहा गया है कि जैसे वचन और काय योगोंके द्वारा वे करना-कराना आदि होते हैं वैसे ही वे मन योगसे होते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि वचन और काय के द्वारा जो किया जाता है, कराया जाता है और अनुमोदन किया जाता है; यह सब उस मनके अधीन है। कारण यह कि प्रथमतः मनसे ही उक्त करने, कराने और अनुमोदनका विचार किया जाता है। तत्पश्चात् प्रयोजनके अनुसार प्राणी वचनसे व कायसे करता है, कराता है व अनुमोदन करता है। मनसे विचार करनेके बिना वे वचन और कायसे सम्भव नहीं हैं, इसलिए वचन और कायके समान ही उन तीनोंको मनसे भी समझना चाहिए। आगे प्रकारान्तरसे पृथक्-पृथक् उनके स्वरूपको दिखलाते हुए कहा गया है कि प्राणी 'मैं अमुक सावद्य कार्यको करता हूँ' इस प्रकारका जो विचार करता है, यह 'मनकृत' का लक्षण है। 'यह अमुक कार्य कर दे' इस प्रकारसे जो मनमें विचार किया जाता है, इसे 'मनकारित' समझना चाहिए। इसी प्रकार जब दूसरा चेष्टासे उसके अभिप्रायको समझकर इच्छित कार्यको कर देता है तब प्राणी जो यह सोचता है कि 'इसने मेरा कार्य ठीकसे कर दिया है' इसे 'मनसे अनुमत' जानना चाहिए ॥३३६-३३८॥

अब आगे श्रावककी निवासादि विषयक सामाचारीका निरूपण करते हुए प्रथमतः उसे कैसे स्थानमें निवास करना चाहिए, इसे स्पष्ट किया जाता है—

श्रावकको वहाँ—ऐसे नगर आदिमें—रहना चाहिए जहाँ साधुओंका आगमन होता हो, चैत्यगृह (जिनभवन) हों तथा अन्य सार्धमिक जन भी रहते हों ॥३३९॥

आगे साधुसमागमसे होनेवाले लाभको दिखलाते हैं—

साधुओंकी वन्दनासे पाप नष्ट होता है, परिणाम शंकासे रहित होते हैं, उन्हें प्रासुक आहार आदिके देनेसे निर्जरा होती है, तथा आदिका उपग्रह होता है।

विवेचन—जहाँ साधुओंका समागम होता है, ऐसे स्थानपर श्रावकके रहनेसे उसे क्या लाभ होता है, इसे स्पष्ट करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि साधुओंके आनेसे श्रावकको उनकी वन्दना आदिका अवसर प्राप्त होता है जिससे उसके पापका विनाश होता है। उनसे जिनागमके

---

१. अ अस्मि तयन्न। २. अ भवति संपातः आगमनं। ३. अ एव हि साधव।

चैत्यगृहे गुणानाह—

मिच्छादंसणमहणं सम्मद्दंसणविसुद्धिहेउं च।
चिइवंदणाइ विहिणा पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥३४१॥

मिथ्यादर्शनमथनम्—मिथ्यादर्शनं[1] विपरीतपदार्थश्रद्धानरूपं मथ्यते विलोड्यते येन तत्तथा। न केवलमपायनिबन्धनकदर्थनमेव, किन्तु कल्याणकारणोपकारि चेत्याह—सम्यग्दर्शन-विशुद्धिहेतु च सम्यगविपरीतं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं दर्शनं सम्यग्दर्शनं मोक्षाविसोपानम्, तद्विशुद्धि-करणं च। किं? तच्चैत्यवन्दनादि। आदिशब्दात्[2] पूजादिपरिग्रहः। विधिना सूत्रोक्तेन। प्रज्ञप्तं प्ररूपितं वीतरागैरर्हद्भिः, स्थाने शुभाध्यवसायप्रवृत्तेरेतच्च चैत्यगृहे सति भवतीति गाथार्थः ॥३४१॥

उक्ताश्चैत्यगृहगुणाः, सांप्रतं समानधार्मिकगुणानाह—

साहम्मियथिरकरणं वच्छल्ले सासणस्स सारो त्ति।
मग्गसहायत्तणओ तहा अणासो य धम्माओ[3] ॥३४२॥

समानधार्मिकस्थिरीकरणमिति—यदि कश्चित्कथंचिद्धर्मात् प्रच्यवते ततस्तं स्थिरीकरोति, महांश्चायं गुणः। तथा वात्सल्ये क्रियमाणे शासनस्य सार इति सार आसेवितो[4] भवति। उक्तं च[5] "जिणसासणस्स सारो" इत्यादि[6]। सति च[7] तस्मिन् वात्सल्यमिति। तथा तेन तेनोपबृंह-

---

श्रवणसे तत्त्वविषयक शंका न रहनेके कारण निःशंकित परिणति होती है। उन्हें प्रासुक भोजन एवं औषधि आदिके प्रदान करनेसे पूर्वसंचित कर्मकी निर्जरा होती है। इसके अतिरिक्त साधु स्वयं ज्ञान-दर्शनादि गुणोंसे संयुक्त होते हैं, अतः उनके आश्रयसे श्रावकके ज्ञानादि गुणोंमें वृद्धि होती है। इस प्रकार साधुमेवासे श्रावकको महान् लाभ होता है, अतः श्रावकको ऐसे ग्राम-नगरादिमें ही निवास करना चाहिए जहाँ साधुओंका सदा समागम होता रहे ॥३४०॥

आगे वहाँ चैत्यगृहके रहनेसे होनेवाले लाभको दिखलाते हैं—

विधिपूर्वक जो जिनवन्दना व जिनपूजा आदि की जाती है उससे मिथ्यादर्शन—तत्त्व-विषयक विपरीत श्रद्धान—का निर्मथन (विनाश) होता है, साथ ही सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि—यथार्थ तत्त्व श्रद्धान व हिताहितका विवेक—भी उससे उदित होता है। इसीलिए वीतराग जिनेन्द्रने उक्त चैत्यवन्दना आदिको मिथ्यादर्शनके निर्मूलन और सम्यग्दर्शनकी निर्मलताका कारण कहा है। यह चूँकि चैत्यगृहके रहनेपर ही सम्भव है, इसीलिए जहाँ चैत्यगृह हों वहाँ श्रावकके लिए रहनेकी प्रेरणा की गयी है ॥३४१॥

अब वहाँ सार्धमिक जनके रहनेसे होनेवाले लाभको प्रकट किया जाता है—

सार्धमिक जनके रहनेसे यदि कोई किसी प्रकार धर्मसे च्युत हो रहा है तो उसे उसमें स्थिर किया जाता है, यदि स्वयं उस धर्मसे च्युत हो रहा है तो अन्य सार्धमिक अपनेको उसमें स्थिर कर सकते हैं। इस प्रकार परस्परमें वात्सल्यभाव—धर्मानुरागके होनेपर—जिनागमके सार (रहस्य) का आसेवन होता है। तथा मोक्षमार्गमें सहायक होनेसे धर्मसे विनाश नहीं

---

१. अ मिथ्यादर्शनमिति मिथ्यादर्शन वि°। २. अ किंचित् चैत्यवंदनाद्यादिशब्दात्। ३. अ धम्मातो। ४. अ आसेवेति। ५. अ 'च' नास्ति। ६. अ मुद्रितप्रतिटिप्पणके अ सार आसेवितो भवति उक्तजिणसा-सणस्स सारो इत्यादि। ब सारश्च सेवितो भवता उत्तापगागण भासण सरो इत्यादि। ७. अ इत्यादि स च।

णादिना प्रकारेण। सम्यग्दर्शनादिविलक्षणमार्गसहायत्वादनाशश्च भवति। कुतो धर्मास्तत एवेति गाथार्थः ॥३४२॥

उक्ताः समानधार्मिकगुणाः। सांप्रतं तत्र निवसतो विधिरुच्यते, तत्रापि च प्रायो भावसुमाः श्रावकाः ये प्राप्यापि जिनमतं गार्हस्थ्यमनुपालयन्त्यतो निद्राववबोधद्वारेणाह—

नवकारेण विबोहो अणुसरणं सावओ वयाइंमि।
जोगो चिइवंदणमो पच्चक्खाणं च विहिपुव्वं ॥३४३॥

नमस्कारेण विबोध इति सुप्तोत्थितेन नमस्कारः पठितव्यः। तथानुस्मरणं कर्तव्यं श्रावकोऽहमिति। व्रतादौ विषये—ततो योगः कायिकादिः। चैत्यवन्दनमिति प्रयत्नेन चैत्यवन्दनं कर्तव्यम्। ततो गुर्वादीनभिवन्द्य प्रत्याख्यानं च विधिपूर्वकं सम्यगाकारशुद्धं ग्राह्यमिति ॥३४३॥

गोसे सयमेव इमं काउं तो चेइयाण पूयाई।
साहुसगासे कुज्जा पच्चक्खाणं अहागहियं ॥३४४॥

गोसे प्रत्युषसि। स्वयमेवेदं कृत्वा गृहादौ। ततश्चैत्यानां पूजादीनि संमार्जनोपलेप-पुष्प-धूपादिसंपादनादि[1] कुर्यात्। ततः साधुसकाशे कुर्यात्। किम्? प्रत्याख्यानं यथागृहीतमिति ॥३४४॥

अत्र केचिदनधिगतसम्यगागमा ब्रुवत इति चोदकमुखेन तदभिप्रायमाह—

पूयाए कायवहो पडिकुट्ठो सो अ नेव[2] पुज्जाणं।
उवगारिणि त्ति तो सा नो कायव्व त्ति चोएइ ॥३४५॥

पूजायां भगवतोऽपि किल[3] क्रियमाणायाम्। कायवधो भवति, पृथिव्याद्युपमर्दमन्तरेण तदनुपपत्तेः। प्रतिक्रुष्टः स च कायवधः, सव्वे जीवा न हंतव्वेत्यादि वचनात्। किं च न च पूज्यानामर्हतां तच्चैत्यानां वा उपकारिणी पूजा, अर्हतां कृतकृत्यत्वात् तच्चैत्यानामचेतनत्वात्। इतिशब्दो यस्मादर्थे—यस्मादेवं ततस्तस्मादेव। पूजा न कर्तव्येति चोदक इति ॥३४५॥

होता—उसका परिपालन भी होता है। इस कारण जहाँ अन्य साधर्मिक जन रहते हों वहाँ श्रावकका रहना श्रेयस्कर होता है ॥३४२॥

उक्त स्थानमें रहते हुए श्रावकको प्रातःकालमें प्रबुद्ध होकर क्या करना चाहिए, इसे दिखलाते हैं—

सोतेसे उठकर श्रावकको नमस्कारके साथ प्रबुद्ध होना चाहिए—शय्याको छोड़ते हुए पंच-नमस्कार मन्त्रका उच्चारण करना चाहिए, 'मैं श्रावक हूँ' ऐसा स्मरण करना चाहिए, व्रत आदि-में योजित करना चाहिए—उसके विषयमें मन, वचन व कायसे प्रवृत्त होना चाहिए, चैत्यवन्दन करते हुए गुरु आदिके समक्ष विधिपूर्वक प्रत्याख्यानको ग्रहण करना चाहिए ॥३४३॥

तत्पश्चात् उसे क्या करना चाहिए, यह आगे दिखलाते हैं—

प्रातःकालमें उठते हुए स्वयं ही यह करके तत्पश्चात् चैत्योंकी पूजा आदि करे। फिर जिस प्रकारसे प्रत्याख्यानको ग्रहण किया गया है उस प्रकारसे उसे साधुके समीपमें ग्रहण करे ॥३४४॥

आगे पूजाके प्रसंगमें आगमसे अनभिज्ञके द्वारा जो शंका की जाती है उसे प्रकट करते हैं—

पूजामें कायवध – पृथिवीकायिक आदि जीवोंका घात—होता है, उसका आगममें 'समस्त जीवोंका घात नहीं करना चाहिए' इस प्रकारसे निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त जो

---

१. अ पुष्परूपादि। २. अ सो य णेय। ३. अ 'ऽपि किल' नास्ति।

अत्राह—

आह गुरू पूयाए कायवहो होइ जइ वि हु जिणाणं[2] ।
तह[3] वि तई[4] कायव्वा[5] परिणामविसुद्धिहेऊओ ॥३४६॥

आह गुरुरित्युक्तवानाचार्यः । पूजायां क्रियमाणायाम् । कायवधः पृथिव्याद्युपमर्दो यद्यपि भवत्येव । जिनानां रागादिजेतृणामित्यनेन तस्याः सम्यग्विषयमाह । तथाप्यसौ पूजा कर्तव्यैव । कुतः ? परिणामविशुद्धिहेतुत्वादिति ॥३४६॥

अरहन्त व उनकी प्रतिमा आदि पूज्य माने जाते हैं उनका उस पूजासे कोई उपकार होनेवाला नहीं है, इसीलिए उसे नहीं करना चाहिए। इस प्रकार इस प्रसंगमें शंका की जाती है ॥३४५॥

इस शंकाके समाधानमें कहा जाता है—

गुरु कहते हैं कि जिनोंकी—अरहन्त व उनकी प्रतिमाओं आदिकी—पूजा करते समय यद्यपि पृथिवीकायिक आदि जीवोंका वध होता है, तो भी परिणामोंकी विशुद्धिकी कारण होनेसे उसे करना ही चाहिए ॥३४६॥

विवेचन—यहाँ पूजाके प्रसंगमें यह आशंका की गयी है कि जिन व जिनप्रतिमाओं आदिकी पूजामें पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक व वनस्पतिकायिक इन स्थावर जीवोंके साथ कुछ द्वीन्द्रिय व त्रीन्द्रिय आदि क्षुद्र त्रस जीवोंका भी विघात होता है। उधर परमागममें 'अहिंसा परमो धर्मः' आदिके रूपमें समस्त प्राणियोंके संरक्षणका विधान किया गया है, ऐसी स्थितिमें उपर्युक्त चैत्यपूजा आदिका विधान युक्ति और आगमसे संगत नहीं दिखता। इसके अतिरिक्त यदि यह भी विचार किया जाय कि उससे जिन पूज्य अरहन्त आदिकी पूजा की जाती है उनका कुछ उपकार होता हो सो भी सम्भव नहीं है, क्योंकि राग-द्वेषके विजेता अरहन्त तो कृतकृत्य हो चुके है, अतः उन्हें उस पूजासे कुछ प्रयोजन रहा नहीं है तथा पाषाणस्वरूप जिनप्रतिमायें अचेतन—जड़ होकर विवेकसे रहित हैं, इसलिए उन्हें भी उस पूजाके करने व न करनेसे कुछ हर्ष-विषाद होनेवाला नहीं है। इस कारण निरर्थक होनेसे श्रावकको उस पूजाका करना उचित नहीं है। इस प्रकार आगमके रहस्यसे अनभिज्ञ कुछ लोग कुशंका किया करते हैं। उनकी उक्त आशंकाके समाधानमे यहाँ यह कहा गया है कि यह सत्य है कि पूजाके करनेमें कुछ प्राणियोंको कष्ट पहुँचता है, फिर भी उससे पूजकके परिणामोंमें जो विशुद्धि होती है उससे उसके पुण्यबन्ध होनेके साथ पूर्वसंचित पापकर्मकी स्थिति व अनुभागका ह्रास भी होता है। इसलिए आरम्भकार्यमें रत रहनेवाले गृहस्थको वह पूजा करना ही चाहिए। इस प्रसंगमें स्वामी समन्तभद्रने जो यह कहा है वह विशेष ध्यान देने योग्य है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥
पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥

—स्वयम्भूस्तोत्र ५७-५८

---

१. अ चोदक इत्यत्र । २. अ वहो जइ वि होइ उ जिणाणं । ३. अ 'तह' नास्ति । ४. अ ततो । ५. अ कायव्वो ।

न चायं हेतुरसिद्ध इति परिहरति—

भणियं च कूवनायं दव्वत्थवगोयरं इहं सुत्ते ।
नियमारंभपवत्ता जं च गिही तेण कायव्वा ॥३४७॥

भणितं च प्रतिपादितं च। कूपज्ञातं कूपोदाहरणम्। किं विषयमित्याह—द्रव्यस्तवगोचरं द्रव्यस्तवविषयम्। इह सूत्रे जिनागमे। दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो इति वचनात्। तृडपनोदार्थं कूपखननेऽधिकतरपिपासाश्रमादिसंभवेऽप्युद्भवति तत एव काचिच्छिरा यदुदकाच्छेषकालमपि तृडाद्यपगम इति, एवं द्रव्यस्तवप्रवृत्तौ सत्यपि पृथिव्याद्युपमर्दे पूज्यत्वाद्भगवत उपायत्वात्पूजाकरणस्य श्रद्धावतः समुपजायते तथाविधः शुभः परिणामो यतोऽशेषकर्मक्षपणमपीति। उपपत्त्यन्तरमाह—नियतारम्भप्रवृत्ता यच्च गृहिण इत्यनवरतमेव प्रायस्तेषु परलोकप्रतिकूलेष्वारम्भेषु प्रवृत्तिदर्शनात्। तेन कर्तव्या पूजा, कायवधेऽपि उक्तवदुपकारसम्भवात् तावन्तीं वेलामधिकतराधिकरणाभावादिति ॥३४७॥

अर्थात् हे वासुपूज्य जिनेन्द्र ! जिस कारण आप राग-द्वेषसे रहित हो चुके हैं, इसलिए आपको अपनी पूजासे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा—उससे प्रसन्न होकर आप पूजकका कुछ भला नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त आपने चूँकि वैरभावका वमन कर दिया—उसे नष्ट कर दिया है, इसलिये यदि आपको कोई निन्दा करता है तो उससे भी आपको कुछ प्रयोजन नहीं रहा, क्योंकि द्वेषबुद्धिसे रहित हो जानेके कारण आप रुष्ट होकर निन्दकका कुछ अनिष्ट करनेवाले भी नहीं है। इस वस्तुस्थितिके होते हुए भी पूजामें आपके पवित्र गुणोंके स्मरणसे पूजकके परिणामोंमें जो निर्मलता होती है वह उस पापकर्मोंकी कालिमासे बचाती है—उससे उसका उद्धार करती है। यह सच है कि पूज्य जिनदेवकी पूजा करनेवाले जनके पूजा करते हुए कुछ थोड़ा सा पाप अवश्य होता है, पर वह उस पूजासे संचित उसके पुण्यकी महती राशिमें दोषजनक इस प्रकार नहीं है जिस प्रकार कि शीतल व कल्याणकर जलसे परिपूर्ण समुद्रकी जलराशिमें डाला गया विषका कण दोषजनक नहीं है—उसे दूषित (विषैला) नहीं करता ॥३४५-३४६॥

पूजाको जो परिणाम विशुद्धिका हेतु कहा गया है उसका आगे समर्थन किया जाता है—

यहाँ परमागममें द्रव्यस्तवके विषयमें कुएँका उदाहरण कहा गया है। इसके अतिरिक्त गृहस्थ चूँकि निरन्तर आरम्भमें प्रवृत्त रहते हैं, इसलिए उन्हें पूजा करनी ही चाहिए।

विवेचन—आगममें द्रव्यस्तवके विषयमें जो कुएँका दृष्टान्त दिया गया है उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार प्यासको शान्त करनेके लिए जो कुआँ खोदा जाता है उसके खोदनेमें यद्यपि खोदनेवालोंको बहुत परिश्रम करना पड़ता है तथा उससे उत्पन्न प्यास आदिकी वेदना भी सहनी पड़ती है, फिर भी उसमें कोई ऐसा पानीका स्रोत निकलता है जिसके आश्रयसे पीछे शीतल जलको पाकर जनसमुदाय बहुत समय तक अपनी प्यासको शान्त करता है। इसी प्रकार द्रव्यस्तव स्वरूप जिनपूजा आदिके करते समय यद्यपि गृहस्थके द्वारा पृथिवीकायिक आदि कितने ही जीवोंको पीड़ा पहुँचती है, फिर भी उसके निमित्तसे श्रद्धालु गृहस्थके जो निर्मल परिणाम उत्पन्न होता है उससे वह समस्त कर्मोंका क्षय भी कर सकता है, फिर भला स्वर्ग आदिकी प्राप्तिकी तो बात ही क्या है ? वे तो अनायास ही प्राप्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त गृहस्थ प्रायः निरन्तर परलोकके प्रतिकूल आरम्भ कार्योंमें प्रवृत्त रहते हैं, क्योंकि हिंसाजनक व्यापारादि कार्योंके विना उनका गृहस्थ जीवन बनता नहीं है। इस प्रकारसे जो उनके पापका बन्ध होता है उसके निराकरणके लिए उन्हें जिनपूजा आदि पुण्यवर्धक कार्योंका करना भी आवश्यक होता है।

यदुक्तं न च पूज्यानामुपकारिणीत्येतत्परिजिहीर्षयाह[1]—

उवगाराभावंमि वि पुज्जाणं पूयगस्स उवगारो ।
मंताइसरण-जलणाइसेवणे जह तहेहं पि ॥३४८॥

उक्तन्यायादुपकाराभावेऽपि पूज्यानामर्हदादीनाम् । पूजकस्य पूजाकर्तुरुपकारः । दृष्टान्तमाह—मन्त्रादिस्मरण-ज्वलनादिसेवने यथेति । तथाहि—मन्त्रे स्मर्यमाणे न कश्चित्तस्योपकारोऽथ च स्मर्तुर्भवत्येवं ज्वलने सेव्यमाने न कश्चित्तस्योपकारोऽथ च तत्सेवकस्य भवति, शीतापनोदादिदर्शनात् । आदिशब्दाच्चिन्तामण्यादिपरिग्रहः । तथेहापीति यद्यप्यर्हदादीनां नोपकारः तथापि पूजकस्य शुभाध्यवसायादिर्भवति, तथोपलब्धेरिति ॥३४८॥

किं च—

देहाइनिमित्तं पि हु जे कायवहंमि तह पयट्टंति ।
जिणपूयाकायवहंमि तेसिं पडिसेहणं मोहो ॥३४९॥

देहादिनिमित्तमप्यसारशरीरहेतोरपीत्यर्थः[2] । ये कायवधे पृथिव्याद्युपमर्दे । तथा प्रवर्तन्ते, तथेति झटिति कृत्वा । जिनपूजाकायवधे तेषां प्रतिषेधनं मोहो अज्ञानम्, न हि ततो भगवत्पूजा न शोभनेति ॥३४९॥

जितने समय वे उक्त पूजा आदि शुभ कार्योंमें संलग्न रहते हैं उतने समय वे अन्य आरम्भ कार्योंसे विरत रहते हैं । इस प्रकार पूजा करते हुए उनके परिणामोंमें जो निर्मलता होती है उससे होनेवाला पुण्यका बन्ध उस जीववध जनित स्वल्प पापकी अपेक्षा अधिक होता है । इसलिए पूज्योंकी पूजा करना ही चाहिए ॥३४७॥

पूजासे पूज्योंका कुछ उपकार भी नहीं होता जो शंकाकारने कहा था, उसका भी आगे समाधान किया जाता है ।

पूज्य अरहंत आदिकोंका कुछ उपकार न होनेपर भी उस पूजासे पूजकका तो उपकार होता ही है । जिस प्रकार मन्त्र आदिके स्मरण और अग्नि आदिके सेवनसे यद्यपि उस मन्त्र और अग्नि आदिका कुछ उपकार नहीं होता है फिर भी मन्त्रका स्मरण करनेवालेको विषादिकी वेदनाके निराकरण और अग्निके सेवनसे सेवकको शीतताके अपहरण रूप फल प्राप्त होता ही है । इसी प्रकार अरहंत आदिकी पूजासे यद्यपि उनका कुछ उपकार नहीं होता है फिर भी उनके आश्रयसे पूजकको अपने परिणामोंकी निर्मलता रूप फल प्राप्त होता ही है । इस प्रकार पूजाकी सार्थकता ही अधिक है ॥३४८॥ इसके अतिरिक्त—

जो अपने शरीर आदिके निमित्त भी प्राणिवधमें उस प्रकारसे प्रवृत्त होते हैं उनका जिन पूजाके आश्रयसे होनेवाले स्वल्प प्राणिवधके कारण उस पूजाका प्रतिषेध करना मोह ही है—वह उनकी अज्ञानताका ही सूचक है । अभिप्राय यह है कि जो गृहस्थ अपने शरीरके निमित्त भी—उसके संस्कारके लिए—पृथिवीकायिकादि जीवोंको पीड़ा पहुँचाया करता है वह जिनपूजाके निमित्तसे होनेवाले थोड़ेसे प्राणिवधसे उस पूजाका—जो इह लोक व परलोक दोनोंके लिए हितकर है—निषेध करे, इसे उसका अविवेक ही कहा जायेगा ॥३४९॥

---

१. अ परिजिहीर्षुराह । २. ब शरीरार्थंहतो ।

निगमयन्नाह—

सुत्तभणिएण विहिणा गिहिणा निव्वाणमिच्छमाणेण ।
लोगुत्तमाण पूया णिच्चंचिय होइ कायव्वा ॥३५०॥

सूत्रभणितेनागमोक्तेन विधिना यतनालक्षणेन । गृहिणा श्रावकेन । निर्वाणमिच्छता मोक्षमभिलषता । लोकोत्तमानामर्हदादीनाम् । पूजा अभ्यर्थनादिरूपा । नित्यमेव भवति कर्तव्या, ततश्च न युक्तः प्रतिषेध इति ॥३५०॥

अवसितमानुषङ्गिकम्, सांप्रतं यदुक्तं साधुसकाशे कुर्यात्प्रत्याख्यानं यथागृहीतमित्यत्र तत्करणे गुणमाह—

गुरुसक्खिओ उ धम्मो संपुन्नविही कयाइ य विसेसो ।
तित्थयराणं[1] य आणा साहुसमीवंमि वोसिरउ ॥३५१॥

गुरुसाक्षिक एव धर्म इत्यतः स्वयं गृहीतमपि तत्सकाशे ग्राह्यमिति, तथा संपूर्णविधिरित्थमेव भवतीत्यभिप्रायः । कदाचिच्च विशेषः प्राग्[2]प्रत्याख्यातमपि किंचित्साधुसकाशे संवेगे प्रत्याख्यातीति । तीर्थंकराणां चाज्ञा संपादिता भवतीत्येते गुणाः साधुसमीपे व्युत्सृजतः प्रत्याख्यानं कुर्वत इति ॥३५१॥

सामाचारीशेषमाह—

सुणिऊण तओ धम्मं अहाविहारं च पुच्छिउमिसीणं ।
काऊण य करणिज्जं भावम्मि तहा ससत्तीए ॥३५२॥

श्रुत्वा ततो धर्मं क्षान्त्यादिलक्षणम्, साधुसकाशे इति गम्यते । यथाविहारं च तथाविधचेष्टारूपम् । पृष्ट्वा ऋषीणां संबन्धिनम् । कृत्वा च करणीयं ऋषीणामेव संबन्धि । भाव इत्यास्थितायां करणीयस्य[3] । स्वशक्त्या स्वविभवाद्यौचित्येनेति ॥३५२॥

आगे इसका उपसंहार करते हुए उस पूजाको अवश्यकरणीयताको प्रगट करते हैं—

जो गृहस्थ निर्वाणकी इच्छा करता है उसे आगमोक्त विधिके अनुसार निरन्तर लोकोत्तमों की—अरहंत, सिद्ध एवं साधु आदि पूज्य महात्माओंकी पूजा करना ही चाहिए ॥३५०॥

अब पूर्वमें जो यह कहा था कि साधुके समीपमें प्रत्याख्यान करना चाहिए, उससे होनेवाले लाभको दिखलाते हैं—

धर्म गुरुकी साक्षीमें ही होता है, विधिकी परिपूर्णता तभी होती है, कदाचित् गुरुके समक्षमें प्रत्याख्यानके ग्रहणसे उसमें विशेषता भी सम्भव है—उससे धर्मानुराग विशेष हो सकता है, तथा साधुके समीपमें प्रत्याख्यानके तीर्थंकरोंकी आज्ञाका परिपालन भी होता है; इस प्रकार स्वयं ग्रहण करनेपर भी गुरुको साक्षीमें उस प्रत्याख्यानके ग्रहण करनेमें अनेक लाभ हैं ॥३५१॥

आगे श्रावकको विशेष सामाचारीका निरूपण करते हुए साधुके समीपमें धर्मको सुनकर और क्या करना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हैं—

तत्पश्चात् धर्मको सुनकर व प्रवृत्तिके अनुसार ऋषियोंसे पूछकर उनके करणीय कार्यको अपनी शक्तिके अनुसार भावपूर्वक करना चाहिए ॥३५२॥

---

१. अ तित्थगराण । २. अ 'प्रागप्रत्या' इत्यतोऽग्रेऽग्रिम 'प्रत्या–' पर्यन्तपाठः स्खलितोऽस्ति । ३. अ संबंधे भावमित्यस्थितायां करणीयसा ।

तत्तो अणिंदियं खलु काऊण जहोचियं अणुट्ठाणं[1] ।
भुत्तूणं[2] जहाविहिणा पच्चक्खाणं[3] च काऊण ॥३५३॥

ततस्तदनन्तरमनिन्द्यं खलु इहलोक-परलोकानिन्द्यमेव । कृत्वा यथोचितमनुष्ठानं[4] यथा वाणिज्यादि । तथा भुक्त्वा यथाविधिना अतिथिसंविभागसंपादनाविना । प्रत्याख्यानं च कृत्वा तदनन्तरमेव पुनर्भोगेऽपि ग्रन्थिसहितादीनि ॥३५३॥

सेविज्ज तओ साहू करिज्ज पूयं च वीयरागाणं[5] ।
चिइवंदण सगिहागम पइरिक्कंमि य तुयट्टिज्जा[6] ॥३५४॥

सेवेत ततः साधून् पर्युपासनविधिना । कुर्यात् पूजां च वीतरागाणां स्वविभवौचित्येन । ततश्चैत्यवन्दनं कुर्यात्, ततः स्वगृहागमनं, तथैकान्ते तु त्वग्वर्तनं कुर्यात्स्वपेदिति ॥३५४॥

कथमित्याह—

उस्सग्गबंभयारी परिमाणकडो उ नियमओ चेव ।
सरिऊण वीयरागे सुत्तविबुद्धो विचिंतिज्जा[7] ॥३५५॥

उत्सर्गतः प्रथमकल्पेन ब्रह्मचारी आसेवनं प्रति कृतपरिमाणस्तु नियमादेव, आसेवनपरिमाणाकरणे महामोहदोषात् । तथा स्मृत्वा वीतरागान् । सुप्तविबुद्धः सन् विचिन्तयेद्वक्ष्यमाणमिति ॥३५५॥

भूएसु जंगमत्तं तेसु वि पंचेन्दियत्तमुक्कोसं ।
तेसु वि अ माणुसत्तं मणुयत्ते आरिओ देसो ॥३५६॥

भूतेषु प्राणिषु । जंगमत्वं द्वीन्द्रियादित्वम् । तेष्वपि जंगमेषु[9] पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टं प्रधानम्

पश्चात् वह क्या करे, इसे आगे स्पष्ट करते हैं—

तत्पश्चात् यथोचित अनिन्दित अनुष्ठान—आजीविकाके अनुरूप यथायोग्य निर्दोष व्यापारादि कार्यको—करके विधिपूर्वक, अर्थात् अतिथिसंविभाग आदिके साथ, भोजन करे और प्रत्याख्यान करे ॥३५३॥ पश्चात्—

तत्पश्चात् साधुओंकी उपासना करे, वीतराग जिनोंकी पूजा करे, पश्चात् चैत्यवन्दन करे व फिर घरपर आकर एकान्तमें त्वग्वर्तन करे—सो जावे ॥३५४॥

सोते समय क्या करे, यह आगे प्रगट किया जाता है—

सामान्य रूपसे ब्रह्मचारी रहना चाहिए, यदि प्रमाण कर चुका है तो नियमसे उसका पालन करना चाहिए। फिर वीतराग जिनोंका स्मरण करके सोतेसे जागनेपर इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए ॥३५५॥

उसे उस समय किस प्रकार चिन्तन करना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए आगेकी चार गाथाओं (३५६-३५९) द्वारा उत्तरोत्तर त्रस पर्याय आदिकी दुर्लभता प्रकट की जाती है—

प्राणियोंमें जंगमता—चलने-फिरनेमें समर्थ द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवोंकी अवस्था—उत्कृष्ट

---

१. अ अणुट्ठाणे । २. अ भोत्तूण । ३. अ तु । ४. अ यथोक्तमनुष्ठानं । ५. अ वीयरागेण । ६. अ संगहागमपइरीक्कंमि तु यदेज्जा । ७. अ सुत्तविउद्धो विचितज्जा । ८. अ प्रकृतिकृत । ९. म 'जंगमेषु' नास्ति ।

तेष्वपि च[1] पञ्चेन्द्रियेषु मानुषत्वम्, उत्कृष्टमिति वर्तते। मनुजत्वे आर्यो देश[2] उत्कृष्ट इति,

देसे कुलं पहाणं कुले पहाणे य जाइ उक्कोसा[3] ।

तीइवि रूवसमिद्धी[4] रूवे य बलं पहाणयरं ॥३५७॥

देशे आर्ये कुलं प्रधानं उग्रादि। कुले प्रधाने च जातिरुत्कृष्टा मातृसमुत्था। तस्यामपि जातौ रूपसमृद्धिरुत्कृष्टा, सकलाङ्गनिष्पत्तिरित्यर्थः। रूपे च सति बलं प्रधानतरं सामर्थ्यमिति ॥३५७॥

होइ बले वि य जीयं जीए वि पहाणयं तु[5] विन्नाणं ।

विन्नाणे सम्मत्तं सम्मत्ते सीलसंपत्ती ॥३५८॥

भवति बलेऽपि च जीवितं प्रधानतरमिति योगः। जीवितेऽपि च प्रधानतरं विज्ञानम्, विज्ञाने सम्यक्त्वम्, क्रिया पूर्ववत् सम्यक्त्वे शीलसंप्राप्तिः प्रधानतरेति ॥३५८॥

सीले खाइयभावो खाइयभावे य केवलं नाणं ।

केवलिए पडिपुन्ने[6] पत्ते परमक्खरे मुक्खो[7] ॥३५९॥

शीले क्षायिकभावः, प्रधानः क्षायिकभावे च केवलज्ञानम्, प्रतिपक्षयोजना सर्वत्र कार्येति। कैवल्ये प्रतिपूर्णे प्राप्ते परमाक्षरे मोक्ष इति ॥३५९॥

है, उन त्रस जीवोंमें भी पंचेन्द्रिय अवस्था उत्कृष्ट है, पंचेन्द्रियोंमें भी मनुष्यकी पर्याय उत्कृष्ट है, मनुष्य पर्यायमें भी आर्यदेश उत्कृष्ट है ॥३५६॥

आर्य देशमें भी कुल प्रधान है—उत्तम उग्र व इक्ष्वाकु आदि वंश उत्कृष्ट हैं, प्रधान कुलमें भी जाति—माताका वंश—उत्कृष्ट है, उत्कृष्ट जातिमें रूप समृद्धि—समस्त अवयवोंकी परिपूर्णता—उत्कृष्ट है, रूपमें बल—शारीरिक सामर्थ्य उससे उत्कृष्ट है ॥३५७॥

बलमें भी जीवित—आयुकी दीर्घता—उत्कृष्ट है, जीवितमें भी विशिष्ट ज्ञान (विवेक) प्रधान है, विशिष्ट ज्ञानमें सम्यक्त्व—यथार्थ तत्त्वश्रद्धान—प्रधान है, सम्यक्त्वके होनेपर शीलकी प्राप्ति उत्कृष्ट है ॥३५८॥

शीलकी प्राप्तिके होनेपर क्षायिक भाव प्रधान है, क्षायिक भावमें केवलज्ञान प्रधान है, परिपूर्ण व परमाक्षर—अतिशय अविनश्वर—केवल ज्ञानके होनेपर मोक्ष प्रधान है ॥३५९॥

विवेचन—यहाँ श्रावकके लिए यह प्रेरणा की गयी है कि वह सोतेसे उठकर यह विचार करे कि जीव अनादि कालसे निगोद पर्यायमें रहता है जहाँसे निकलना अतिशय दुर्लभ है। यदि किसी प्रकार वहाँसे निकलता तो वह पृथिवीकायिकादि अन्य स्थावर जीवोंमें परिभ्रमण करते हुए बड़ी कठिनाईसे त्रस पर्याय प्राप्त कर पाता है। इस त्रस पर्यायमें परिभ्रमण करते हुए उसे पंचेन्द्रिय पर्यायकी प्राप्ति दुर्लभ रहती है। यदि जिस किसी प्रकारसे पंचेन्द्रिय अवस्था भी प्राप्त हो गयी तो उसमें मनुष्य पर्याय, उसमें आर्यदेश, आर्यदेशमें उत्तम कुल, उसमें उत्तम जाति, अवयवोंकी परिपूर्णता, शरीरकी स्वस्थता, दीर्घ जीवन, विशिष्ट ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सदाचार, क्षायिक भाव तथा क्षायिक भावोंमें केवलज्ञान ये उत्तरोत्तर अतिशय दुर्लभ रहते हैं। इस प्रकारका निरन्तर विचार करते रहनेसे उसे धर्ममें अनुराग और संसारसे वैराग्य होता है जिसके आश्रयसे वह उस दुर्लभ केवलज्ञानको प्राप्त करके शीघ्र मुक्त हो सकता है ॥३५६-३५९॥

---

१. म 'च' नास्ति। २. अ आर्योपदेश। ३. अ पहाणो य जाइमुक्कोसो। ४. अ ताए रूवसमिद्धी। ५. अ 'तु' नास्ति। ६. अ पडिवन्ने। ७. अ मोक्खो।

न य संसारम्मि सुहं जाइ-जरा-मरणदुक्खगहियस्स ।
जीवस्स अत्थि जम्हा तम्हा मुक्खो उवादेओ[1] ॥३६०॥

न च संसारे सुखं जातिजरामरणदुःखगृहीतस्य ।
जीवस्यास्ति यस्मादेवं[2] तस्मान्मोक्ष उपादेयः ॥३६०॥ किंविशिष्ट इत्याह—

जच्चाइदोसरहिओ अव्वाबाहसुहसंगओ इत्थ ।
तस्साहणसामग्गी पत्ता य मए बहू इन्हिं[3] ॥३६१॥

जात्यादिदोषरहितोऽव्याबाधसुखसंगतोऽत्र संसारे[4] ।
तत्साधनसामग्री प्राप्ता च मया बह्वीदानीम् ॥३६१॥

ता इत्थ[5] जं न पत्तं तयत्थमेवुज्जमं करेमि त्ति ।
विबुहजणनिंदिएणं किं संसाराणुबंधेणं ॥३६२॥

तदत्र सामग्र्यां[6] यन्न प्राप्तं तदर्थमेवोद्यमं करोमीति ।
विबुधजननिन्दितेन किं संसारानुबन्धेन ॥
इति निगदसिद्धो गाथात्रयार्थः ॥३६२॥ इत्थं चिन्तनफलमाह—

वेरग्गं[7] कम्मक्खय विसुद्धनाणं च चरणपरिणामो ।
थिरया आउ य बोही इय[8] चिंताए गुणा हुंति ॥३६३॥

अब वह मोक्ष क्यों उपादेय है, इसका हेतु दिखलाते हैं—

जन्म, जरा और मरणके दुःखको सहते हुए प्राणीको चूँकि संसारमें सुख नहीं उपलब्ध होता, इसीलिए मोक्ष उपादेय है—प्राप्त करनेके योग्य है ॥३६०॥

आगे सांसारिक क्षणिक सुखकी अपेक्षा मोक्षसुखकी उत्कृष्टता प्रकट की जाती है—

मोक्षको प्राप्त होकर जीव वहाँ जन्म, जरा और मरणके दोषसे रहित होता हुआ निर्बाध सुखसे युक्त हो जाता है। वह (मुमुक्षु) विचार करता है कि मैंने इस समय उस मोक्ष सुखकी साधनभूत सब सामग्री—उपर्युक्त मनुष्य पर्याय, आर्यदेश, उत्तम कुल और शारीरिक बल आदि—को प्राप्त, कर लिया है ॥३६१॥

इसलिए अब मुझे क्या करना चाहिए, इसके लिए वह विचार करता है—

इसलिए जिसे मैंने अब तक प्राप्त नहीं किया है उसके लिए—अप्राप्त केवलज्ञानादिकी प्राप्तिके लिए—मैं उद्यम (प्रयत्न) करता हूँ। विद्वानोंके द्वारा निन्दित संसारके अनुबन्धसे—उसकी परम्परासे—मुझे क्या लाभ होनेवाला है ? कुछ भी नहीं, क्योंकि वह तो दुखप्रद ही रही है ॥३६२॥

इस चिन्तनसे श्रावकको क्या लाभ होनेवाला है, इसे आगे प्रकट किया जाता है—

---

१. अ मोक्खो उवाएउ । २. अ यस्मात्तस्मान्मोक्ष । ३. अ एण्हि । ४. म 'संसारे' इति कोष्ठकान्तर्गतोऽस्ति । ५. अ एत्थ । ६. अ सामग्र्यं म 'सामग्र्यां' इति कोष्ठकान्तर्गतोऽस्ति । ७. म वैरग्गं । ८. अ बोही य इय ।

इत्थं चिन्तयतो वैराग्यं भवत्यनुभवसिद्धमेवैतत् । तथा कर्मक्षयः तत्त्वचिन्तनेन, प्रतिपक्षत्वात् । विशुद्धज्ञानं च, निबन्धनहानेः । चरणपरिणामः, प्रशस्ताध्यवसायत्वात् । स्थिरता धर्मे, प्रतिपक्षासारदर्शनात् । आयुरिति कदाचित्परभवायुष्कबन्धस्ततस्तच्छुभत्वात्सर्वं कल्याणम् । बोधिरित्थं तत्त्वभावनाभ्यासादेवं चिन्तायां क्रियमाणायां गुणा भवन्त्येवं चिन्तया वेति ॥३६३॥

गोसम्मि पुव्वभणिओ नवकारेणं विबोहमाईओ ।
इत्थ विही गमणम्मि य समासओ संपवक्खामि ॥३६४॥

गोसे प्रत्यूषसि[1] पूर्वभणितो नमस्कारेण विबोधादिः ।
अत्र विधिः (इति[2]) गमने च समासतः संप्रवक्ष्यामि ॥
विधिमिति ॥३६४॥

अहिगरणखामणं खलु चेइय-साहूण वंदणं चेव ।
संदेसम्मि विभासा जइ-गिहि-गुण-दोसविक्खाए ॥३६५॥

अधिकरणक्षामणं खलु माभूत्तत्र मरणादौ वैरानुबन्ध इति । तथा चैत्य-साधूनामेव च वन्दनं नियमतः कुर्यात्, गुणदर्शनात् । संदेशे विभाषा यति-गृहिगुण-दोषापेक्षयेति । यतेः संदेशको नीयते, न सावद्यो गृहस्थस्य इति ॥३६५॥

चैत्य-साधूनां वन्दनं चेति यदुक्तं तद्विस्फारयति—

साहूण सावगाण य सामायारी विहारकालंमि ।
जत्थत्थि चेइयाइं वंदावंतो[3] तहिं संघं ॥३६६॥

वैराग्य, कर्मोंका क्षय, निर्मल ज्ञान, चारित्रकी ओर परिणति, धर्ममें स्थिरता, आयु—परभविक शुभ आयुका बन्ध और रत्नत्रय बोधिकी प्राप्ति ये उसके गुण हैं—उस चिन्तनसे होनेवाला यह एक बड़ा भारी लाभ है ॥३६३॥

आगे पूर्वप्ररूपित प्रातःकालीन विधिकी ओर संकेत करते हुए संक्षेपमें गमनविषयक विधिके निरूपणकी प्रतिज्ञा करते हैं—

प्रातःकालमें पंचनमस्कारमन्त्रके उच्चारणके साथ उठते हुए जो क्रिया की जानी चाहिए उसका निरूपण किया जा चुका है । अब यहाँ संक्षेपसे अन्यत्र जानेसे सम्बन्धित विधिका कथन करता हूँ ॥३६४॥

अब अन्यत्र जाते समय प्रारम्भमें क्या करे, इसका निर्देश किया जाता है—

अन्यत्र जाते समय मरणके समय वैरकी परम्परा न चले, इस उद्देश्यसे जिनके साथ वैर-विरोध रहा है उनसे क्षमा करे-करावे तथा चैत्य व साधुओंकी वन्दना भी करना चाहिए । यति और गृहस्थके गुण-दोषकी अपेक्षा सन्देशके विषयमें विकल्प है—यतिका सन्देश निर्दोष होनेसे ले जानेके योग्य है, किन्तु गृहस्थका वह सदोष होनेसे ले जानेके योग्य नहीं है ॥३६५॥

आगे चैत्य व साधुओंकी वन्दनाके विषयमें जो पूर्वमें निर्देश किया गया है उसका स्पष्टीकरण अगली चार (३६६–३६९) गाथाओं द्वारा किया जाता है—

---

१. अ म गोसे (प्रत्युषसि) । २. अ विधि धरिति । ३. अ वंदावितं ।

साधूनां श्रावकाणां चोपलक्षणत्वादार्याणाम्। सामाचारी व्यवस्था। कदा ? विहरणकाले विहरणसमये। किंविशिष्टेत्याह् यत्र स्थाने सन्ति चैत्यानि वन्दयन्ति तत्र संघं चतुर्विधमपि प्रणिधानं कृत्वा स्वयमेव वन्दत इति ॥३६६॥

पढमं तओ य पच्छा वंदंति सयं सिया ण वेल त्ति ।
पठमं चिय पणिहाणं करंति संघंमि उवउत्ता ॥३६७॥

प्रथममिति पूर्वमेव सङ्घं वन्दयन्ति[2]। ततः पश्चात्सङ्घवन्दनोत्तरकालम्। वन्दन्ते[3] स्वयमात्मना आत्मनिमित्तमिति। स्यान्न वेलेति स्तेनादिभय-सार्थगमनादौ तत्रापि प्रथममेव वन्दने प्रणिधानं कुर्वन्ति संघविषयमुपयुक्ताः संघं प्रत्येतद्वन्दनं संघोऽयं वन्दत इति ॥३६७॥

पच्छा कयपणिहाणा विहरंता साहुमाइ दट्ठूण ।
जंपंति अमुगठाणे देवे वंदाविया तुब्भे ॥३६८॥

पश्चात्तदुत्तरकालम्। कृतप्रणिधानाः सन्तस्तदर्थस्य संपादितत्वाद्विहरन्तः सन्तः साध्वादीन् दृष्ट्वा साधुं साध्वीं श्रावकं श्राविकां वा। जल्पन्ति व्यक्तं च भणन्ति। किम् ? अमुकस्थाने मथुरादौ। देवान् वन्दिता[4] यूयमिति ॥३६८॥

ते वि य कयंजलिउडा सद्धा-संवेगपुलइयसरीरा ।
अवणामिउत्तमंगा तं बहु मन्नंति सुहझाणा ॥३६९॥

तेऽपि च साध्वादयः। कृताञ्जलिपुटा रचितकरपुटाञ्जलयः। श्रद्धा-संवेगपुलकितशरीराः श्रद्धाप्रधानसंवेगतो रोमाञ्चितवपुषोऽवनामितोत्तमाङ्गाः सन्तस्तद्वन्दनं बहु मन्यन्ते शुभध्यानाः प्रशस्ताध्यवसाया इति ॥३६९॥

उभयोः फलमाह—

विहारके समयमें साधुओं और श्रावकोंकी सामाचारी—विधिव्यवस्था—यह है कि जहाँ चैत्य हों वहाँ संघको वन्दना कराते हैं ॥३६६॥ किस क्रमसे वन्दना करे-करावे—

प्रथमतः संघको वन्दना कराते हैं और तत्पश्चात् स्वयं वन्दना करते हैं। यदि समय न हो—चोर आदिका भय हो अथवा सार्थ (संघ) जा रहा हो—तो उपयोग युक्त होकर संघके विषयमें प्रथम ही प्रणिधान करते हैं—यह संघ वन्दना कर रहा है, ऐसा अन्तःकरणमें विचार करते हैं ॥३६७॥

पश्चात् प्रणिधान करके—उधर ध्यान देते हुए साधु आदि—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—को देखकर यह कहे कि अमुक (मथुरा) स्थानमें तुम्हें देवोंकी वन्दना करायी गयी है ॥३६८॥ तब—

वे भी हाथोंको जोड़कर श्रद्धा और संवेगसे रोमांचित शरीरसे संयुक्त होते हुए मस्तकको नमाते हैं और प्रशस्त ध्यानसे युक्त होकर उस वन्दनाको बहुत मानते हैं ॥३६९॥

आगे वन्दनाके निवेदक और तदनुसार उसमें उपयोग लगानेवाले दोनोंको उससे जो फल प्राप्त होता है उसका निर्देश किया जाता है—

१. अ वंदयत। २. अ वंदयति ततः संघ। ३. अ वंदंते। ४. अ देवा वंदता।

तेसिं पणिहाणाओ इयरेसिं पि य सुभाउ झाणाओ ।
पुन्नं जिणेहिं भणियं नो संकमउ त्ति ते मेरा ॥३७०॥

तेषामाद्यानां वन्दननिवेदकानाम् । प्रणिधानात्तथाविधकुशलचित्तात् । इतरेषामपि च वन्द्यमानानाम् । शुभध्यानात्तच्छ्रवणप्रवृत्त्या । पुण्यं जिनैर्भणितं अर्हद्भिरुक्तम् । न च संक्रमत इति न निवेदकपुण्यं निवेद्यसंक्रमेण यतश्चैवमतो मर्यादेयमवश्यं कार्येति ॥३७०॥

विपर्यये दोषमाह—

जे पुण्ऽकयपणिहाणा वंदित्ता नेव वा निवेयंति ।
पच्चक्खमुसावाई पावा हु[१] जिणेहिं ते भणिया ॥३७१॥

ये पुनरनाभोगादितो अकृतप्रणिधानाः । वन्दित्वा, नैव वा वन्दित्वा निवेदयन्ति अमुकस्थाने देवान् वन्दिता यूयमिति । प्रत्यक्षमृषावादिनोऽकृतनिवेदनात् । पापा एव जिनैस्ते भणिता मृषावादित्वादेवेति ॥३७१॥

जे वि य कयंजलिउडा सद्धा-संवेगपुलइयसरीरा ।
बहु मन्नंति न सम्मं वंदणगं ते वि पाव त्ति ॥३७२॥

येऽपि च साध्वादयो निवेदिते सति कृताञ्जलिपुटाः श्रद्धासंवेगपुलकितशरीरा इति पूर्ववच्च बहु मन्यन्ते न सम्यक् वन्दनकं कुर्वन्ति । तेऽपि पापाः, गुणवति[२] स्थानेऽवज्ञाकरणादिति ॥३७२॥

क्वचिद्वेलाभावेऽपि विधिमाह—

जइ वि न वंदणवेला तेणाइमएण चेइए तहवि ।
दट्ठूणं पणिहाणं नवकारेणावि संघंमि ॥३७३॥

वन्दनाके उन निवेदकोंको तो वन्दना विषयक चित्तकी एकाग्रतासे तथा दूसरोंको—उनके निवेदनसे उक्त वन्दनामें उपयोग लगानेवालोंको—उस वन्दनाविषयक उत्तम ध्यानसे पुण्यका लाभ होता है, ऐसा जिनेन्द्रके द्वारा कहा गया है। परन्तु एकका पुण्य दूसरेमें संक्रान्त नहीं होता है—निवेदकका पुण्य निवेद्यकोंको नहीं प्राप्त हो सकता है, इसलिए उक्त मर्यादाका पालन अवश्य करना चाहिए ॥३७०॥

आगे इसके विपरीत आचरण करनेपर होनेवाले दोषको दिखलाते हैं—

परन्तु जो चित्तकी एकाग्रताके विना वन्दना करके अथवा नहीं भी करके 'अमुक स्थानमें तुम्हें देवोंकी वन्दना करायी गयी है' ऐसा निवेदन करते हैं उन्हें जिन भगवान्ने प्रत्यक्षमें असत्य-भाषी और पापी कहा है ॥३७१॥

आगे निवेद्यमान भी यदि वन्दनाका बहुमान नहीं करते हैं तो वे भी पापी हैं, यह निर्देश किया जाता है—

उपर्युक्त निवेदन करनेपर जो साधु-साध्वी आदि हाथ जोड़कर श्रद्धा और संवेगसे रोमांचित शरीरसे युक्त होते हुए उस वन्दनाके प्रति भलीभाँति आदर व्यक्त नहीं करते हैं वे भी पापी होते हैं ॥३७२॥

समय न रहनेपर क्या करना चाहिए, इसे आगे व्यक्त किया जाता है—

---

१. अ खु । २. अ गुणवस्थानेवज्ञाकरणा (अतोऽग्रेऽग्रिमगाथागत 'नवकारेणा' पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति) ।

यद्यपि क्वचिच्छून्यादौ न वन्दनवेला स्तेन-श्वापदादिभयेषु चैत्यानि तथापि दृष्ट्वा अवलोकननिबन्धनमपि प्रणिधानं नमस्कारेणापि संघ इति[1] संघविषयं कार्यमिति ॥३७३॥

तंमि य कए समाणे[2] वंदावणगं निवेइयव्वं[3] ति।
तयभावंमि पमादा[4] दोसो भणिओ जिणिंदेहिं[5] ॥३७४॥

तस्मिन्नपि एवंभूते प्रणिधाने कृते सति। वन्दनं निवेदयितव्यमेव[6], वस्तुतः संपादितत्वात्। तदभावे तथाविधप्रणिधानाकरणे। प्रमादाद्धेतोर्दोषो भणितो जिनेन्द्रैर्विभागायातशक्यकुशलाप्रवृत्तेरिति ॥३७४॥

उपसंहरन्नाह—

एयं सामायारिं नाऊण विहीइ जे पउंजंति।
ते हुंति इत्थ कुसला सेसा सव्वे अकुसला उ ॥३७५॥

एतामनन्तरोदिताम्। सामाचारीं व्यवस्थाम्। ज्ञात्वा विधिना ये प्रयुंजते, यथावद्धे कुर्वन्तीत्यर्थः। ते भवन्त्यत्र विहरणविधौ कुशलाः, शेषा अकुशला एवानिपुणा एव। न चेयमयुक्ता, संविष्टवन्दनकथन-तीर्थस्नपनप्रदर्शनादिति ॥३७५॥

श्रावकस्यैव विधिशेषमाह—

अन्ने अभिग्गहा खलु निरईयारेण हुंति कायव्वा।
पडिमादओ वि य तहा विसेसकरणिज्जजोगाओ ॥३७६॥

अन्ये चाभिग्रहाः खलु अनेकरूपा लोचकृत-घृतप्रदानादयः। निरतिचारेण सम्यक् भवन्ति कर्तव्या आसेवनीया इति। प्रतिमादयोऽपि च तथा बोधकरणीययोगा इति—प्रतिमा दर्शनादिरूपा, यथोक्तम्—दंसणवयेत्यादि। आदिशब्दादनित्यादिभावनापरिग्रह इति[7] ॥३७६॥

यदि कहीं चोर आदिके भयसे वन्दनाके लिए समय नहीं है तो भी चैत्योंको देखकर नमस्कारके साथ संघके विषयमें प्रणिधान करना चाहिए—उस ओर नमस्कार करते हुए चित्तको एकाग्र करना चाहिए ॥३७३॥

इस वन्दनाका निवेदन भी करना चाहिए, अन्यथा दोषका भागी होता है, यह आगे निर्दिष्ट किया जाता है—

उक्त प्रकार नमस्कार पूर्वक प्रणिधानके कर चुकनेपर वन्दना विषयक निवेदन करना चाहिए, क्योंकि ऐसा न करनेपर जिनेन्द्रके द्वारा प्रमाद जन्य दोष निर्दिष्ट किया गया है ॥३७४॥

अब इस प्रसंगका उपसंहार किया जाता है—

इस सामाचारीको जानकर जो विधिपूर्वक उसका प्रयोग करते हैं वे उक्त विहारकी विधिमें कुशल (निपुण) होते हैं, इसके विपरीत शेष सबको अकुशल समझना चाहिए ॥३७५॥

आगे श्रावकका अन्य करणीय कार्यकी ओर भी ध्यान दिलाया जाता है—

अन्य भी जो लोच व घृतप्रदान आदि अभिग्रह हैं उन्हें भी निरतिचार करना चाहिए। तथा विशेष करणीय कार्यसे सम्बद्ध होनेके कारण दर्शन व व्रत आदि ग्यारह प्रतिमाओं आदिका भी निर्दोष रीतिसे पालन करना चाहिए ॥३७६॥

---

१. अ 'संघ इति' नास्ति। २. अ तंमि वि कए समाणा। ३. अ णवेदयव्वं। ४. अ पमाया। ५. अ जिणंदेहि। ६. अ नवेदयितव्यमेव। ७. अ शब्दादिनित्यत्वादिभावना।

एवं च विहरिऊणं दिक्खाभावंमि चरणमोहाओ ।
पत्तंमि चरमकाले करिज्ज कालं अहाकमसो[1] ॥३७७॥

एवं यथोक्तविधिना। विहृत्य नियतानियतेषु क्षेत्रेषु कालं नीत्वा। दीक्षाभाव इति प्रव्रज्याभावे सति। चरणमोहादिति चारित्रमोहनीयात्कर्मणः। प्राप्ते चरमकाले क्षीणप्राये आयुषि सतीत्यर्थः। कुर्यात्कालं यथाक्रमशो यथाक्रमेण परिकर्मादिनेति ॥३७७॥

भणिया अपच्छिमा मारणंतिया वीयरागदोसेहिं ।
संलेहणाझोसणमो[2] आराहणयं पवक्खामि ॥३७८॥

भणिता चोक्ता च। केर्वीत-रागद्वेषैरर्हद्भिरिति योगः। का? अपच्छिमा मारणान्तिकी संलेखनाजोषणाराधनेति। पश्चिमैवानिष्टाशयपरिहारायापश्चिमा[3]। मरणं प्राणपरित्यागलक्षणम्। इह यद्यपि प्रतिक्षणमावीचीमरणमस्ति, तथापि न तद्गृह्यते। किं तर्हि? सर्वायुष्कक्षयलक्षणमिति। मरणमेवान्तो मरणान्तः, तत्र भवा मारणान्तिकी बहुच[4] इति ठञ्। संलिख्यतेऽनया शरीर-कषायादीति संलेखना तपोविशेषलक्षणा, तस्या जोषणं सेवनम्। मो इति निपातस्तत्कालश्लाघ्यत्वप्रदर्शनार्थः। तस्या आराधना अखण्डना, कालस्य करणमित्यर्थः[5]। तां प्रवक्ष्यामीति। एत्थ सामायारी—आसेवियगिहिधम्मेण किल सावगेण पच्छा णिक्कमियव्वं। एवं सावगधम्मो उज्जमिओ होइ। ण सक्कइ ताहे भत्तपच्चक्खाणकाले संथारगसमणेण होयव्वं ति, ण सक्कइ ताहे अणसणं कायव्वंति विभासा ॥३७८॥

अत्राह—

आगे संलेखनाकी ओर ध्यान दिलाया जाता है—

इस प्रकारसे विहार करके—नियत व अनियत क्षेत्रोंकी यात्रा करके—चारित्र मोहका उदय रहनेसे दीक्षाके अभावमें अन्त समय (मरण) के प्राप्त होनेपर यथाक्रमसे—आगे कही जानेवाली विधिके अनुसार कालको करना चाहिए—मरणको प्राप्त होना चाहिए ॥३७७॥

अब उस संलेखनाके कथनकी प्रतिज्ञा की जाती है—

राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त अरहन्त भगवान्‌के द्वारा मरण समयमें होनेवाली जिस अन्तिम संल्लेखनाका निर्देश किया गया है उसके सेवन व आराधनाकी विधि कही जाती है।

विवेचन—उक्त प्रकारसे बारह व्रतों एवं प्रतिमाओं आदिका पालन करके श्रावकको अन्तमें मुनिदीक्षाको स्वीकार करना चाहिए। परन्तु यदि चारित्र मोहनीयका उदय रहनेसे वह दीक्षाको ग्रहण नहीं कर सकता है तो फिर मरण समयके उपस्थित होनेपर उसे संस्तारक श्रमण हो जाना चाहिए। पर यदि यह शक्य नहीं है तो संलेखनाका अनुष्ठान करते हुए उत्तरोत्तर क्रमसे चार प्रकारके आहारका परित्याग करना चाहिए। संलेखना एक प्रकारका वह तप है जिसके आश्रयसे शरीर, कषाय और आहार आदिको उत्तरोत्तर कृश किया जाता है। उक्त शरीर व कषाय आदिके संल्लेखन—यथाविधि कृशीकरण—का नाम ही संलेखा है। इसका निरूपण ग्रन्थकार आगे कर रहे हैं ॥३७८॥

श्रावक क्या करता है—

---

१. अ °कमसं। २. अ संलेहणसोसणमो। ३. अ पश्चमैवानिष्टशब्दपरि°। ४. अ बहुहृइ षट्। ५. अ श्लाघ्यत्वदर्शनास्तस्याराधनः खंडना।

काऊण विगिट्ठतवं जहासमाहीइ वियडणं दाउं ।
उज्जालियं अणुव्वय ति-चउद्धाहारवोसिरणं ॥३७९॥

कृत्वा विकृष्टतपः षष्ठाष्टमादि यथासमाधिना शुभपरिणामपातविरहेण । तथा विकट-नामालोचनां दत्वा उज्ज्वाल्य पुनःप्रतिपत्त्या निर्मलतराणि कृत्वा । अणुव्रतानि प्रसिद्धानि । अणुव्रतग्रहणं गुणव्रताद्युपलक्षणमिति । त्रिविध-चतुर्विधाहारव्युत्सर्जनमिति कदाचित्त्रिविधाहार-परित्यागं करोति, कदाचिच्चतुर्विधाहारमिति ॥३७९॥

अत्र प्रागुक्तमेव लेशतः सम्यगनवगच्छन्नाह—

चरमावत्थाए[1] तहा सव्वारंभकिरियानिवित्तीए[2] ।
पव्वज्जा चेव तओ न पवज्जइ[3] केण कज्जेण ॥३८०॥

चरमावस्थायां मरणावस्थायामित्यर्थः । तथा तेन प्रकारेणाहारपरित्यागादिनापि सर्वारम्भ-क्रियानिवृत्तेः कारणात् । प्रव्रज्यामेवासौ श्रावको न प्रतिपद्यते । केन कार्येण केन हेतुना ॥३८०॥

इत्यत्रोच्यते—

चरणपरिणामविरहा नारंभादप्पवित्तिमित्तो सो ।
तज्जुत्तुवसग्गसहाण जं न भणिओ तिरिक्खाणं ॥३८१॥

चरणपरिणामविरहादित्युक्तमेव,[4] स एव तथानिवृत्तस्य किं न भवतीत्याशङ्क्याह—नारम्भाद्यप्रवृत्तिमात्रोऽसौ चरणपरिणाम इति । कुतः? तद्युक्तोपसर्गसहानां[5] यस्य भणितस्तिरश्चा-मिति । तथाहि—आरम्भाद्यप्रवृत्तियुक्तानामपि पिपीलिकाद्युपसर्गसहानां चण्डकौशिकादीनां न चारित्रपरिणामः । अतोऽयमन्य एवात्यन्तप्रशस्तोऽचिन्त्यचिन्तामणिकल्प इति ॥३८१॥

वह दो-तीन आदि उपवास रूप विकृष्ट तपको करता है, समाधिके अनुसार—चित्तकी एकाग्रतापूर्वक—विकरण (आलोचना) देकर अणुव्रतोंको उज्ज्वल करता है व तीन अथवा चारों प्रकारके आहारका परित्याग करता है । अणुव्रतोंके ग्रहणसे यहाँ गुणव्रतों व शिक्षापदोंका भी ग्रहण कर लिया गया समझना चाहिए ॥३७९॥

उक्त परिस्थितिमें शंकाकार कहता है—

इसके अतिरिक्त वह मरणके समयमें समस्त आरम्भकार्यका परित्याग भी करता है । तब ऐसी स्थितिमें वह दीक्षाको ही किस कारणसे स्वीकार नहीं करता है? शंकाकारका अभिप्राय यह है कि श्रावक जब इतना सब कुछ मुनिके समान ही करता है तब दीक्षा ग्रहण करके मुनिधर्म-को ही स्वीकार कर लेना चाहिए ॥३८०॥

आगे इस शंकाका समाधान किया जाता है—

उक्त शंकाके उत्तरमें यहाँ यह कहा जा रहा है कि चारित्रका परिणाम न होनेसे श्रावक उपर्युक्त कठोर अनुष्ठानको करता हुआ भी दीक्षाको स्वीकार नहीं करता है । कारण इसका यह है कि आरम्भ आदिमें प्रवृत्त न होने मात्रको वह चारित्र परिणाम नहीं कहा जा सकता । यही कारण है जो आरम्भ आदिमें न प्रवृत्त रहकर उपसर्गके सहनेवाले तिर्यंचोंके वह चारित्र परिणाम नहीं कहा गया । अभिप्राय यह है कि यदि आरम्भ आदिसे निवृत्त होना ही चारित्र

---

१. म °वत्थाइ । २. अ णिवित्तीउ । ३. अ पव्वज्जं । ४. °दिति उक्तम्मेव । ५. अ इति कुतस्वद्युपसर्ग° ।

पुनरपि केषांचिन्मतमाशंक्यते—

केई भणंति एसा संलेहणा मो दुवालसविहंमि ।
भणिया गिहत्थधम्मे न जओ तो संजए तीए ॥३८२॥

केचनागीतार्था भणन्ति—एषा अनन्तरोदिता संलेखना। द्वादशविधे पंचाणुव्रतादिरूपे भणिता गृहस्थधर्मे श्रावकधर्म इत्यर्थः, न यतस्ततस्तस्मात्कारणात्संयतः प्रव्रजित एव तस्यामिति ॥३८२॥

अत्रोच्यते न भणितेत्यसिद्धम्—

भणिया तयणंतरमो जीवंतस्सेस बारसविहो उ ।
एसा य चरमकाले इत्तरिया चेव ता ण पुढो ॥३८३॥

भणिता तदनन्तरमेव द्वादशविधश्रावकधर्मानन्तरमेव तन्मध्य एवाभणने कारणमाह—जीवत एष[1] द्वादशविधः प्रदीर्घकालपरिपालनीयः। एषा संलेखना। चरमकाले क्षीणप्राये आयुषि सति क्रियते। इत्वरा चेयमल्पकालावस्थायिनी। यस्मादेवं तस्मान्न पृथगियं श्रावकधर्मादिति ॥३८३॥

उपपत्त्यन्तरमाह—

जं चाइयारसुत्तं समणोवासगपुरस्सरं भणियं ।
तम्हा न इमीइ जई परिणामा चेव अवि य गिही ॥३८४॥

यच्च यस्माच्च। अतिचारसूत्रमस्याः। श्रमणोपासकपुरःसरं भणितमागमे। तच्चेदम्—इमीए समणोवासएणं इमे पंचइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा। इहलोगासंसप्प-

---

होता तो वह चीटियों आदिके उपद्रवको सहनेवाले चण्डकौशिक सर्प आदि तिर्यंचोंके भी हो सकता था। परन्तु आगममें उनके वह चारित्रपरिणाम नहीं कहा गया। इससे यह निश्चित है कि चारित्रमोहनीयका अनुदय होनेपर जब कोई उक्त आरम्भ आदिसे निवृत्त होता है तभी उसके वह चारित्रपरिणाम होता है ॥३८१॥

अब यहाँ आशंकाके रूपमें किन्हीं दूसरोंके अभिप्रायको प्रकट करते हैं—

आगमके रहस्यको न समझनेवाले कितने ही वादी यह कहते हैं कि इस संलेखनाको चूँकि बारह प्रकारके गृहस्थधर्ममें नहीं कहा गया है, इसीलिए उसमें संयतको अधिकृत समझना चाहिए, अर्थात् उसका आराधक संयत होता है, न कि गृहस्थ ॥३८२॥

आगे उस शंकाका समाधान किया जाता है—

वह संलेखना उस बारह प्रकारके गृहस्थधर्मके अनन्तर ही कही गयी है। उसके मध्यमें न कहनेका कारण यह है कि वह बारह प्रकारका गृहस्थधर्म जीवित रहते हुए गृहस्थके होता है व उसका परिपालन दीर्घकाल तक किया जाता है जबकि यह संलेखना अन्तिम समयमें—आयुके कुछ ही शेष रहनेपर—होती है वह आराधन उसका कुछ थोड़े समय किया जाता है, इसीलिए वह उस गृहस्थधर्मसे पृथक् नहीं—उसीके अन्तर्गत है, न कि मुनिधर्मके अन्तर्गत ॥३८३॥

आगे उसके लिए दूसरी भी युक्ति दी जाती है—

इसके अतिरिक्त चूँकि उस सल्लेखनाके अतिचारों विषयक सूत्र ('इमीए समणोवासएणं'

---

१. अ 'ए' इत्यतोऽग्रेऽग्रिम 'चेयमल्पका°' पर्यन्तः पाठः स्खलितोऽस्ति ।

भोगेष्वपि—तस्मान्नास्यां संलेखनायां यतिरसौ श्रावकः, अपि च गृहीति संबन्धः। किं तु श्रावक एवेत्यर्थः। कुत इत्याह—परिणामादेव तस्यामपि देशविरतिपरिणामसंभवादनशनप्रतिपत्तावपो-षन्ममत्वाशरित्यागोपलब्धेः सर्वविरतिपरिणामस्य दुरापत्वात्सति तु तस्मिन् स्यात् यतिरिति। सूत्रान्तरतश्च, यत उक्तं सूत्रकृतांगे[1] इत्यादीति ॥३८४॥

इयमपि चातिचाररहिता सम्यक्पालनीयेति तानाह—

इह-परलोगासंसप्पओग तह जीय-मरण-भोगेसु।
वज्जिज्जा भाविज्ज य असुहं संसारपरिणामं[2] ॥३८५॥

इह लोको मनुष्यलोकः तस्मिन्नाशंसाभिलाषः तस्याः प्रयोग इति समासः, श्रेष्ठी स्याम-मात्यो वेति।१। एवं परलोकाशंसाप्रयोगः। परलोको देवलोकः[3]।२। एवं जीविताशंसाप्रयोगः—जीवितं प्राणधारणं तत्राभिलाषप्रयोगः "यदि बहुकालं जीवेयम्" इति। इयं च वस्त्र-माल्य-पुस्तक-वाचनादिपूजादर्शनाद्बहुपरिवारदर्शनाच्च लोकश्लाघाश्रवणाच्चैवं मन्यते "जीवितमेव श्रेयः प्रत्या-ख्याताशनस्यापि, यत एवंविधा मदुद्देशेनेयं विभूतिर्वर्तते"।३। मरणाशंसाप्रयोगः—न कश्चित्तं प्रतिपन्नानशनं गवेषते, न सपर्यायामाद्रियते, न कश्चिच्छ्लाघते, ततस्तस्यैवंविधचित्तपरिणामो भवति यदि शीघ्रं म्रियेऽहम् अपुण्यकर्मेति मरणाशंसा।४। कामभोगाशंसाप्रयोगः—जन्मान्तरे

इमे पंच अइयारा' इत्यादि) उस श्रावकका निर्देश करते हुए उसके ही आश्रयसे कहा गया है, इसलिए उसमें प्रवृत्त गृहस्थ परिणामसे यति नहीं होता, किन्तु गृहस्थ ही रहता है।

विवेचन—दूसरी युक्ति यहाँ यह दी गयी है कि आगममें संलेखनाके अतिचारों विषयक सूत्रका निर्देश करते हुए उसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि श्रमणोंके उपासक श्रावकको इहलोका-शंसाप्रयोग आदि संलेखनाके पाँच अतिचारोंको जानना चाहिए व उनका आचरण नहीं करना चाहिए—उनका परित्याग करना चाहिए। इससे सिद्ध है कि संलेखनाका आराधक श्रावक श्रावक ही रहता है, मुनि नहीं होता। इसका कारण यह है कि संलेखनामें अधिष्ठित श्रावकके परिणाम अनशनादिको स्वीकार करनेपर भी देशविरतिरूप ही रहते हैं, न कि सर्वविरतिरूप, क्योंकि वह कुछ अंशमें ममत्व परिणामको नहीं छोड़ पाता है ॥३८४॥

अब उसके अतिचारोंका निर्देश करते हुए उनके छोड़ देनेकी प्रेरणा की जाती है—

इहलोकाशंसाप्रयोग, परलोकाशंसाप्रयोग, जीविताशंसाप्रयोग, मरणाशंसाप्रयोग और भोगाशंसा प्रयोग ये पाँच संलेखनाके अतिचार हैं। उनका परित्याग करके अशुभ संसारपरिणाम—जन्म-मरणादिस्वरूप संसारके स्वभाव—का चिन्तन करना चाहिए।

विवेचन—(१) इहलोकसे यहाँ मनुष्यलोक विवक्षित है, उसमें 'मैं सेठ हो जाऊँ या अमात्य हो जाऊँ' इस प्रकारकी अभिलाषामें प्रवृत्त होना, इसका नाम इहलोकाशंसाप्रयोग है। (२) इसी प्रकारसे परलोकके विषयमें 'मैं अगले जन्ममें देव हो जाऊँ' इस प्रकारकी अभिलाषा रखना, इसका नाम परलोकाशंसा प्रयोग है। (३) संलेखनामें अधिष्ठित होनेपर वस्त्र, माला और पुस्तक-वाचन आदि रूप पूजाको देखकर, बहुतसे परिवारको देखकर तथा लोगोंके द्वारा की जानेवाली प्रशंसाको सुनकर यह सोचना कि भोजनका परित्याग कर देनेपर भी बहुत समय तक जीवित रहना श्रेयस्कर है, क्योंकि मेरे उद्देशसे यह विभूति वर्तमान है, इस प्रकारके विचारको जीविता-शंसा कहा जाता है। (४) अनशनके स्वीकार करनेपर भी जब कोई उसको नहीं खोजता है, न

१. अ सूत्रांगे। २. अ वज्जेज्जा भावेज्ज य असुभं परिणामं। ३. अ °लोको°। ४. अ लोका एवं।

चक्रवर्ती स्याम्, वासुदेवो महामण्डलिकः सुभगो रूपवानित्यादि। एतद्वर्जयेद्भावयेच्चाशुभं जन्मपरिणामादिरूपं संसारपरिणाममिति ।५॥३८५॥ तथा—

जिणभासियधम्मगुणे अव्वाबाहं च तप्फलं परमं।
एवं उ भावणाओ जायइ पिच्चा[1] वि बोहि त्ति ॥३८६॥

जिनभाषितधर्मगुणानिति क्षान्त्यादिगुणान् भावयेदव्याबाधं च मोक्षसुखं च तत्फलं क्षान्त्यादिकार्यं परमं प्रधानं भावयेत् एवमेव भावनातः[2] चेतोऽभ्यासातिशयेन जायते प्रेत्यापि जन्मान्तरेऽपि बोधिधर्मप्राप्तिरिति ॥३८६॥

कुसुमेहि वासियाणं तिलाण तिल्लं पि जायइ सुयंधं।
एतोवमा हु बोही पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥३८७॥

कुसुमैर्मालतीकुसुमादिभिर्वासितानां भावितानां तिलानां तैलमपि जायते सुगन्धि तद्गन्धवदित्यर्थः। एतदुपमैव बोधिरिति—अनेनोक्तप्रकारेणोपमा यस्याः सा तथा प्रज्ञप्ता वीतरागैरर्हद्भिरिति ॥३८७॥

कुसुमसमा अब्भासा जिणधम्मस्सेह हुंति नायव्वा।
तिलतुल्ला पुण जीवा तिल्लसमो पिच्च[3] तब्भावो ॥३८८॥

कुसुमसमाः कुसुमतुल्या अभ्यासा जिनधर्मस्य क्षान्त्यादेरिह जन्मनि भवन्ति ज्ञातव्याः तिलतुल्याः पुनर्जीवाः, भाव्यमानत्वात्। तैलसमः प्रेत्य तद्भावो जन्मान्तरे बोधिभाव इति ॥३८८॥

पूजाके द्वारा आदर व्यक्त करता है, और न प्रशंसा करता है; तब मनमें जो यह विचार उत्पन्न होता है कि 'मैं अभागा यदि शीघ्र मर जाऊँ तो अच्छा है' इसका नाम मरणाशंसा है। (५) पर भवमें मैं चक्रवर्ती, वासुदेव, महामाण्डलिक और सुन्दर होऊँ, इत्यादि प्रकारका जो विचार किया जाता है, इसे भोगाशंसा प्रयोग कहते हैं। ये संलेखनाको मलिन करनेवाले उसके ये पाँच अतिचार हैं, उनका सदा परित्याग करना चाहिए ॥३८५॥

आगे जिनोपदिष्ट धर्मके गुणोंके चिन्तनसे क्या लाभ होता है, इसे दिखलाते हैं—

जिन भगवान्‌के द्वारा प्ररूपित धर्मके गुणों और उसके फलस्वरूप बाधारहित उत्कृष्ट मोक्षसुखका चिन्तन करना चाहिए, इस प्रकारकी भावनासे अगले भवमें बोधि—रत्नत्रय स्वरूप धर्मका लाभ होता है ॥३८६॥

आगे इसके लिए तिलतेलकी उपमा दी जाती है—

सुगन्धित मालती आदिके फूलोंसे सुवासित तिलोंका तेल भी सुगन्धित होता है, वीतराग भगवान्‌के उक्त बोधिको इस उपमासे युक्त कहा गया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सुगन्धित फूलोंसे सुसंस्कृत तिलके दानोंका तेल भी सुगन्धित हुआ करता है उसी प्रकार रत्नत्रय स्वरूप धर्मके चिन्तनसे—इस भवमें आत्माको उससे सुसंस्कृत करनेसे—पर भवमें भी उस रत्नत्रय स्वरूप धर्म या बोधिका लाभ होता है ॥३८७॥

आगे इस उपमाको उपमेयसे योजित किया जाता है—

उपर्युक्त उपमामें इस जन्ममें किये गये जिनधर्मके अभ्यासको फूलोंके समान, जीवोंको तिलोंके समान और परलोकमें उस बोधिके लाभको तेलके समान जानना चाहिए ॥३८८॥

---

१. अ जायए पच्चा। २. अ भावनातो भ्यां। ३. अ तेल्लसमो पेच्च।

बोधिफलमाह—

इय अप्परिवडियगुणाणुभावओ बंधहासभावाओ ।
पुव्विल्लस्स य खयओ सासयसुक्खो धुव्वो मुक्खो ॥३८९॥

एवमुक्तेन प्रकारेण । अप्रतिपतितगुणानुभावतः सततसमवस्थितगुणसामर्थ्येन । बन्धह्रासात् प्रायो बन्धाभावादित्यर्थः । प्राक्तनस्य च बन्धस्य क्षयात्तेनैव सामर्थ्येन । एवमुभयथा बन्धाभावे शाश्वतसौख्यो ध्रुवो मोक्षोऽवश्यंभावीति ॥३८९॥

एतदेव सूत्रान्तरेण भावयन्नाह—

सम्मत्तंमि य लद्धे पलियपहुत्तेण सावओ हुज्जा ।
चरणोवसम-खयाणं सागरसंखंतरा हुंति ॥३९०॥

सम्यक्त्वे च लब्धे तत्त्वतः पल्योपमपृथक्त्वेन श्रावको भवति । एतदुक्तं भवति—यावति कर्मण्यपगते सम्यक्त्वं लभ्यते तावतो भूयः पल्योपमपृथक्त्वेऽपगते देशविरतो भवति । पृथक्त्वं द्विःप्रभृतिरानवभ्य इति । क्लिष्टेतरविशेषाच्च दुघाविभेव इति । चरणोपशम-क्षयाणामिति चारित्रोपशमश्रेणि-क्षपकश्रेणीनाम् । सागराणीति सागरोपमाणि । संख्येयान्यन्तरं भवन्ति । एतदुक्तं भवति—यावति कर्मणि क्षीणे देशविरतिरवाप्यते तावतः पुनरपि संख्येयेषु सागरोपमेष्वपगतेषु चारित्रं सर्वविरतिरूपमवाप्यते । एवं श्रेणिद्वये भावनीयमिति ॥३९०॥

एवं अप्परिवडिए संमत्ते देव-मणुयजंमेसु ।
अन्नयरसेढिवज्जं एगभवेणं च सव्वाइं ॥३९१॥

आगे बोधिके फलको दिखलाते हैं—

इस प्रकार अप्रतिपतित—निरन्तर अवस्थित रहनेवाले—गुणोंके प्रभावसे, बन्धके उत्तरोत्तर ह्रास (ह्रानि) से तथा पूर्वबद्ध कर्मके क्षयसे—संवर और निर्जरासे—अविनश्वर सुखसे युक्त मोक्ष होता है ॥३८९॥

इस अभिप्रायको आगे अन्य गाथा सूत्रके द्वारा पुष्ट किया जाता है—

सम्यक्त्वके प्राप्त हो जानेपर पल्योपमपृथक्त्वसे श्रावक हो जाता है, तत्पश्चात् चारित्रके उपशम व क्षयके संख्यात सागर होते हैं—संख्यात सागरोपमोंमें चारित्रका उपशम अथवा क्षय होता है ।

विवेचन—इसका अभिप्राय यह है कि जब जीवके संसार परिभ्रमणका काल उपार्धपुद्गल परावर्त मात्र शेष रह जाता है तब वह सम्यक्त्व ग्रहणके योग्य होता है, इससे अधिक समयके शेष रहनेपर जीव उस सम्यक्त्वके ग्रहण योग्य नहीं होता है । उसके योग्य हो जानेपर जीव जब कर्मोंकी स्थितिको उत्तरोत्तर हीन करते हुए उसे अन्तःकोड़ा-कोड़ी प्रमाण करके उसे भी पल्योपमके असंख्यातवें भागसे हीन कर देता है तब वह सघन राग-द्वेषस्वरूप ग्रन्थिको भेदकर उस सम्यक्त्वको प्राप्त करता है । इस सम्यक्त्वके प्राप्त हो जानेपर वह उक्त कर्मस्थितिके पल्योपमपृथक्त्वसे—दो पल्योपमोंसे लेकर नौ पल्योपमोंसे—हीन हो जानेपर श्रावक होता है । पश्चात् उक्त कर्मस्थितिके संख्यात सागरोपमोंसे हीन हो जानेपर उपशमश्रेणिपर आरूढ होकर औपशमिक चारित्रको प्राप्त करता है । फिर संख्यात सागरोपमोंसे हीन उक्त कर्मस्थितिके हो जानेपर वह क्षपक श्रेणिपर आरूढ होकर क्षायिक चारित्रको प्राप्त करता है ॥३९०॥

सम्यक्त्वके अवस्थित रहनेपर क्या-क्या प्राप्त हो सकता है, इसे आगे अभिव्यक्त करते हैं—

एवमप्रतिपतिते सम्यक्त्वे सति देव-मनुजजन्मसु चारित्रादेर्लाभः, उक्तपरिणामविशेषतः पुनस्तथाविधकर्मविरहादन्यतरश्रेणिवर्जमेकभवेनैव सर्वाण्यवाप्नोति सम्यक्त्वादीनीति ॥३९१॥

[1]यदुक्तं शाश्वतसौख्यो मोक्ष इति तत्प्रतिपादयन्नाह—

रागाईणमभावा जम्माईणं असंभवाओ य ।
अव्वाबाहाओ खलु सासयसुक्खं तु सिद्धाणं ॥३९२॥

रागादीनामभावाज्जन्मादीनामसंभवाच्च । तथा अव्याबाधातः खलु शाश्वतसौख्यमेव सिद्धानां इति गाथाक्षरार्थः ॥३९२॥

भावार्थमाह—

रागो दोसो मोहो दोसाभिस्संगमाइलिंग त्ति ।
अइसंकिलेसरूवा हेऊ वि य संकिलेसस्स ॥३९३॥

रागो द्वेषो मोहो दोषा अभिष्वङ्गादिलिङ्ग इति । अभिष्वङ्गलक्षणो रागः, अप्रीतिलक्षणो द्वेषः, अज्ञानलक्षणो मोह इति । [2]अतिसंक्लेशरूपास्तथानुभवोपलब्धेः । हेतवोऽपि च संक्लेशस्य,[3] क्लिष्टकर्मबन्धनिबन्धनत्वादिति ॥३९३॥

एएहमिभूआणं[4] संसारीणं कुओ सुहं किंचि ।
जम्मजरामरणजलं भवजलहिं परियडंताणं ॥३९४॥

एभी रागादिभिरभिभूतानामस्वतन्त्रीकृतानां संसारिणां सत्त्वानाम् । कुतः सुखं किंचित् ? न किंचिदित्यर्थः । किंविशिष्टानाम् ? जन्म-जरा-मरणजलं भवजलधिं संसारार्णवं पर्यटतां भ्रमतामिति ॥३९४॥

इस प्रकार देव व मनुष्य जन्मोंमें सम्यक्त्वके तदवस्थ रहनेपर जीव किसी एक श्रेणिको छोड़कर एक भवमें ही सबको—सम्यक्त्व, श्रुत, देशविरति और सर्वविरतिको पा लेता है ॥३९१॥

जिस शाश्वत सुखका पूर्वमें निर्देश किया गया है वह किनके किस प्रकारसे होता है, इसका आगे निर्देश किया जाता है—

रागादिकोंका सर्वथा अभाव हो जानेसे, जन्म-मरणादिकी सम्भावना न रहनेसे तथा सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंके हट जानेसे सिद्ध—कर्मोंसे विनिर्मुक्त—जीवोंके निश्चयसे वह शाश्वत सुख होता है ॥३९२॥

इसीको आगे स्पष्ट किया जाता है—

राग, द्वेष और मोह ये अभिष्वंग (आसक्ति) के हेतु हैं—राग आसक्तिस्वरूप, द्वेष वैरभावरूप और मोह अज्ञानस्वरूप है । ये स्वयं अतिशय संक्लेशरूप होते हुए उस संक्लेशके—अतिशय क्लिष्ट कर्मबन्धके—कारण भी हैं ॥३९३॥

इनसे अभिभूत (आक्रान्त) होकर जन्म, जरा व मरणरूप जलसे परिपूर्ण संसाररूप समुद्रमें पड़ते हुए—वहाँ परिभ्रमण करनेवाले संसारी जीवोंके वह सुख कहाँ किंचित् भी हो सकता है ? नहीं हो सकता । इसके विपरीत वे वहाँ सदा दुखी ही रहते हैं ॥३९४॥

---

१. अ तदुक्तं सास्वत । २. अ 'अतिसंक्लेशरूपास्तथानुभवोपलब्धेः हेतवोऽपि च' इत्येतावान् पाठः स्खलितोऽस्ति । ३. अ असंक्लेशस्य । ४. अ एएभिभूयाणं ।

एतदभावे सुखमाह—

रागाइविरहओ जं सुक्खं जीवस्स तं[1] जिणो मुणइ ।
न हि सन्निवायगहिओ जाणइ तदभावजं[2] सातं ॥३९५॥

रागादिविरहतो रागद्वेषमोहाभावेन । यत्सौख्यं जीवस्य संक्लेशवर्जितम् । तज्जिनो मुणति अर्हन्नेव सम्यग्विजानाति, नान्यः । किमिति चेन्न हि यस्मात्सन्निपातगृहीतः सत्येव तस्मिन् । जानाति तदभावजं सन्निपाताभावोत्पजम् । सातं सौख्यमिति । अतो रागादिविरहात्सिद्धानां सौख्यमिति स्थितं जन्मादीनामभावाच्चेति यथोक्तं तथावस्थाप्यते ॥३९५॥

तत्रापि जन्माद्यभावमेवाह—

दड्ढंमि जहा बीए न होइ पुण अंकुरस्स उप्पत्ती ।
तह चेव कम्मबीए भवंकुरस्सावि पडिकुट्ठा ॥३९६॥

दग्धे यथा बीजे शाल्यादौ । न भवति पुनरङ्कुरस्योत्पत्तिः शाल्यादिरूपस्य । तथैव कर्मबीजे दग्धे सति । भवांकुरस्याप्युत्पत्तिः प्रतिकुष्टा, निमित्ताभावादिति ॥३९६॥

जंमाभावे न जरा न य मरणं न य भयं न संसारो ।
एएसिमभावाओ कहं न सुक्खं परं तेसिं ॥३९७॥

जन्माभावे न जरा वयोहानिलक्षणा, आश्रयाभावात् । न च मरणं प्राणत्यागरूपम् तदभावादेव । न च भयमिहलोकादिभेदम्, निबन्धनाभावात् । न च संसारः, कारणाभावादेव । एतेषां जन्मादीनामभावात्कथं न सौख्यं परं तेषां सिद्धानाम् ? किन्तु[3] सौख्यमेव, जन्मादीनामेव दुःखरूपत्वादिति[4] ॥३९७॥

अव्याबाधमिति यदुक्तं तदाह—

अव्वाबाहाउ च्चिय सयलिंदियविसयभोगपज्जंते ।
उस्सुक्कविणिवत्तीइ संसारसुहं व सद्धेयं ॥३९८॥

उक्त राग, द्वेष एवं मोहके हट जानेसे जो जीवको सुख प्राप्त होता है जिन—राग-द्वेषके विजेता अरहन्त—ही जानते हैं। ठीक ही है, सन्निपात रोगसे ग्रस्त जीव उसके बने रहनेपर उसके दूर हो जानेसे प्राप्त होनेवाले सुखको नहीं जान पाता है—उसका अनुभव तो उस रोगके दूर हो जानेपर ही उसे हो सकता है ॥३९५॥

जिस प्रकार बीजके जल जानेपर अंकुरकी उत्पत्ति फिर नहीं हो सकती है उसी प्रकार कर्मरूप बीजके जल जानेपर—उसके आत्मासे पृथक् होकर निर्जीर्ण हो जानेपर—संसाररूप अंकुरकी उत्पत्ति भी निषिद्ध है—कर्मरूप निमित्तके न रहनेपर संसार-परिभ्रमण भी सम्भव नहीं रहता ॥३९६॥

जन्मका अभाव हो जानेपर न जरा (बुढ़ापा) सम्भव है, न मरण सम्भव है, न भय सम्भव है, और न संसार सम्भव है। इन जन्म, जरा, भय और संसारका अभाव हो जानेपर उन सिद्धोंके वह उत्कृष्ट—निर्बाध व अविनश्वर—सुख कैसे न होगा ? अवश्य होगा ॥३९७॥

---

१. अ जं । २. अ तयभावजं । ३. अ तेषां जन्मादीनाम् किं तु । ४. अ दुःखत्वादिति ।

अव्याबाधत एव अव्याबाधादेव सकलेन्द्रियविषयभोगपर्यन्ते अशेषचक्षुरादीन्द्रियप्रकृष्ट-रूपादिविषयानुभवचरमकाले[1] औत्सुक्यनिवृत्तेरभिलाषव्यावृत्तेः कारणात् । संसारसुखमिव श्रद्धेयम्, तस्यापि तत्त्वतो विषयोपभोगतस्तदौत्सुक्यविनिवृत्तिरूपत्वात्तदर्थं भोगक्रियाप्रवृत्तेरिति । उक्तं च—

वेणु-वीणा-मृदंगादिनादयुक्तेन हारिणा ।
श्लाघ्यस्मरकथाबद्धगीतेन स्तिमितं सदा ॥१॥
कुट्टिमादौ विचित्राणि दृष्ट्वा रूपाण्यनुत्सुकः ।
लोचनानन्ददायीनि लीलावन्ति स्वकानि हि ॥२॥
अंबरागुरु-कर्पूर-धूप-गन्धान्वितस्ततः ।
पटवासादिगन्धांश्च व्यक्तमाघ्राय निस्पृहः ॥३॥
नानारससमायुक्तं भुक्त्वान्नमिह मात्रया ।
पीत्वोदकं च तृप्तात्मा स्वादयन् स्वादिमं शुभम् ॥४॥
मृदुतूलीसमाक्रान्तदिव्यपर्यंकसंस्थितः ।
सहसांभोदसंशब्दं श्रुतेर्भयघनं[2] भृशम् ॥५॥

जिस प्रकार समस्त इन्द्रिय विषयोंके भोगके अन्तमें उत्सुकताके विनष्ट हो जानेसे संसारमें बाधा रहित सुखकी प्रतीति हुआ करती है उसी प्रकार कर्मके अभावमें उत्सुकताके दूर हो जाने-पर सिद्धोंके वह निर्बाध सुख उत्पन्न होता है जो पुनरागमन सम्भव न रहनेसे सदा ही अवस्थित रहता है, ऐसी श्रद्धा करना चाहिए ।

विवेचन—प्रकृत गाथामें उत्सुकताके नष्ट हो जानेपर कुछ समयके लिए संसारमें भी जो निर्बाध सुख प्राप्त होता है, उसका उदाहरण यहां सिद्धोंके शाश्वतिक सुखकी पुष्टिमें दिया गया है। उसकी पुष्टि टीकामें उद्धृत कुछ प्राचीन पद्योंके द्वारा की गयी है, जिनका अभिप्राय इस प्रकार है—प्राणी श्रोत्रइन्द्रियके वशीभूत होकर जब चित्ताकर्षक गानके सुननेके लिए उत्सुक होता है तब यदि उसे बांसुरी, वीणा एवं मृदंग आदिकी ध्वनिसे संयुक्त और प्रशंसनीय कामकथासे सम्बद्ध मनोहर गीत सुननेको मिल जाता है तब उसकी वह उत्सुकता शान्त हो जाती है, इस प्रकार कुछ समयके लिए वह निराकुल सुखका अनुभव करता है। इसी प्रकार मनुष्य जब चक्षु इन्द्रियके वशीभूत होकर रत्नमय भूमि आदिमें नेत्रोंको आनन्द देनेवाले अपने लीलायुक्त अनेक प्रकारके रूपोंको देखता है तब उसकी वह उत्सुकता समाप्त हो जाती है, इसलिए वह तबतक निर्बाध सुखका अनुभव करता है। घ्राण इन्द्रियके वशीभूत होकर वह अम्बर (वस्त्र) अगुरु, कपूर और धूप आदिकी गन्धसे युक्त होता हुआ जब सुवासित वस्त्रोंको अनेक प्रकारकी गन्धोंको भी सूंघता है तब उसकी उत्सुकता नष्ट हो जाती है, इसीलिए वह उतने समयके लिए निःस्पृह होकर निराकुल सुखका अनुभव करता है। वह रसना इन्द्रियके वश होकर जब अनेक रसोंसे युक्त भोजनको परिमित मात्रामें ग्रहण करके पानीको पीता है तथा उत्तम स्वादिष्ट लाडू आदिको चखता है तब उसकी आत्मा सन्तोषका अनुभव करती है। इस प्रकार वह तबतक निर्बाध सुख-का अनुभव करता है। स्पर्शन इन्द्रियके वश मनुष्य जब कोमल रुईसे भरी हुई गादीसे संयुक्त पलंगपर स्थित होता हुआ सहसा भयप्रद मेघकी गर्जनाके शब्दको सुनकर भयभीत हुई प्रिय

---

१. अ प्रकृष्टविषयानुभव । २. °अ °श्रुतेभयघनं ।

इष्टभार्यापरिष्वक्तः[1] तद्वतान्तेऽथवा नरः।
सर्वेन्द्रियार्थसंप्राप्त्या सर्वबाधानिवृत्तिजम् ॥६॥
यद्वेदयति संहृष्टं प्रशान्तेनान्तरात्मना।
मुक्तात्मनस्ततोऽनन्तं सुखमाहुर्मनीषिणः ॥७॥

इत्यादीति ॥३९८॥

संसारसुखमप्यौत्सुक्यविनिवृत्तिरूपमेवेत्युक्तमिह विशेषमाह—

इयमित्तरा निवित्ती सा पुण आवकहिया मुणेयव्वा।
भावा पुणो वि नेयं एगंतेणं तई नियमा ॥३९९॥

इयमिन्द्रियविषयभोगपर्यन्तकालभाविनी। इत्वरा अल्पकालावस्थायिनी। निवृत्तिरौत्सुक्यव्यावृत्तिः। सा पुनः सिद्धानां संबन्धिनी औत्सुक्यविनिवृत्तिर्यावत्कथिका सार्वकालिकी। मुणितव्या ज्ञेया, पुनरप्रवृत्तेस्तथाभावात्पुनरपि प्रवृत्तेः भूयोऽपि। नेयमिन्द्रियविषयभोगपर्यंतकालभाविनी, एकान्तेन सर्वथा निवृत्तिरेवौत्सुक्यस्य बीजाभावेन पुनस्तत्प्रवृत्त्यभावात् असौ सिद्धानां संबन्धिनी औत्सुक्यविनिवृत्तिः नियमादेकान्तेन निवृत्तिरेव ततश्च महदेतत्सुखमिति ॥३९९॥

उपसंहरन्नाह—

इय अणुहवजुत्तीहेउसंगयं हंदि निट्ठियट्ठाणं।
अत्थि सुहं सद्धेयं तह जिणचंदागमाओ य ॥४००॥

पत्नीसे आलिंगित होता है तब वह परिमित समयके लिए निराकुल सुखका अनुभव करता है। इस प्रकार सब (पाँचों) इन्द्रियोंके विषयोंको प्राप्त करके सब प्रकारकी बाधासे रहित हो जानेपर जिस निराकुल सुखका अनुभव मनुष्य करता है उसकी अपेक्षा मुक्तात्माके अनन्तगुणा सुख होता है। इसका कारण यह है कि संसारी प्राणीको अभीष्ट इन्द्रियविषयोंके उपभोगसे जो सुख प्राप्त होता है वह उन विषयोंके संयोग तक सीमित है, तत्पश्चात् उन अभीष्ट विषयोंका वियोग हो जानेपर वह पुनः उनकी प्राप्तिके लिए व्याकुल होता है। इस प्रकार संसारी जीवोंका वह सुख साता वेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंके उदय तक रहता है, पश्चात् वह नियमसे विनष्ट होता है। परन्तु समस्त कर्मोंसे निर्मुक्त हुए सिद्धोंका वह निर्बाध सुख अविनश्वर होकर अनन्तकाल तक रहता है ॥३९८॥

ऊपर संसारसुखको जो उत्सुकताकी निवृत्तिरूप कहा गया है उसके विषयमें आगे कुछ विशेषता प्रकट की जाती है—

सांसारिक सुखकी जनक यह जो उत्सुकताकी निवृत्ति है वह इत्वरा—विषयोपभोगके अन्त तक कुछ थोड़े समय तक ही रहनेवाली है, परन्तु सिद्धोंके सुखसे सम्बद्ध जो वह उत्सुकताकी निवृत्ति है वह यावत्कथिक—सदा रहनेवाली—जानना चाहिए। कारण यह कि सांसारिक सम्बन्धी वह उत्सुकता पुनः प्रवृत्त होती है, परन्तु यह सिद्धोंके सुखसे सम्बद्ध यह उत्सुकता नियमतः फिरसे प्रवृत्त नहीं होती, क्योंकि सिद्धोंके उस उत्सुकताका बीजभूत कर्म नष्ट हो चुका है। इसीलिए सिद्धोंके सुखको ही यथार्थ सुख समझना चाहिए ॥३९९॥

आगे इसका उपसंहार किया जाता है—

---

१. अ परिकृष्टस्त॰।

इय एवमुक्तेन प्रकारेणानुभवयुक्तिहेतुसंगतमिति—अत्रानुभवः संवेदनम्, युक्तिरुपपत्ति-र्हेतुरन्वय-व्यतिरेकलक्षणः, एभिर्घटमानकम्। हंदीत्युपप्रदर्शने। एवं गृहाण नानिष्ठितार्थानां सिद्धानामस्ति सुखं विद्यते सातम्। श्रद्धेयं प्रतिपत्तव्यम्। तथा जिनचन्द्रागमाच्चार्हद्वचनाद्वेति ॥४००॥

अधुना आचार्योऽनुद्धतत्वमात्मनो दर्शयन्नाह, अथवा प्रकरणविहितार्थं विशिष्टश्रमण-पर्यायप्राप्यं सत्क्रियया सर्वेषामासन्नीकृत्यात्मनोऽपराधस्थानमाशंक्याह—

जं उद्धियं सुयाओ पुव्वाचरियकयमइव समईए।
खमियव्वं सुयहरेहि तहेव सुयदेवयाए य ॥४०१॥

यदुद्धृतं सूत्रात्सूत्रकृतादेः कालान्तरप्राप्यं पूर्वाचार्यकृतं वा यदुद्धृतं अथवा स्वमत्या तत्क्षन्तव्यं श्रुतधरैस्तथैव श्रुतदेवतया च क्षन्तव्यमिति वर्तते ॥४०१॥

इति दिग्प्रदा नाम श्रावकप्रज्ञप्तिटीका समाप्ता[1]।

इस प्रकार कृतकृत्य हुए उन सिद्धोंका सुख अनुभव, युक्ति और अन्वय-व्यतिरेकरूप हेतुसे संगत है—घटित होता है तथा जिन-चन्द्रागम—सर्वज्ञ जिनप्रणीत परमागम—से जाना जाता है, ऐसी श्रद्धा करना चाहिए ॥४००॥

अब अन्तमें ग्रन्थकार अपनी निरभिमानताको प्रकट करते हुए, अथवा श्रमणपर्यायसे प्राप्य इस प्रकरणमें ग्रथित अर्थको सत्क्रिया द्वारा सबके निकट करके अपने अपराधस्थानकी आशंकासे यह कहते हैं—

इस श्रावक प्रज्ञप्ति ग्रन्थमें जो श्रुतसे उद्धृत किया गया है, अथवा पूर्वाचार्यकृत है, अथवा अपनी बुद्धिसे जो कहा गया है उसके विषयमें श्रुतके धारक—परमागमके ज्ञाता—तथा श्रुत-देवता भी क्षमा करे ॥४०१॥

---

१. प प्रति के अनुसार इसके आगे इस प्रति में 'कृतिः सितपटाचार्य जिनभद्र [द्र] पादसेवकस्याचार्यहरि-भद्रस्येति' यह वाक्य भी उपलब्ध होता है।

परिशिष्ट

१. गाथानुक्रमणिका



२. संस्कृतटीकान्तर्गतग्रन्थान्तरवाक्यानुक्रमणिका

इनके अतिरिक्त गाथा ९१ और ९३ की टीकामें क्रमसे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा या विद्वज्जुगुप्सा, परपाषण्डप्रशंसा और परपाषण्डसंस्तव इन सम्यक्त्वके अतिचारोंके स्पष्टीकरणमें जो कथाएँ दी गयी हैं वे किसी प्राचीन ग्रन्थसे लेकर दी गयी दिखती हैं। उनका सन्दर्भ अत्यन्त अशुद्ध दिखता है।

इसी प्रकार प्राणातिपातविरमण आदि व्रतोंके अतिचारोंके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए किसी प्राचीन आचारविषयक ग्रन्थसे 'तदत्रायं पूर्वाचार्योक्तविधिः' इत्यादि प्रकारसे सूचना करते हुए कुछ सन्दर्भ दिये गये हैं। यथा—

गाथांक	सन्दर्भकी सूचना
२५८	तदत्रायं पूर्वाचार्योक्तविधिः···
२८३	तत्र वृद्धसंप्रदायः···
२८५	तथा च वृद्धसंप्रदायः···
२८८	भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादेव अवसेयः। स चायम्···
२९१	इह च सामाचारी···
२९१	एत्था सामायारी···
२९१	× × × (मुहेण व अरिमाणेइ···)
२९१	एत्थ सामाचारी···
२९१	एत्थं वि सामायारी···
२९२	एत्थ पुण सामायारी····
३१९	सर्पोदाहरणेन विषोदाहरणेन च···
३२२	भावत्थो पुण इमो···
३२३	एत्थं सामायारी···
३२४	एत्थ भावणा···
३२६	एत्थ सामायारी····

□

३. मूल-गाथागत शब्दानुक्रमणिका (संस्कृत)

□

४. दिक्प्रदा-टीकान्तर्गत शब्दानुक्रमणिका

[प]

[ब]

[भ]



५. पाठान्तर

ग्रन्थकारके समक्ष कुछ पाठभेद भी रहे हैं। यथा—

गाथा ३११ में द्वारगाथा २९५ में उपयुक्त 'पंच' पदके स्थानमें 'किं च' पाठ-भेद इस प्रकार सुझाया गया है—पाठंतरओ इमा किंच ॥ इसे उक्त गाथा ३११ की टीकामें इस प्रकारसे स्पष्ट किया गया है—पाठान्तरमेवाथवा द्वारगाथायाम्। तत्रेदम् 'किंच' सव्वंपि भाणिऊणं इत्यादिग्रन्थान्तरापेक्षमप्यत्रेति।

इससे यह निश्चित प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थमें ग्रन्थान्तरगत अन्य भी कितनी ही गाथाओंको ग्रन्थनाम निर्देशके बिना सम्मिलित कर लिया गया है। उक्त द्वारगाथा (२९५) इसी प्रकार-की है।

इसी प्रकार टीकाकारके समक्ष भी मूलग्रन्थगत कुछ पाठभेद रहा है। उन्होंने गाथा २५४ में एक पाठभेद इस प्रकार प्रकट किया है—पाठान्तरं योगत्रिकविकल्पना विशुद्धिर्यस्मात् संगतार्थमेवेति। इस गाथामें मूलमें 'पवित्तीओ' पाठ है जो अर्थकी दृष्टिसे संगत नहीं प्रतीत होता। इसीलिए सम्भवतः टीकामें 'पवित्तीओ' पाठके स्थानमें 'निवित्तीओ' इस पाठान्तरकी सूचना करके अर्थकी संगति बैठायी गयी है।



६. मतभेद

मूल ग्रन्थकारके समक्ष कुछ मतभेद भी रहे हैं। यथा—

१. गाथा ३०१ में प्रथमतः यह निर्देश किया गया है कि व्यवहारसे साधु मोक्ष सहित पाँचों गतियों और श्रावक उस मोक्षके बिना चारों गतियोंमें उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् आगे वहीं 'चउ-पंचमासु चउसु य जहा कमसो' ऐसा निर्देश करके मतान्तरसे साधुके चौथी (देवगति) और पाँचवीं (मोक्षगति) इन दो ही गतियों में उत्पन्न होनेकी तथा श्रावकके चारों गतियोंमे उत्पन्न होनेकी सूचना की गयी है।

२. गाथा ३३३ में किन्हींके अभिमतानुसार गृहस्थके तीन प्रकारके प्रत्याख्यानको असम्भव कहा गया है। इस मतका निराकरण करते हुए आगे इसी गाथामें पन्नत्ती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) के अनुसार विशेष रूपसे उक्त तीन प्रकारसे तीन प्रत्याख्यानको सम्भव निर्दिष्ट किया गया है। इसपर आगे गाथा ३३४ में यह शंका उठायी गयी है कि तो फिर निर्युक्ति (प्रत्याख्याननिर्युक्ति) में अनुमतिका निषेध कैसे किया गया। इसका समाधान करते हुए वहींपर यह कहा गया है कि अनुमतिका निषेध वहाँ स्वविषयमें किया गया है। अथवा सामान्य प्रत्याख्यानमें उसका निषेध किया गया है, अन्यत्र तीन प्रकारसे तीन प्रकारका प्रत्याख्यान सम्भव है।

३. गाथा ३७८ में बारह प्रकारके गृहस्थधर्ममें गृहस्थके लिए अपश्चिम मारणान्तिकी सल्लेखनाके आराधनका विधान किया गया है। आगे गाथा ३८२ में किन्हींके अभिमतको दिखलाते हुए यह कहा गया है कि चूँकि उस सल्लेखनाका विधान बारह प्रकारके गृहस्थधर्मके अन्तर्गत नहीं किया गया है, इसलिए संयत (साधु) उसमें अधिकृत है, न कि गृहस्थ। इस अभिमतका निराकरण करते हुए आगे गाथा ३८३-३८४ में कहा गया है कि वह बारह प्रकारके गृहस्थधर्मके अनन्तर ही कही गयी है तथा उसका अतिचारसूत्र भी श्रमणोपासकपुरःसर कहा गया है, इसलिए उसमें गृहस्थ ही अधिकृत है, न कि संयत। बारह प्रकारके गृहस्थधर्मसे उसके पृथक् कहनेका अभिप्राय यह है कि बारह प्रकारके उस गृहस्थधर्मका परिपालन श्रावक जीवित रहते हुए बहुत समय तक करता है जबकि उस सल्लेखनाका आराधन उसके द्वारा मरणसमयमे किया जाता है, इसलिए वह आयुके प्रायः क्षीण होनेपर कुछ थोड़े ही समय रहती है।

इस प्रकारका मतभेद सम्भवतः वाचक उमास्वातिके समक्ष नहीं रहा।

टीकाकारके समक्ष मतभेद—

१. गाथा ४७ की टीकामे क्षायोपशमिकसे औपशमिकके भेदको दिखलाते हुए कहा गया है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमे उपशमप्राप्त मिथ्यात्वका प्रदेशानुभव होता है, पर औपशमिकमें वह नहीं होता। यहाँ मतान्तरको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि अन्य आचार्य उसके व्याख्यानमें यह कहते हैं कि श्रेणिमध्यगत उस औपशमिक सम्यक्त्वमे ही उक्त मिथ्यात्वका प्रदेशानुभव नहीं होता, किन्तु द्वितीयमें वह होता है। फिर भी उसमें सम्यक्त्व परमाणुओंके अनुभवका अभाव ही है, यह उन दोनोंमें विशेषता है।

२. गाथा २८५ की टीकामें वृद्ध सम्प्रदायके अनुसार यह मतान्तर व्यक्त किया गया है कि अन्य आचार्य उपभोग-परिभोगकी योजना कर्मपक्षमें नहीं करते हैं।

□

७. ग्रन्थोल्लेख

गाथा	ग्रन्थान्तर
३३३	पन्नत्ती (भगवती)
३३८	निर्युक्ति (प्रत्याख्याननिर्युक्ति)
३८४	अतिचारसूत्र (इसे स्पष्ट करते हुए टीकामें 'इमीए समणोवासएणं इमे पंचाइयारा जाणियव्वा····' इत्यादि सूत्रको उद्धृत किया गया है जो सम्भवतः उवासगदसाओ का हो सकता है ।

टीकामें—

गाथा	ग्रन्थान्तर
५२ व ९८	प्रज्ञापना
६१	आचारांग
६१	तत्त्वार्थसूत्र (वाचकमुख्येनोक्तम्)
७७	सिद्धप्राभृत
११५ व १८४	सूत्रकृतांग



८. पौराणिक उदाहरण

गाथा	उदाहरण
९१	पेयापेय (किसी सेठके दो बालक)
९३	राजा-अमात्य, विद्यासाधक श्रावक, श्रावकसुता, चाणक्य व सौराष्ट्र श्रावक।
११५	गाथापति सुतचोर ग्रहण-मोचन

टीका—

गाथा	उदाहरण
५०	अंगारमर्दक
७६	मरुदेवी व करकण्डु
८५	इन्द्रनाग
२६४	पिंगलस्थपति

